द्विजेन्द्रलाल राय और 'प्रसाद' के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन

[प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत]

●

शोध-प्रबन्ध

●

प्रस्तुतकर्ता
ब्रजकुमार मित्तल, एम० ए०

●

निर्देशक
डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

●

हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
● १९७१ ●

अपनी ओर से

मैंने बचपन में मंच पर 'दुर्गादास' नाटक देखा था। एम०ए० के पश्चात् जब पूज्यवर आचार्य डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी ने मेरे सामने यह विषय रखा तो मैं दुर्गादास के लेखक के प्रति एक आग्रह से भर गया था, साथ ही मुझे डर भी लगा था, क्योंकि बंगला के बंकिम, शरत्, रवीन्द्र और राय मेरे लिए नाममात्र ही परिचित थे। जब मैंने अपनी असमर्थता व्यक्त की थी तो पूज्य डा० साहब ने अपनी सहज प्रेरणा का बल देते हुए कहा था --"मेहनत करो बंगला भी आ जायगी।" इस एक प्रेरणा के भरोसे मैंने 'राय' और 'प्रसाद' का यह तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और बचपन का धुंधला-सा दुर्गादास निखर कर मेरे समक्ष आने लगा। इस अध्ययन में 'प्रसाद' पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त थी, लेकिन 'द्विजेन्द्रलाल राय' के विषय में शोध-स्तर की सामग्री का नितान्त अभाव था। इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति पूज्य गुरुदेव के निर्देश के द्वारा हुई। क्योंकि मैं जब भी कहीं उलझा वहीं मुझे उनके कुशल निर्देश ने स्पष्ट पथ दिखाया। इसीलिए आज यह कार्य इस रूप में प्रस्तुत हो सका। इस सन्दर्भ में मैं यही कहूंगा कि नौका के साथ-साथ जो किनारा चलता है, वही उस नाव की गति है, वही उसकी पतवार। मेरी समस्त भावनाएं साभार गुरुदेव की सदैव कृतज्ञ रहेंगी।

जब मैंने अपना यह अध्ययन प्रारम्भ किया था तो मेरे सामने कई पद्धतियां थीं, जैसे दोनों लेखकों के एक एक नाटक का अध्ययन, दोनों लेखकों के सम्पूर्ण नाटकों का अलग अध्ययन आदि। परन्तु ऐसा करने से उनके नाटकों का परिचय तो प्रस्तुत हो सकता, लेकिन इन दोनों लेखकों के वैचारिक परिवेश से हम बहुत कुछ अपरिचित रह जाते। अतः मैंने प्रथम तीन परिच्छेदों में उक्त दोनों लेखकों के युग और उनके विभिन्न वैचारिक सन्दर्भों-को

प्रस्तुत किया है । उसके पश्चात् अन्य परिच्छेदों में नाटक के मुख्य तत्त्वों के आधार पर दोनों लेखकों का अध्ययन किया है । मेरे इस तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य इन दोनों लेखकों में से किसी को उच्च या निम्न दिखाना नहीं, वरन् दोनों का सम्पूर्ण परिचय देना है । हिन्दी साहित्य में 'देव और बिहारी', 'सूर और तुलसी' एवं 'हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' की परम्परा प्रचलित है । मेरा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध भी इसी परम्परा की एक कड़ी के रूप में है । संसार में दो महान् कलाकार लगभग एक ही प्रकार के हों,यह बहुत बड़ी जिज्ञासा की बात है, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध इस जिज्ञासा को पूर्ण करने का प्रयास कहा जा सकता है ।

मैंने अपने इस शोध-प्रबन्ध में 'प्रसाद' और राय की उन रचनाओं को छोड़ दिया है,जो उनकी प्रयोग-कालीन अपरिपक्वता का परिणाम है । इस प्रकार 'प्रसाद' का 'सज्जन','कल्याणी-परिणय', 'करुणालय','प्रायश्चित' (१६१०-१६१३) राय की 'विरह' 'कल्कि अवतार' 'त्रस स्पर्श' (१८६५-१६००)रचनाओं को मैंने छोड़ दिया है,इसका कारण यह है कि इन रचनाओं का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।साहित्यिक-दृष्टि से इनमें प्रयोग-काल की अनेक कमजोरियां हैं । अत: इस अध्ययन के आधार के लिए ये बहुत उपयोगी नहीं हैं ।

जहां तक मुझे ज्ञात है, इस विषय पर अभी तक कोई शोध-कार्य नहीं हुआहै। बंगला -नाटकों का हिन्दी प्रदेश में पर्याप्त प्रचार है,अत: बंगला और हिन्दी के नाटककारों को लेकर अनेक दिशाओं में कार्य किया जा सकता था, परन्तु अभी तक विद्वान्-लेखक इस विषय में उदासीन हैं । हिन्दी और बंगला रंगमंच को लेकर कुछ उद्भावनाएं अवश्य हुई हैं, लेकिन उनको पर्याप्त नहीं कहा जा सकता । राय के विषय में हिन्दी में तो कुछ लिखा ही नहीं गया, बंगला में भी इस लेखक का उचित मूल्यांकन

नहीं हुआ । बंगला के सुकुमार सेन ,श्री कुमार चटर्जी तथा गोपाल चक्रवर्ती जैसे महान् लेखकों ने भी बड़े हल के रूप में राय का परिचय दिया है । इतिहास लिखते समय वे माईकेल मधुसूदन दत्त से 'तर्करत्न' दीनबन्धु मित्र , गिरीश घोष और द्विजेन्द्रलाल राय के नाम गिनाते हुए सीधे रवीन्द्रनाथ टैगोर पर रुके हैं । अत: बंगला के इतिहासों में भी राय सम्बन्धी सामग्री का नितान्त अभाव ही मिला है । स्वतन्त्र रूप से उनके नाटक-साहित्य तथा जीवन पर कुछ रचनाएं प्राप्त हुईं,जैसे डा० शान्तिकुमार दास गुप्त की 'मेवाड़ -पतनेर भूमिका' तथा 'बनफूल' की 'द्विजेन्द्र-दर्पण' आदि । परन्तु इस प्रकार की निम्नस्तरीय रचनाओं से शोध-कार्य में बहुत अधिक सहायता मिलने की आशा नहीं की जा सकती थी । हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई प्रकाशन ने द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के जो अनुवाद प्रस्तुत किए हैं, उनकी भूमिकाएं बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । उनसे मुझे बहुत सहायता मिली है

'प्रसाद' सम्बन्धी सामग्री के विषय में मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है,क्योंकि उन्हें हिन्दी साहित्य का केन्द्र माना जाता है । उन सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है । 'प्रसाद' के नाटकों पर जो कार्य माननीय आचार्य डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने किया, वह आने वाली पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय बन गया है । उनकी 'प्रसाद' के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' 'हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता ' स्कन्दगुप्त समीक्षा', 'चन्द्रगुप्त समीक्षा' ,'अजातशत्रु समीक्षा' आदि रचनाओं से मुझे जो सहायता मिली है साथ ही समय-समय पर मुझे आचार्य डा० शर्मा जी से जो निर्देश प्राप्त हुए हैं,उनसे मुझे अत्यधिक सहायता मिली है । अत: मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं । श्रद्धेय डा० दशरथ ओझा की शोधपूर्ण रचनाओं से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है । इसके लिए मैं उनका आभारी हूं । 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' जैसी पुस्तकों की रचना करके डा० ओझा ने हिन्दी नाटक [illegible] को एक नई दिशा देने का प्रयास किया है । हिन्दी-आलोचना-जगत् के विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में मान्य डा०

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', २० वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' जैसी उत्कृष्ट रचनाओं से मेरा जो पथ-प्रदर्शन हुआ, उसका प्रतिदान मेरे पास नहीं है ।

इस शोध कार्य में मुझे अग्रज डा० सुरेश सिन्हा तथा डा० सर्वजीत राय का जो स्नेह और सहयोग मिला, वह मेरे लिए सदैव एक स्मृति का सन्दर्भ रहेगा । अपने अग्रजों का यह स्नेह मेरे लिए अमूल्य निधि है ।

अपनी ओर से कुछ कहते हुए मुझे अनुज राजीव वार्ष्णेय का नाम याद आता है । इस नाम के साथ मेरा जो भावनात्मक सम्बन्ध है, वह किसी प्रकार की औपचारिकता की अपेक्षा नहीं करता । उनके उदार मन से उद्भूत प्रेरणाएं हर आड़े वक्त पर मेरे काम आई हैं । अत: मैं धन्यवाद जैसी कोई बात कहकर उस सम्बन्ध को औपचारिक बनाने की धृष्टता नहीं कर सकता ।

मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए आ पाया, इसका सारा श्रेय मेरे अग्रज श्री राजकुमार मित्तल को है तथा मेरे शोध-प्रबन्ध की पूर्णता का बहुत कुछ श्रेय अग्रज श्री जगेश्वरदास को । परिवार के सभी सदस्यों तथा सम्बन्धियों का स्नेह,सहयोग और शुभकामनाएं मेरे लिए प्रेरणादायक तत्व रहे हैं । इस सन्दर्भ में मां के आशीर्वाद को मैं भूल नहीं सकता । साथ ही इस शोध-कार्य में मेरे निकट और दूर रहने वाले मित्रों की स्नेहिल भावनाएं मेरे लिए एक महान् सम्बल रही हैं । मैं उन सभी का हृदय से आभारी हूं । कमला दीदी का अपार स्नेह और उनकी इस शोध-कार्य के लिए उत्सुकता मेरे लिए प्रेरणा-स्रोत रही है हिन्दी-विभाग के प्रतिष्ठित प्राध्यापक डा० मातावदल जायसवाल को हृदय से धन्यवाद देता हूं,जिन्होंने पग-पग पर मुझे आशा और बल दिया ।

उद्भावना-संघ का नाम इसलिए ले रहा हूं कि इस की स्वस्थ वाद-विवाद परम्परा से मैंने जो सीखा है,उसका प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मैंने पूर्ण उपयोग किया है ।

अपनी ओर से कुछ कहते समय एक उदार,स्नेह से भरी भव्य प्रतिमा मेरे समक्ष है । सच तो यह है कि मैंने जो कुछ भी किया वह सब कुछ इस प्रतिमा के पावन चरणों में बैठकर किया है । वात्सल्य और आशीर्वाद की भावना में कितना बल होता है, इसे मैं आज अनुभव कर रहा हूं । मैंने पूज्य मम्मी जी (श्रीमती डाक्टर वार्ष्णेय) को सदैव इस भव्य प्रतिमा के रूप में देखा है । मैं अपनी समस्त भावनाओं सहित सब कुछ उन्हीं के चरणों में अर्पित करता हूं । अत: अलग से कोई आभार -शब्द मेरे पास बचता ही नहीं ।

टंकण-कार्य में अनेक सुझावों के साथ मुझे जो सहयोग श्री रामहित त्रिपाठी ,हिन्दी टंकक ने दिया,उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूं ।

अन्त में पुन: एक बार मैं कहना चाहूंगा कि पूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा और स्नेह का प्रतिदान मेरे पास नहीं है । शब्दों में बांधकर उनके लिए कुछ भी कहते हुए मुझे ~~[illegible]~~ डर लगता है--

' क्या लै गुर संतोखिए, हौंस रही मन माहिं । '

उनकी सरल महानता के प्रति मेरे मन में जो अगाध श्रद्धा है, मैं उससे बंधकर मौन हो जाता हूं ।

१ जून,१९७१ ई०

(बृजकुमार मित्तल)

बृजकुमार मित्तल

विषयानुक्रमणिका

परिच्छेद ० १ ०

पृष्ठभूमि

* भारतीय- नवजागरण
* बंगला का नव जागरण : राय के नाटक
* हिन्दी प्रदेश का नव जागरण : 'प्रसाद' के नाटक
* निष्कर्ष

'नवीन चेतना की [illegible] ही आधुनिक हिन्दी-साहित्य का आधार है ।'

परिच्छेद ० १ ०

पृष्ठभूमि

भारतीय-नवजागरण

भारत के इतिहास में अनेक बार ऐसे मोड़ आए हैं, जब कि सारा देश किसी एक नवीन दिशा में चल पड़ा । अनेक जातियों के सम्पर्क से यहाँ की पारम्परिक-व्यवस्था में अनेक परिवर्तन आए । एक ऐसा ही ऐतिहासिक परिवर्तन अंगरेजों के सम्पर्क से भी आया । यह परिवर्तन एक साथ सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में आया । इस परिवर्तन के काल-निर्धारण की विकट समस्या को हल करते हुए माननीय डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने तर्कपूर्ण स्थापना की है,--" केवल राजनीतिक दृष्टि से नहीं, अन्य कई कारणों से भी १८५७ एक महत्वपूर्ण तिथि है । .... चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना, जिससे हमारा सीधा सम्बन्ध है, १८५७ के समीप ही अर्थात् १८५४ में ही प्रस्तुत की गई थी । साहित्य में इन सब नवीनताओं की प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी और १८५७ में ही विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई । .... भारतेन्दु का जन्म भी १८५७ के समीप १८५० में हुआ था । अस्तु, इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यदि, स्थूल रूप से, भारतेन्दु की जन्म-तिथि अर्थात् १८५० से हिन्दी साहित्य के नवीन या आधुनिक युग का सूत्रपात मान लिया जाय तो कोई विशेष हानि नहीं होगी ।"[1] हिन्दी के

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : "आधुनिक हिन्दी साहित्य", प्रयाग, १९५४, पृ० २ ।

नवयुग का अर्थ भारत का नवयुग है । अंगरेज बंगाल में आए, वहाँ का शासन हस्तगत किया और धीरे-धीरे हिन्दी-प्रदेश की ओर बढ़े । प्लासी (१८५७) बक्सर (१७६४) की लड़ाइयों के पश्चात् वे लगभग समस्त उत्तरी भारत के शासक बन गए । दिल्ली की युगों पुरानी सत्ता अंगरेजों के हाथ में चली गई । अत: हिन्दी-प्रदेश का नवजागरण एक प्रकार से समस्त भारत का ही नवजागरण है । विद्वान् लेखक ने एक दूसरी जगह कहा है, 'भारतवर्ष के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसी शताब्दी में भारतीय साहित्य का पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा से सम्पर्क स्थापित हुआ और फलत: उनमें प्राचीनता से पार्थक्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा ।'[1] भारतवर्ष का सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक दृष्टि से जन-जीवन प्राचीनता के दबाव में सड़ रहा था । लोग उस सड़न को किसी तरह सहन करके जी रहे थे । अंगरेजों के सम्पर्क से हमारे अन्दर एक चेतना का उदय हुआ, जिसके कारण सभी क्षेत्रों में परिवर्तन लाने के लिए हम प्रयत्नशील हुए । जिन परिस्थितियों में हमारे अन्दर नवीन-चिन्तन का उदय हुआ वे ऐतिहासिक रूप में एक लम्बे युग की देन थी । उनपर विचार किए बिना हम किसी भी परिवर्तन की दिशा को ठीक से नहीं समझ सकते ।

अकबर के युग में भारत एक शासन-सूत्र में बंध गया था । अपनी कुशल उदारवादी नीति के कारण अकबर ने भारत पर सफल शासन किया । लेकिन अकबर के उत्तराधिकारी एक के पश्चात् एक भारत की केन्द्रीयहीनता के जिम्मेदार हैं । इनमें जहांगीर, शाहजहां यद्यपि अकबर की ही तरह उदार एवं दूरदर्शी नहीं थे, फिर भी इन्होंने किसी तरह इस देश को बिखरने नहीं दिया। अनेक कीमती भवनों के निर्माण तथा लगातार युद्धों के कारण भारतवर्ष की

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : '२० वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नए सन्दर्भ', इलाहाबाद, १९६६, पृ० ६ ।

आर्थिक स्थिति दिनोंदिन गिर रही थी । पतन की इस कहानी का वास्तविक प्रारम्भ औरंगजेब के दिल्ली आगरा की गद्दी पर बैठने के साथ(१६५८ई०)होता है । अपनी व्यक्तिगत विचारणाओं और नीतियों के कारण इस शासक को मुगल सल्तनत के पतन का कारण ठहराया जा सकता है । इसके दो कारण हैं -- एक तो इसने भारत को 'हिन्दू और मुसलमान' इन दो खेमों में बांट दिया, दूसरे अविश्वासी स्वभाव के कारण यह कोई कुशल उत्तराधिकारी मुगल सल्तनत नहीं दे सका । केन्द्र की स्थिति बिगड़ जाने से देश की आर्थिक स्थिति गिरने लगी तथा विघटन के तत्व सक्रिय होने लगे । इस आन्तरिक कमजोरी का लाभ उठाकर जहां अनेक क्रूर आक्रान्ता आए और भारत को लूट कर ले गए ।औरंगजेब के पश्चात् दिल्ली की गद्दी पर बहादुरशाह(१७०७-१७१२), जहांदारशाह(१७१२-१७१३)फर्रुखसियर (१७१३-१७१९ई०), मुहम्मदशाह (१७१९-४८ई०) जैसे एक-से-एक निकम्मे लोग बैठे और इनमें प्रत्येक अपनी कमजोरियों के कारण सल्तनत की पतन की कहानी में एक विकृत-स्थिति जोड़कर चला गया । इन सब के शासनकाल में भारत के अन्दर राजनैतिक विघटन हो चुका था ।यहां की अर्थव्यवस्था बिगड़ चुकी थी, सब ओर अराजकता व्याप्त थी, व्यक्तिगत सुरक्षा का भय सब में व्याप्त था । प्रान्तों की स्वतन्त्र सत्ता उभर रही थी । लोगों में केन्द्र के प्रति कोई श्रद्धा या विश्वास नहीं रह गया था । भारत का सांस्कृतिक,धार्मिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था । जन-जीवन में एक जड़ता व्याप्त हो चुकी थी ।भारत की इस अधोगति का जिम्मेदार बहुत कुछ औरंगजेब ही था। औरंगजेब की हिन्दू-राजपूत विरोधी नीति,राजधानी में शासन सत्ता का [illegible] केन्द्रीयकरण और राजकीय आय का आलीशान इमारतें बनवाने में अंधाधुंध व्यय,सुदूर स्थित आश्रितों या विजित राजाओं और नवाबों पर नियन्त्रण का अभाव,यातायात के साधनों की [illegible] और ध्यान न देना ,रईसों तथा कुलीनों और [illegible] की अधोगति, सुसंगठित पुलिस और निष्पक्ष एवं शक्तिशाली न्यायाधीशों का अभाव, [illegible],दूसरे का राज्य हड़प लेने की प्रवृत्ति और फलत: निरर्थक युद्धों में राजकीय आय का [illegible] , और तज्जनित सैनिक तथा आर्थिक,

शक्ति का ह्रास आदि कुछ बातें ऐसी थीं, जिन्हें औरंगजेब अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गया और जिनके फलस्वरूप राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत जो एक विशाल देश है, जो मुगलकाल में एक सूत्र में बंधा हुआ था, परिस्थितियों के कारण मुगल-शासन-काल में ही बिखर गया। और देश का यही बिखराव भारत में अंग्रेजी-शासन की स्थापना का प्रमुख कारण बना। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत की परतंत्रता मुगलों के पतन और उनकी संकुचित-नीति का ही परिणाम है।

उत्तर भारत में मराठों और मुगलों का पतन एक नवीन युग के प्रारम्भ का संकेत था। जाट और सिक्ख भी शक्ति-हीन हो चले थे। राजपूत अपनी राज्य-सीमाओं में संकुचित हो गए थे। राजनीतिक रूप से दिल्ली (उत्तरी भारत) की स्थिति दयनीय हो चली थी। गद्दी के लिए युद्ध और बाह्य आक्रमणों के कारण यहां का सामाजिक और आर्थिक जीवन बिखर गया था। समाज में अनेक कुप्रथाएं जैसे पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह, धार्मिक संकुचन जातिवाद, सती प्रथा, पुरोहितवाद, छुआ-छूत, तीर्थ यात्रा, धार्मिक अंधविश्वास आदि व्याप्त हो गई थीं। जन-जीवन में घोर निराशा और अनास्था आ गई थी। सांस्कृतिक दृष्टि से यह जड़ता और निराशा का काल था। लगातार मन्दिर टूटने और तीर्थ स्थानों के उजड़ने से भगवान की सर्वशक्तिमत्ता में भी हमारा अगाध विश्वास नहीं रह गया था। धार्मिक दृष्टि से भारतीय जनता (हिन्दू और मुसलमान) दो खेमों में बंट गई थी, जिनके बीच औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों ने स्पष्ट खाई निर्मित कर दी थी। मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता के फलस्वरूप हिन्दुओं में भी कट्टरपन आने लगा था। मुसलमानों की धर्म-सम्बन्धी धारणाएं अत्यन्त संकुचित थीं, जिसकी प्रतिक्रिया में हिन्दू भी संकुचित होने लगे थे। यहां तक कि न्याय का विचार भी जातिवाद और धार्मिकता के आधार पर होने लगा था। अतः धार्मिक संकुचन का

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : "आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका", प्रयाग, १९५२, पृ० ३३।

विष प्रशासन को कमजोर करने लगा था । अंग्रेजों के आगमन से पूर्व ही इतनी कुप्रथाओं और कमजोरियों में जीने वाला भारतीय जन-समाज निष्प्राण, स्पन्दनहीन और निर्जीव हो चला था । उसकी आत्मनिर्णय-शक्ति, तथा ~~मनोबल-चुक-गया-था~~ मनोबल चुक गया था । वह केवल इशारे पर चलने वाला पशु-मात्र बचा था ।

ऐसी स्थिति में बंगाल में अंग्रेजों ने अपने शासन की स्थापना की । बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रदेश भी भारत के अन्य भागों की तरह या कहिए उससे भी कहीं अधिक कमजोर एवं निष्क्रिय थे । क्योंकि इन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति के कारण यहां आए दिन अकाल पड़ा करते थे । अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि के कारण यहां की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी । अनेक कुप्रथाएं और अन्धविश्वास समाज में घुन की तरह लगे हुए थे । अत: १७७२ ई० तक वारेनहेस्टिंग्ज ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा के दीवानी अधिकार प्राप्त कर लिए । इन प्रदेशों की अनियन्त्रित और निकम्मी सेना प्लासी (१७५७) तथा बक्सर (१७६४) के दो महत्वपूर्ण युद्धों में अंग्रेजों से हार गई । परिणामत: अंग्रेज जो व्यापार करने भारत में आए थे, दिल्ली की गद्दी का स्वप्न देखने लगे । १८०३ में शक्तिशाली मराठा सरदार दौलतराव सिन्धिया से अंग्रेजों ने दिल्ली को जीत लिया । तात्कालीन मुगल बादशाह शाहआलम अंग्रेजों से पेंशन पाने लगा और उत्तरभारत का एक प्रसिद्ध मुगल-शासन प्राय: समाप्त हो गया ।

अंग्रेज एक चुस्त, चालाक, कार्य-कुशल, सुसंगठित और उत्साही जाति थी । इसका सम्पर्क भारतीय जन-जीवन के लिए एक अनोखी घटना थी । भारत के लोग पुरातन पंथी, परम्परावादी और धार्मिक वृत्ति के थे । उनमें किसी नवीन व्यवस्था के विषय में चिन्तन की शक्ति नहीं थी । अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत के इस परम्परागत जीवन में परिवर्तन आ गया । भारत में एक युग से केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के अभाव के कारण अराजकता व्याप्त हो गई थी । यहां का जीवन अस्त-व्यस्त था । जन-मानस में भय, संत्रास, और

कुण्ठा भर गई थी । बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक झगड़ों के बीच कोई भी अपने-आपको सुरक्षित नहीं समझ रहा था । ऐसे समय में अंगरेजों की सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली को लोगों ने एक वरदान समझा । दु:ख की बात है कि अंगरेजों से भारत की जनता ने जैसी आशा की थी, ठीक उसके विपरीत हुआ । उन्होंने भारत पर अधिकार करते ही सबसे पहले उन तथ्यों पर विचार किया, जिनके आधार पर वे भारत का अधिक-से-अधिक शोषण कर सकते थे । सबसे पहले उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करते ही वहां के पारम्परिक जीवन में परिवर्तन कर दिया । वहां के जमींदारों से भूमि छीन कर उसका ठेके पर नीलाम उठाना प्रारम्भ कर दिया । इससे जमींदार और उनके आश्रित लोग एकदम बेकार हो गए । दूसरे, कम्पनी के तैयार माल से वहां के बाजारों को भर दिया । अत: उनकी प्रतियोगिता में स्थानीय कुटीर उद्योग-धन्धे बेकार हो गए । लाखों लोग जो कपड़े, चमड़े और लकड़ी का काम करते थे बेकार हो गए । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शान्तिप्रिय जीवन इस नई व्यवस्था में रोटी और अस्तित्व के लिए तिलमिलाने लगा । भूखे और परेशान लोग गांव छोड़कर शहरों की ओर भागने लगे । गावों की पारम्परिक व्यवस्था टूट गई । कलकत्ता एक बहुत बड़ा औद्योगिक केन्द्र बन गया था । अत: काम की तलाश में लाखों लोग यहां आकर बस गए । इसी प्रकार अन्य बड़े शहरों में भी बाहर से आकर लोग रहने लगे । इन लोगों ने कम्पनी के सम्पर्क में कार्य करना प्रारम्भ किया । कुछ लोग कारखानों में काम करने लगे और कुछ कम्पनी के सहायक बनकर उसके विश्वासपात्र बन गए । इस प्रकार एक नई समाज-सत्ता का रूप सामने आया । शहर में आया यही जन-समूह मध्यम वर्ग के रूप में उभरा । भारतीय स्वतन्त्रता की चेतना का इतिहास इसी मध्यम वर्ग का इतिहास है ।

१८५७ की असफल क्रान्ति के पश्चात् अंगरेजों ने उत्तर-भारत का शोषण और तेजी से करना प्रारम्भ कर दिया । यद्यपि यह क्रान्ति राष्ट्रीय चेतना का स्पष्ट प्रमाण थी, फिर भी भारत में इतनी

शक्ति नहीं थी कि अंगरेज जैसी व्यवस्थित जाति से टक्कर ले सके । उत्तरभारत को शुद्ध आर्थिक दृष्टि से शासित करने में अंगरेजों ने अनेक ऐसे नियम बनाए, जिनसे यहां के राजे-महराजे,जमींदार,तथा जनसाधारण सभी शंकित हो उठे । उत्तराधिकार ,राजनीतिक अधिकार जमींदारी,राज्यों के प्रशासन आदि के सम्बन्ध में ऐसे नियम बनाए कि एक-के-बाद-एक छोटे-छोटे राज्य उनके अधिकार में आने लगे । कुछ छोटे-छोटे राज्यों ने इसका विरोध किया,जैसे फांसी और सतारा ने । परन्तु इससे शक्तिशाली अंगरेजों की नीति में कोई परिवर्तन न हुआ । फलत: बंगाल की तरह ही हिन्दी-क्षेत्र के जीवन में भी एक बड़ा परिवर्तन हु आया । यहां के आर्थिक जीवन में भी यह परिवर्तन देखा जा सकता था,क्योंकि कम्पनी के माल के सामने कुटीर उद्योगों के माल का स्तर गिरने लगा । अंगरेजों ने टैक्स आदि के नियमों के द्वारा भी भारतीय उद्योगों को समाप्त करने का प्रयास किया। उत्तरभारत की सभी प्रमुख शक्तियां--जाट,राजपूत,सिक्ख,मुगल सभी दृष्टियों से पतित हो चुकी थीं । अत: अंगरेजों का विरोध खुले रूप में न हो सका । भारत की जनता अंगरेजों की छत्र-छाया में एक सुव्यवस्थित शासन की राह देख रही थी, परन्तु उसे उनसे शोषण ,ताड़ना,अपमान,अन्याय भर मिला । ऐसी स्थिति में प्रतिक्रिया के रूप में जन-जीवन एक नई चिन्तन-प्रक्रिया के अन्तर्गत आया । इस चिन्तन में जीवन के अस्तित्व,व्यवस्था,न्याय,और स्वाभिमान के प्रश्न थे । भारत की १८५७ की क्रान्ति सामूहिक रूप से स[illegible],राजनीतिक, धार्मिक,सांस्कृतिक चिन्तन -धारा का ही परिणाम थी । इसके कारणों की खोज करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रान्ति की पृष्ठभूमि में मुगलों की अव्यवस्था,शक्तिहीनता,विलासिता तथा अंगरेजों की आर्थिक ,सामाजिक, धार्मिक,सांस्कृतिक नीतियां हैं । अंगरेजों की शासन-व्यवस्था ने एक ओर तो यहां की प्राचीन जीवन-व्यवस्था को तोड़ा,दूसरी ओर भारतीयों को हीन समझ कर उनमें स्वाभिमान की भावना के प्रति आग्रह पैदा किया । अत: क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों रूपों में अंगरेजी शासन भारत के लिए नवीन

इसी नवीन चेतना के फलस्वरूप साहित्य में एक सर्वथा नए युग का प्रारम्भ हुआ । तर्कशीलता,संघर्ष,मानवतावाद,साम्यता,व्यक्ति-परकता आदि के आधार पर साहित्य की सृष्टि होने लगी । प्राचीन रीति-बद्धता का युग इस नवीन जीवन-पद्धति के आगमन के साथ ही समाप्त हो गया। अत: हम देखते हैं कि समस्त भारत अंगरेजों के सम्पर्क से नवचेतना का अनुभव करने लगा । यह चेतना,समाज,धर्म,राजनीति और संस्कृति सभी की नवीन परिभाषा लेकर उपस्थित हुई । इसी नवीन चेतना की अभिव्यक्ति आधुनिक युग के साहित्य का आधार है । द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर'प्रसाद' के साहित्य में इस नवीन-चेतना के स्वरूप को कलात्मक स्तर पर स्वीकार किया गया है ।

बंगाल का नव-जागरण : राय के नाटक

बंगाल अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सदैव ही शान्ति-प्रिय एवं कला-प्रिय प्रदेश रहा है । भारत का उत्तरी पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र सदा युद्ध की सम्भावनाओं से घिरा हुआ प्रान्त रहा, इसके विपरीत बंगाल लगभग उन सभी आक्रमणों के प्रभावों से अछूता रहा जो समय-समय पर दिल्ली और व उसके आस पास हुए । इससे यहाँ का रहन-सहन,जन-जीवन विशेष ढंग का हो गया है । एक बंधा-बंधाई व्यवस्था में जीना,परम्पराओं से बेहद प्यार करना, कलात्मक सौन्दर्य से लगाव रखना,यहाँ की प्रमुख विशेषताएँ हैं । युद्ध-हीन लम्बी अवधि में यहाँ के लोग कुछ आलसी और विलासी भी हो गए थे । यहाँ पर एक युग से किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । अत: यहाँ की चेतना में जड़ता आ गई थी । चेतना की यह जड़ता अंगरेजों के सम्पर्क में झनझना उठी । यहाँ के सामाजिक,राजनीतिक,धार्मिक,सांस्कृतिक एवं पारिवारिक क्षेत्रों में ऐसा परिवर्तन अचानक आया जिसकी यहाँ के लोगों को कल्पना भी नहीं थी । अत: बंगाल की नवचेतना वहाँ के पारम्परिक लम्बे जीवन की एक अभूतपूर्व घटना ही कही जायगी ।

बंगाल एक ऐसा प्रदेश है, जहाँ अनेक प्राकृतिक प्रकोपों के कारण जन-जीवन बड़ा दूभर था । जमींदारों के शोषण,अकाल,अतिवृष्टि,

महामारी आदि के कारण यहाँ का जन-साधारण बड़ा दु:खी था । फिर भी यहाँ का दु:खी साधारण वर्ग अपनी परम्पराओं को सिर पर लादे शान्ति से जी रहा था । यहाँ के लोगों को कला और ईश्वर से बहुत स्नेह रहा है । अंग्रेजों ने बंगाल को अपने हाथों में लेते ही सबसे प्रथम यहाँ की पारम्परिक कृषि-व्यवस्था को बदल डाला । अपने लाभ के लिए उन्होंने जमींदारों को जमीन से अलग कर दिया और जमीन को लगान पर उठाने लगे । कृषि के इस नए ढंग से बंगाल की सामाजिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा । गांव में रहने वाले वह जमींदार और किसान जो कृषि से सम्बन्धित थे, एकदम बेकार हो गए । गांव की प्राचीन जीवन-पद्धति का अन्त हो गया । समाज में एक अव्यवस्था फैल गई । जमींदार और किसान का भावुक सम्बन्ध टूट गया । इससे दोनों ही वर्गों को दु:ख हुआ । इस नई व्यवस्था से गावों के रहने वालों के समक्ष अस्तित्व की रक्षा का विकट प्रश्न आया । इस प्रश्नचिन्ह के साथ लोग गांव छोड़कर शहरों की ओर भागे । जीवन और सम्मान बचाने के लिए जन-जीवन में संघर्ष की भावना का उदय हुआ । इस प्रकार कहा जा सकता है कि यद्यपि इस नए कानून से बंगाल के सामाजिक जीवन में बिखराव आया, परन्तु समाज में एक नए संघर्ष के सम्मुख खड़े होने का उत्साह भी आया । दायरों में बंधे बंगाल के सामाजिक जीवन को इस नई व्यवस्था ने एक नए संघर्ष के क्षितिज पर लाकर खड़ा कर दिया । स्थान-स्थान से लोग कलकत्ता की ओर चले । यह एक विशाल शहर बनने लगा । औद्योगिक केन्द्र होने के कारण यहाँ अनेक लोगों को अनेक तरह के काम मिले और इस शहर में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो एक नवीन व्यवस्था के अन्दर नए ढंग से रहने लगा । यही वर्ग मध्यम वर्ग के नाम से जाना जाता है ।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि बंगाल राजनीतिक दृष्टि से भारत के केन्द्र दिल्ली से कुछ अलग ही रहा है । जिन दिनों दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेशों में मराठों, [illegible], जाटों की हलचल थी उस

समय बंगाल अपनी आन्तरिकता में शान्त और स्थिर था । इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि यह प्रदेश निष्क्रिय,शक्तिहीन एवं जड़ हो गया था । सेना में शौर्य का अभाव हो चला था । युद्ध-कौशल का प्रश्न ही नहीं उठता था । समाज में अनेक कुप्रथाएं तथा सड़ी-गली परम्पराएं जीवित थीं । ऐसे कमजोर प्रान्त को अंग्रेजों की एक व्यापारी कम्पनी ने बिना किसी संगठित शक्ति के ही जीत लिया । इतिहास की यह एक अनोखी घटना है कि सम्पूर्ण बंगाल मुट्ठी भर अंग्रेजों से मात खा गया । इसका स्पष्ट कारण यहां का राजनीतिक पतन रहा होगा ।

कुछ भी हो,यद्यपि अंग्रेजों के आगमन से बंगाल की राजनीति में एक परिवर्तन आया, यही परिवर्तन यहां के सोए हुए जीवन के लिए जागृति का संदेश बन गया । नई [illegible]जनीतिक-व्यवस्था के सम्पर्क से लोगों को प्रशासन का ठीक ज्ञान हुआ और प्राचीन राजनीतिक-व्यवस्था की निर[illegible] विश्वास हो गया । छोटी-छोटी रियासतों के कुप्रबन्ध का अन्त हो गया और बंगाल एक विशाल प्रान्त के रूप में उभर कर सामने आया । प्रथम बार यहां के लोगों को एकता की शक्ति का आभास हुआ । इस राजनीतिक टूट फूट से जो एक नया सा[illegible]जिक रूप हमारे सामने आया उसमें एक ऐसा उदार-वादी वर्ग था, जो प्राचीन जीवन-पद्धति को छोड़कर नवीन चेतना के प्रभाव में नए तर्कशील संघर्षपूर्ण,परिश्रमी जीवन को अधिक महत्व देता था । इस वर्ग में व्यक्ति का, समाज का, जीवन का , धर्म का नया अर्थ समझने की इच्छा थी, युगानुरूप जीवन को ढालने का प्रयास था और जीवन सुविधाओं की खोज थी । इसी को हम मध्यमवर्ग कह सकते हैं । बंगाल का यह वर्ग थोड़े ही दिनों में कम्पनी का आवश्यक अंग बन गया । इस वर्ग की लाभ-हानि का प्रश्न कम्पनी के लाभ-हानि से जुड़ा हुआ था, अतः इसकी पूरी सहानुभूति कम्पनी के साथ थी ।

अंग्रेजों के सम्पर्क से पूर्व [illegible] नहीं,समस्त भारत में सांस्कृतिक एकता व्याप्त थी । यद्यपि हमारी-संस्कृति,जीवन का एक

शाश्वत स्पन्दन रही है, इसमें युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन होते रहे हैं, इसीलिए हमारे आदर्श हमारी आध्यात्मिकता और रहन-सहन समय-समय पर बदलते रहे हैं। युगानुकूल परिवर्तन भी हमारी संस्कृति का एक विशिष्ट तत्व रहा है। परन्तु बहुत दिनों तक पराधीनता की छाया में पड़े-पड़े हमारी चेतना में जंग लग गया था। बंगाल तो राजनीतिक दृष्टि से और भी अधिक शिथिल प्रान्त रहा है, अत: यहां के जीवन की सांस्कृतिक चेतना भी कुण्ठित हो गई थी। लोगों में जीवन का अर्थ समझने का कोई उत्साह न था। विश्व के बदलते हुए सन्दर्भों से उनका कोई सम्पर्क नहीं था। आत्म-सम्मान और शौर्य की भावनाओं का कहीं नाम नहीं था। सांस्कृतिक जड़ता के इस युग में अंग्रेजों ने बंगाल की स्थिति का पूरा लाभ उठाया। कारखानों और उद्योगों में यहां के लोगों का पशु की तरह उपयोग करना प्रारम्भ किया। यहां के लोगों को हीन, निकम्मे और मेधाहीन समझा। ऐसी स्थिति में जीवित रहने वालों में किसान, मजदूर और निम्न वर्ग के लोग थे। परन्तु कभी-कभी उच्चवर्ग के लोगों को भी अंग्रेजों की कटुता से अपमानित होना पड़ता था। धीरे-धीरे समाज में इस बात को समझा जाने लगा कि अपनी संस्कृति, अपने गौरव और अपने इतिहास को भुलाकर हम एक विदेशी जाति से अपमानित हो रहे हैं। इस चेतना ने दो काम किए-- एक तो बंगाल के लोगों में आत्म-सम्मान की भावना का उदय , जिससे प्राचीन जड़ता का समापन हो गया, दूसरे उनका ध्यान भारत के प्राचीन गौरव की ओर गया , जिससे प्राचीन भारत के पुनर्मूल्यांकन की भावना का उदय हुआ। इस प्रकार अंग्रेजों की अव्यावहारिक नीति की प्रतिक्रिया में भारत-संस्कृति का उत्थान-भाव जगा।

भारत एक धर्मप्रधान देश रहा है। धर्म इस देश के लोगों के लिए केवल जीवन के निर्देशों का संकलन मात्र न होकर पूजा का विषय रहा है, कदाचित् इसका कारण यह है कि भारत की सामाजिक-व्यवस्था में धर्म का सम्बन्ध महात्माओं और वैरागियों का रहा है, अत: उनके प्रति जो आस्था

श्रद्धा समाज में रही है,वही धर्म को प्राप्त हुई है । यद्यपि धर्म जीवन की सुविधाओं की खोज है,लेकिन ऐतिहासिक प्रवाह में इसका अर्थ बदलता रहा है । अंगरेजों के भारत-आगमन से पूर्व भारतीय धर्म और धार्मिकता की स्थिति बड़ी सोचनीय हो गई थी । समाज में विकृत वर्ण-व्यवस्था के कारण जातिवाद का विष फैल गया था । ईश्वर,देवी-देवता, पैगम्बर,इन सबको जीवन का नियामक समझकर लोग निष्क्रिय हो गए थे । धर्म में वाह्याचार, आडम्बर,और दिखावा आ गया था । मन्दिर और मस्जिद,पापों के केन्द्र बन गए थे । मुल्ला -मौलवी और पुजारी मनमाना भोग-विलास करने लगे थे । धर्म के नाम पर समाज का एक वर्ग श्रेष्ठ और एक निकृष्ट समझा जाने लगा था । रूढ़ियों के आधार पर धर्म की व्याख्या निश्चित हो गयी थी । तात्पर्य यह है कि धर्म जो हमारा पथ-निर्देशक था,समाज के लिए एक अटूट बन्धन बन गया । अंगरेजों के आगमन से हमारे सामाजिक जीवन में जो परिवर्त आया,उसके कारण धर्म की नई परिभाषा भी स्वीकृत होने लगी । वर्ण-व्यवस्था को ठेस पहुंची । रूढ़ियों को ढोना असम्भव हो गया । धार्मिक पूजा-पाठ और नियमों का यथारूप निर्वाह करना असम्भव हो गया । बंगाल का धार्मिक परिवेश इस नए सन्दर्भ में एक नया रूप लेकर सामने आया, जिसमें उदारता की प्रधानता थी ।

बंगाल में प्रारम्भ से ही आर्थिक असन्तुलन की स्थिति रही है । इसका कारण यह रहा कि यहां जमींदार और किसान इन वर्गों का भेद सदैव रहा है । जमींदार लोग एक क्षेत्र के सर्वेसर्वा होते थे । उनकी आय बहुत अधिक होती थी,उनका रहन-सहन भी आपेक्षतः ऊंचा होता था । अतः समाज में उनकी प्रतिष्ठा भी अधिक थी । बंगाल की ही नहीं, समस्त भारत की अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित थी । भारत में दो ही स्पष्ट वर्ग थे-- जमींदार,ताल्लुकेदार,राजा,साहूकार आदि एक वर्ग(उच्चवर्ग) के लोग होते थे,और किसान,मजदूर,आदि दूसरे वर्ग(निम्नवर्ग) के लोग होते थे ।

बंगाल अधिक परम्परावादी प्रान्त होने के नाते इस रोग से अधिक पीड़ित था । यहां या तो बहुत ऊंचा वर्ग था या फिर बहुत नीचा । अंग्रेजों के सम्पर्क से समाज की आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो गया । गांव की प्राचीन व्यवस्था टूट गई । न जमीदार अपनी उच्चता बनाए रख सके और न किसान ही अपने प्राचीन रूप में रह सके । जीवन-रक्षा के लिए दोनों वर्गों के लोग शहर की ओर चले । यहां आकर लोगों को एक नई प्रकार की जीवन-पद्धति को स्वीकार करना पड़ा । शहर में आए लोगों में से कुछ नेतो कल-कारखानों में काम करना प्रारम्भ कर दिया, कुछ ने कम्पनी के साथ मिलकर व्यापार करना शुरू किया और कुछ लोगों ने ठेकेदारी, कारीगरी, दुकानदारी आदि का काम अपनाया । इन सभी वर्गों के लोगोंने नई जीवन-पद्धति को अपनाया । इन सभी वर्गों के लोगों की जीवन-पद्धति लगभग समान थी । इनकी जीवन-दृष्टि उदार, चेतना व्यावहारिक तथा [illegible] विकसित थी । ये लोग किसी भी आवश्यक विचार को ग्रहण करने को तैयार थे । इन्हीं को मध्यमवर्ग के लोग कहा जाता है ।

अंग्रेजों के सम्पर्क से बंगाल की प्राचीन जीवन-पद्धति का अन्त हो गया । सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक स्थितियों में जो परिवर्तन हुआ, उससे एक ऐसे मध्यमवर्ग का उदय हुआ जो एक ओर तो प्राचीन रूढ़ियों से ग्रस्त जीवन-पद्धति को छोड़ चुका था । इसे प्राचीन बन्धनों, परम्पराओं और रीतियों में बहुत विश्वास नहीं था । दूसरे जो अंग्रेजों की नीति को समझकर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करना चाहता था । इस मध्यम वर्ग की यह दोहरी चेतना एक प्रकारसे बंगाल का पुनर्जागरण ही कहा जायगा, क्योंकि यह वर्ग अपने प्राचीन गौरव को सामने रखकर समाज की [illegible] को समाप्त करना चाहता था । इस वर्ग के अन्दर जीवन के उचित मूल्य की मांग थी । अंग्रेजों के सम्पर्क से यह वर्ग इस बात को पहिचान चुका था कि समाज में व्यक्ति का क्या स्थान है । समता की क्या कीमत है । इस प्रकार इस वर्ग ने [illegible] कुरीतियों के विरोध में अनेक व्यावहारिक [illegible] प्रारम्भ किए, जैसे विधवा-विवाह, एक विवाह,

छुआछूत का विरोध । जातिव द को समाप्त करनेकेप्रयास किए । समाज में स्त्री-शिदाा,अछूत-शिदाा आदि का प्रचार किया । र [illegible] दौत्र में [illegible],देश-प्रेम, देश-स्वतन्त्रता,भावात्मक एकताआदि पर बल दिया । सांस्कृतिक दौत्र में प्राचीन गौरव-ग्रन्थों के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास किया तथा भारतीय-संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करने का स्तुत्य कार्य किया । इसी प्रकार धार्मिक दौत्र में धर्म की सही व्याख्या करने का प्रयत्न किया । प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों को अस्वीकृत करते हुए धर्म के एक उदार रूप को समाज के समदा रखा । धार्मिक-समन्वय का प्रयास किया । जो धार्मिक बन्धनों समाज को जकड़े हुए थे, वे सब निरर्थक सिद्ध किए गए । अन्त में आर्थिक दौत्र में साम्यवाद पर बल दिया गया । अंग्रेजों की शोषणकारी नीति के विरुद्ध आवाज उठाई । औद्योगिक क्रान्ति में वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हुआ और धन के उचित वितरण का नारा सामने आया । यह सब कुछ हुवा। मध्यम वर्ग ने इन सभी दौत्रों में जिस सुधार की आवश्यकता पर बल दिया उसका उद्देश्य एक नए समाज की स्थापना करना था । यह नया समाज विश्व की बदलती हुई [illegible] [illegible] का परिणाम था । अंग्रेजों के सम्पर्क से बंगालियों ने युरुप की अनेक परिवर्तित परिस्थितियों का [illegible] प्राप्त किया । अत: उनके अन्दर भी एक समूल-परिवर्तन की भावना का उदय हुआ । राजाराम [illegible], सुरेन्द्रनाथ बनर्जी,ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि ने सामाजिक दौत्र में इस बहुमुखी चेतना का प्रसार किया । उन्होंने अनेक प्रयास किए,जिससे समाज के अन्दर चेतना आए । रामनारायण "तर्करत्न" दीनबन्धु मित्र,माइकेल मधुसूदनदत्त,गिरीश घोष, तथा द्विजेन्द्रलाल राय ने [illegible] के माध्यम से समाज को जगाने का प्रयास किया ।

बंगाल के नव-जाग [illegible] का भारत के आधुनि[illegible] [illegible] से गहरा सम्बन्ध है । विज्ञान के विकास का सारे विश्व के इतिहास में [illegible] स्थान है । बंगाल में अंग्रेजों की अनेक [illegible] स्थापनाएं हुईं,जिसके कारण यहां

के पारम्परिक जीवन में युगान्तर उपस्थित हुआ । साथ ही १८००ई० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना भी यहाँ के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है । नवीन जीवन-पद्धति का परिचय बहुत कुछ इसी कालेज की स्थापना का परिणाम है । ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रशासनिक कार्यों के लिए कर्मचारियों (क्लर्कों) की आवश्यकता थी । अत: इस उद्देश्यपूर्ति के लिए शिक्षा के प्रसार का कार्य अंग्रेजों ने संभाला । यद्यपि अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीयों को शिक्षा देकर जागृत करना नहीं था, फिर भी शिक्षा के प्रसार से भारतवासी संसार की बदलती हुई नवीन परिस्थितियों और विचारणाओं से परिचित हुए । औद्योगिक स्थापनाओं से बंगाल की प्राचीन जीवन-पद्धति टूट गई । अत: एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो प्राचीनता से वैचारिक रूप में तो जुड़ा हुआ था, परन्तु व्यावहारिक रूप में उसमें एक नवीन जीवन-दृष्टि का विकास हो चुका था । इस वर्ग के पास धर्म, संस्कृति, समाज, वर्ग आदि की नई परिभाषा थीं ।

बंगाली भाषा-विभाग के अन्तर्गत फोर्ट विलियम कालेज में कोई विशेष भाषा-विकास नहीं हो सका । वैचारिक क्रान्ति का प्रभाव बंगाल के उन लोगों पर धीरे-धीरे पड़ रहा था, जो बंगाल के [illegible] विकास के कारण अपना व पुरातन जीवन छोड़ चुके थे । इस वर्ग में वकील, क्लर्क, कर्मचारी, ठेकेदार, छोटे-छोटे व्यापारी आदि थे । इस वर्ग को ही बंगाल का सर्वाधिक चेतन वर्ग कहा जा सकता है । नवीन शिक्षा-पद्धति और औद्योगिक विकास का इस वर्ग से अविच्छिन्न सम्बन्ध है ।

भारत में अंग्रेजों की धार्मिक नीति तटस्थ कही जा सकती है, फिर भी उन्होंने इसाई पादरियों को संरक्षण दिया । पादरियों ने भारत की अज्ञानता और गरीबी का लाभ उठाकर यहाँ के लोगों का धर्म-परिवर्तन करने की धारणा के के अन्तर्गत जन-सेवा प्रारम्भ की । परन्तु बंगाल में जन-जीवन की चेतना के फलस्व[illegible] अनेक समाज-सुधारकों ने पादरियों के इस कार्य को विफल कर दिया । इतना अवश्य हुआ कि इस धार्मिक संघर्ष में

हिन्दू धर्म की अनेक विगलित रूढ़ियों की ओर जन-साधारण का ध्यान गया। साथ ही सामाजिक कट्टरता में भी लोच आई।

प्रेस की स्थापना के कारण भी शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ। वैचारिक आदान-प्रदान के लिए वातावरण बनाने में प्रेस-स्थापना का अत्यधिक महत्व है। प्रेस के कारण ही कलकत्ता से बंगाल का सर्वप्रथम समाचार-पत्र 'दिगदर्शन' डा० मार्शमैन के प्रयत्न से प्रकाशित हुआ। प्रेस के कारण बंगाल एक बार एक प्रान्त के रूप में बंध गया। बंगाल की वैचारिक क्रान्ति के इतिहास में जहां कालेज की स्थापना, औद्योगिक स्थापनाओं का विशेष महत्व है, वहां प्रेस की स्थापना का इन सबसे अधिक महत्व माना जा सकता है, क्योंकि प्रेस के द्वारा एक ओर तो साहित्य की भाषा का स्वरूप निश्चित हुआ, दूसरे साहित्य के लिए नए वैचारिक आयाम भी खुले।

बंगाल में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना, प्रेस और समाचार-पत्रों का प्रारम्भ, औद्योगिक-विकास और शिक्षा के प्रसार के कारण एक नितान्त पीढ़ी का जन्म हुआ। इस पीढ़ी में वे लोग थे जो अंग्रेजों की नीति का रहस्य समझते थे। इनकी शोषण और सांस्कृतिक विनाश की नीति में भारत के भविष्य की जो कल्पना निहित थी, उसको भी इस पीढ़ी के लोग समझते थे। अतः विकास के इन सब आयामों का प्रभाव इस प्रदेश के लोगों पर दो प्रकार का पड़ा एक तो प्रदेश के अनेक महान् [illegible] ने अंग्रेजों की नीति का अर्थ लोगों को समझाया। इसी के फलस्वरूप अनेक सामाजिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, जिनके माध्यम से भारतीय संस्कृति का अर्थ समझा जाने लगा। ब्रह्म समाज की स्थापना इस दिशा में एक ठोस कदम माना जायगा। इस संघ ने धर्म, संस्कृति आदि के नए एवं उपयोगी अर्थ समाज को समझाने का प्रयास किया। प्राचीन कठोर वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद, अन्धविश्वास, रूढ़ियों के विरोध में प्रबल स्वर उठाया गया। राष्ट्र-प्रेम, देश-प्रेम, आत्मगौरव जैसी शाश्वत वस्तुओं की खोज

की गई । राजाराम मोहन राय, विद्यासागर, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आदि प्रभृति सुधारकों ने सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सुधार करने के प्रयास किए ।

बंगला रंगमंच का प्रादुर्भाव इन्हीं सुधारवादी विचार-धाराओं के प्रभाव में हुआ । रंगमंच की स्थापना का कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु नाटकों के विषय के रूप में बंगाल की युगीन-स्थिति को ग्रहण किया गया । बंगाल का 'नील दर्पण' नाटक (१८६०) प्रथम ऐसी रचना है, जिसमें प्रथम बार अंगरेजों की शोषण -प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया गया था[१] । इसमें नील की खेती के सन्दर्भ में अंगरेजों के प्रशासन का स्पष्ट वर्णन नाटकीय-स्तर पर किया गया है । इस प्रकार के नाटक की रचना का सीधा और स्पष्ट अर्थ था कि १९ वीं शताब्दी का बंगला साहित्य (विशेषकर नाटक-साहित्य) वहां की स्थितियों को स्पष्ट करने का उत्तरदायित्व पूरा करने लगा था । अत: अनेक ऐसी रचनाएं सामने आई जिनमें बंगला-समाज भारत-देश, अंगरेजी -प्रशासन की व्याख्या की गई थी ।

समाज-सुधार और राष्ट्रीय -उत्थान के इस साहित्यिक आन्दोलन में द्विजेन्द्रलाल राय एक विशिष्ट व्यक्तित्व को लेकर बंगला -साहित्य में अवतरित हुए । गिरीश घोष के पश्चात के रंगमंच को राय का इतिहास माना जाता है । उन्होंने एक परिहास(फार्स) नाटक कल्कि अवतार' (१८९५) से अपने नाटक का जीवन प्रारम्भ किया । इस नाटक का बहुत अधिक महत्व नहीं, क्योंकि यह केवल एक प्रयोग मात्र था । इसी प्रकार 'विरह' (१८९७) 'त्र्यहस्पर्श' (१९००) भी इसी प्रकार की प्रायोगिक रचनाएं हैं । इनका भी केवल ऐतिहासिक महत्व ही हो सकता है ।

---

१ "इनका नाटक प्रथम नाटक 'नील दर्पण' १८६० में [illegible] राष्ट्रीय नाटक था । इस नाटक ने बंगाल में तो तूफान खड़ा कर ही दिया था, भारत के अन्य भाग भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे ।"
--डा० सत्येन्द्र : 'बंगला [illegible] का संक्षिप्त इतिह[illegible]
[illegible]

उनका प्रथम महत्वपूर्ण नाटक 'पाषाणी' (१६०१) था । इस नाटक में काव्य का प्रयोग किया गया है । एक नारी के द्वन्द्वात्मक रूप को प्रदर्शित करने के लिए नाटक की काव्य-शैली अत्यन्त उपर्युक्त एवं प्रभावशाली है, परन्तु इस नाटक का मंचीकरण नहीं हो सका । क्योंकि यह सम्पूर्ण काव्यात्मक था । राय का सर्वप्रथम गम्भीर नाटक 'राणा प्रताप सिंह' (१६०४) है तथा इसी भाव-धारा पर आधारित 'दुर्गादास' (१६०६) नाटक लिखकर उन्होंने बंगला नाटक-साहित्य और रंगमंच के क्षेत्रों में अपना स्थल बनालिया । इन दोनों नाटकों में किसी एक सुदृढ़ राष्ट्र की खोज का प्रयास दीख पड़ता है । वीर दुर्गादास की अवतारणा के पीछे भी यही अवधारणा है कि भारत उत्तर से दक्षिण तक एक राष्ट्रीय -भावना में बंध सके । इसके पश्चात् रा य ने कुछ अन्य ऐति-[illegible] नाटकों की रचना की, जिनमें व्यक्ति प्रधानता देखी जा सकती है, जैसे 'नूरजहाँ', 'मेवाड़-पतन', [illegible], 'चन्द्रगुप्त', 'सिंहल-विजय', 'रुस्तमे सोहराब', 'ताराबाई' आदि इनकी रचना १६१०ई० तक हुई । इन सभी [illegible] में भारतीय संस्कृति की अनेक रूढ़ियों की ओर संकेत किया गया है तथा भारतीय-समाज में लगी परम्पराओं के कीड़ों को समाप्त करने का प्रयास भी है । इन नाटकों में एक ओर राष्ट्र-प्रेम का उत्कट आग्रह गोविन्दसिंह, विजय सिंह और ताराबाई सत्यवती के रूप में पाया जाता है, [illegible] और [illegible] मानवतावाद के [illegible] उदार भाव का चरम मानसी, [illegible], [illegible] आदि के रूप में । राय अपने इन ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से व्यक्तित्व-प्रधान नाटकों की एक परम्परा लेकर आए । इन नाटकों में 'नूरजहाँ', 'शाहजहाँ', 'महावत खाँ', 'गोविन्द सिंह', मानसी जैसे विशेष व्यक्तित्व दीख पड़ते हैं ।

उपर्युक्त [illegible] के पश्चात् उनका पौराणिक नाटकों का काल आता है । १६११ में उन्होंने 'सीता', 'भीष्म' नामक [illegible] नाटक लिखे, जिनमें भारतीय संस्कृति का गौरव सीता, राम, भीष्म, व्यास के रूप में [illegible] है । इन नाटकों में कुछ ऐसे व्यक्तित्वों को प्रस्तुत किया

गया जो अपने-आप में सम्पूर्ण, विशिष्ट एवं आकर्षक हैं, जैसे भीष्म, सीता, व्यास आदि ।

अपने अन्तिम दिनों में राय ने कुछ प्रभावशाली सामाजिक नाटक भी लिखे हैं, जैसे 'बंगनारी', 'परपारे' इनका सफल मंचीकरण भी हुआ । १६१२ की ये रचनाएं समाज की पतनोन्मुख स्थिति को प्रस्तुत करती है । इनमें सरयू और देवेन्द्र की छटपटाहट तथा महिमारंजन और उपेन्द्र की निष्ठुरता को आमने-सामने रखकर लेखक ने यह बताने का प्रयत्न किया कि जब तक समाज का प्रत्येक वर्ग शिक्षित, पुष्ट एवं कर्तव्यनिष्ठ नहीं होगा, तब तक
तक देशोद्धार की बात नहीं सोची जा सकती । ये दोनों ही रचनाएं समस्या-प्रधान हैं । 'बंगनारी' में नारी सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों को रेखांकित किया गया है साथ ही धन के असन्तुलित बटवारे के परिणामों को भी प्रकाशित किया गया । 'परपारे' में दो स्त्री रूपों (वधू एवं वेश्या) का मार्मिक चित्रण है । उन्हीं के माध्यम से उस युग के समाज में नारी के स्थान को भी दिखाया गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राय ने अपने युग की सम्पूर्णता को अपने ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक नाटकों में उतारने का स्तुत्य प्रयास किया । राय की रचनाओं का [illegible] महत्व भी है, क्योंकि साहित्य में ये रचनाएं शिल्प और विषय दोनों दृष्टियों से नवीन युग का समारम्भ करती हैं । उनसे पूर्व नाटकों के विषय और शैली पर अनेक परम्परा का प्रभाव बना हुआ था । गिरीश घोष तक 'यात्रा' लोक-नाटक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । राय के नाटक बंगला-रंगमंच के साथ ही हिन्दी-रंगमंच (हिन्दी प्रदेश) में भी प्रसिद्ध हो गए । व अतः स्वाभाविक रूप से उनका प्रभाव उन सभी रचनाओं में देखा जा सकता है, जो उस युग में अवतरित हुई । 'प्रसाद' जैसे महान कलाकार ने भी किसी न किसी रूप में राय की कला और अनुभूति को स्वीकार किया है ।

हिन्दी प्रदेश का नव जागरण : 'प्रसाद' के नाटक

जब बंगाल में अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ तो हिन्दी प्रदेश इस नवीन सम्पर्क से अलग अपनी राजनीतिक-परिस्थितियों में उलझा हुआ था । हिन्दी-प्रदेश की यह तटस्थता बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सकी । क्योंकि बंगाल से बिहार, दिल्ली (हिन्दी प्रदेश) तक आने में अंग्रेजों को अधिक समय नहीं लगा । प्लासी के युद्ध (१७५७) के पश्चात् (१८०३) तक उनके शासनान्तर्गत दिल्ली और आगरा भी आ गए । अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था का लक्ष्य था अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करना । इसके लिए दो प्रकार की नीतियां उन्होंने अपनाई । एक तो ऐसे राजनैतिक कानून बनाए गए, जिनके कारण एक-के-बाद-एक हिन्दू राज्य उनके साम्राज्य के अन्तर्गत आने लगे । दूसरे व्यापारिक क्षेत्र में उन्होंने ऐसे कर आरोपित किए, जिनसे देशी-माल का बाज़ार गिरने लगा और धीरे-धीरे भारतीय ग्रामीण उद्योग ठप्प होने लगे । इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का प्रभाव हिन्दी प्रदेश के निवासियों के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन पर पड़ने लगा । अंग्रेजों के सम्पर्क से एक ओर तो वे समस्त परिस्थितियां उत्पन्न हुईं जिनके कारण भारतीयों को एक नवीन व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव होने लगी । दूसरे उनके सम्पर्क से उनके अन्दर एक नवीन जीवन-पद्धति, नवीन चेतना, नवीन कार्य-क्षमता का उदय हुआ । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी प्रशासन हमारी नवचेतना का कारण है और स्वतन्त्रता उसका परिणाम है ।

यद्यपि बंगला-प्रदेश की नवचेतना का उदय भी अंग्रेजी प्रशासन का परिणाम ही थी और हिन्दी-प्रदेश की नवचेतना भी । परन्तु फिर भी इन दोनों प्रदेशों की क्षेत्रीय स्थितियों की भिन्नता के कारण इस नवचेतना के कारण और स्वरूप में थोड़ी भिन्नता स्वाभाविक थी । बंगाल की सामाजिक स्थिति अंग्रेजों के सम्पर्क से पूर्व बहुत ही परम्परावादी थी । जब कि हिन्दी प्रदेश [illegible] में उलझा हुआ था । यहां के [illegible]

युद्ध बहुत दिनों से अनेक शक्तियों के उत्थान-पतन के रूप में चल रहे थे। मुगलों के वंश में उत्तराधिकार की अनिश्चितता के परिणामस्वरूप आए दिन गद्दी के लिए गृह-युद्ध चलता था, अतः उत्तरी भारत की इस प्रमुख शक्ति का रुतबा लगभग (औरंगजेब के पश्चात्) समाप्त हो चुका था। मराठों, जाटों और राजपूतों का लगभग पतन ही हो चुका था। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी प्रदेश की ऐसी केन्द्रीय हीन राजनीतिक परिस्थितियों में यहाँ की सामाजिक स्थिति भी विकृत हो गई थी। अंगरेजों ने हिन्दी-प्रदेश के इस राजनीतिक बिखराव और सामाजिक अचेतन का लाभ उठाकर इस क्षेत्र पर सहज ही अधिकार कर लिया।

अंगरेजी प्रशासन से पूर्व हिन्दी प्रदेश की सामाजिक परिस्थितियों के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि यह प्रदेश बंगाल की तरह नहीं था। यहाँ पर मुसलमानों के पतित प्रशासन के कारण अनेक मान्यताएँ-कुरीतियाँ प्रचलित हो गई थीं। अनेक वाह्य आक्रमणों के कारण यहाँ का अपार धन लूट लिया गया था। आए दिन युद्धों के कारण समाज के प्रत्येक वर्ग में एक संत्रास, एवं भय व्याप्त था। लोग रोज रोज के युद्धों से ऊब चुके थे। सामाजिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। वर्ण व्यवस्था और भी अधिक कड़ी हो गई थी। मुसलमानों के धार्मिक हस्तक्षेप के कारण हिन्दुओं की धार्मिक उदारता भी समाप्त हो गई थी। समाज में बाल विवाह का प्रचार था, इसका कारण यह था कि मुसलमानों ने हिन्दू-स्त्रियों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे नारी-समाज को चहारदीवारी में बन्द होना पड़ा। सतीत्व की सुरक्षा के लिए समाज में पर्दा प्रथा और बाल-विवाह का प्रचार हुआ। राजपूतों ने तो उसकी मर्यादा की रक्षा के लिए लड़कियों की जन्म के साथ ही हत्या करनी प्रारम्भ कर दी थी। इस तरह की निष्ठुर परम्पराओं के प्रचार का कारण मुसलमानों की पतित मनोवृत्ति ही थी। खान-पान, छुआ-छूत, सती-प्रथा, वैवाहिक संकुल जैसी विगलित परम्पराओं का जन्म हुआ।

मुगल-काल में ही हिन्दू-समाज उपर्युक्त अनेक रूढ़ियों और कुरीतियों का शिकार हो चुका था । अंग्रेजों के सम्पर्क से पूर्व हिन्दी-प्रदेश का जन-जीवन एक प्रकार से निराश ,श्रीहीन,वैभव-हीन,चिन्तन हीन ही कहा जायगा । इसी समाज का सम्पर्क अंग्रेजों से हुआ तो अनेक परिवर्तनों की सम्भावनाएं सामने आईं । अंग्रेजों ने यहां के प्रशासन को अपने हाथ में लेते ही अनेक ऐसे कानून लागू किए जिससे इस क्षेत्र के पारम्परिक जीवन में अवरोध उत्पन्न हो गया । गांव के कारीगर और व्यापारी बेकार हो गए थे । कुछ इसी प्रकार की स्थिति बंगाल में भी उत्पन्न हुई थी,परन्तु वहां पर कृषि-सम्बन्धी जमींदार और किसान इस वर्ग में अधिक थे । यही वर्ग शहरों की ओर आया और इस प्रकार प्राचीन संयुक्त परिवारों की प्रथा टूट गई । एक सर्वथा नए प्रकार के जीवन का प्रारम्भ हुआ जिसमें हर तथ्य को उदारता से स्वीकार किया जाने लगा । औद्योगिक-क्रान्ति के कारण कल-कारखानों में काम करने वाला श्रमिक वर्ग भी शहरों में रहने लगा । यह वर्ग प्राचीन सामाजिक बन्धनों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था । वैचारिक दृष्टि से इस वर्ग के लोग उदार थे । इनके ऊपर अंग्रेजी रहन-सहन कार्य-पद्धति,वेश-भूषा आदि का प्रभाव पड़ने लगा था । एक वर्ग ऐसा भी था,जो प्राचीन युग की सीमा को किसी भी मूल्य पर लांघना नहीं चाहता था । पैतृक जीवन-पद्धति को लेकर जीने वाले इस विचारधारा के लोग अंग्रेजों की हर वस्तु से घृणा करते थे । ये लोग धर्म-कर्म में गहरा विश्वास रखते थे । १८५७ की क्रान्ति में बहुत कुछ इसी वर्ग का हाथ था । हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजों के सम्पर्क से दो-महत्वपूर्ण स्पष्ट वर्ग सामने आए-- एक वह जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उदार वादी था । दूसरा वह जो परम्परावादी था । इसी उदारवादी वर्ग से नवीन साहित्य का सम्बन्ध है ।

हम बंगाल की स्थिति पर विचार कर चुके हैं । नवाबी शासन से किस प्रकार अंग्रेजी -शासन में राजनीतिक परिवर्तन हुए,इस तथ्य पर भी पहले प्रकाश डाला जा चुका है । इस सन्दर्भ में हिन्दी-प्रदेश की

राजनीतिक-स्थिति का सिंहावलोकन भी आवश्यक है, क्योंकि इससे यहां के साहित्यिक नव-जागरण का गहरा सम्बन्ध है। मुगल-शक्ति का ह्रास हो जाने से छोटी-छोटी रियासतें स्वतन्त्र हो गई थीं। उनमें कुशासन और अव्यवस्था के कारण अराजकता फैली हुई थी। भारत का यह क्षेत्र जो अकबर और शाहजहां के युग में एकता के सूत्र में बंधा था, तात्कालिक स्थिति में बिखर गया। अंगरेजों के आगमन से इन रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता को आघात पहुंचा। उनमें से अनेक रजवाड़े तो बिना किसी हस्तक्षेप के अंगरेजों के अधीन हो गए, परन्तु कुछ ने झांसी, सितारा आदि इस राजनीतिक परिवर्तन को अपना अपमान समझा और अंगरेजों का विरोध किया। यह विरोध एक प्रकार से स्वतन्त्रता की प्राप्ति का स्वर था, परन्तु इसमें संकुचित भावना निहित थी। राष्ट्रीयता का इस युग में पूर्ण अभाव था। हिन्दी प्रदेश की छोटी-छोटी रियासतों से सम्बन्धित इन लोगों का १८५७ की क्रान्ति में विशेष हाथ रहा है।

मध्य युग की भारतीय संस्कृति में अनेक विकृतियां आ गयी थीं, उसकी उदारता, उसकी समन्वयशीलता आबद्ध हो गई थी। इसके कारणों को हम प्रस्तुत कर सकते हैं। बंगाल में भी यह सांस्कृतिक ठहराव देखा जा सकता था। हमारा प्राचीन सांस्कृतिक वैभव एक प्रकार से विलुप्त-सा हो गया था। हमारे राम और कृष्ण केवलपूजा के लिए सुरक्षित हो चुके थे। राजनीतिक अराजकता और बाह्य आक्रमणों का संस्कृति पर भी कुप्रभाव पड़ा। लोगों के आत्मविश्वास एवं गौरव-भावना का अन्त हो गया था। यद्यपि लगातार अशान्ति के कारण इस प्रदेश के लोगों की मानसिक स्थिति निष्क्रिय हो चुकी थी, उनमें कोई उत्साह या वीरत्व शेष नहीं रह गया था। फिर भी भारतीय संस्कृति की जड़ें जन-जीवन में अभी तक शेष थीं। विश्वबन्धुत्व, परोपकार सेवा, सहयोग, प्रेम, सहिष्णुता आदि अनेक तत्वों को अभी भी समाज में देखा जा सकता था। यह सब था लेकिन सामाजिक निष्क्रियता के कारण इसका कोई अर्थ नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति

का संघर्ष एक सर्वथा नवीन संस्कृति से हुआ । अंग्रेजी संस्कृति के सम्पर्क से भारतीय लोगों में अपनी संस्कृति के प्रति आकर्षण पैदा हुआ । इसी के परिणामस्वरूप यहां का सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन होने लगा । हिन्दी साहित्य नवयुग का बहुत कुछ अंश भारतीय संस्कृति का यही पुनर्मूल्यांकन है । हम बंगाल के प्रशासन से ही यह अनुभव कर च चुके थे कि अंग्रेजों ने भारतीयों को सदैव हीन समझा । जिसकी प्रतिक्रिया में हमारे अन्दर अपनी महान् परम्पराओं को व्याख्यायित करने का आग्रह पैदा हुआ तथा मानवतावाद का विचार आया, जिससे जन-साधारणका महत्व समझा जाने लगा । स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रवीन्द्र, गांधी आदि महापुरुषों ने यही प्रयास किया कि भारतीय सुप्त जनमानस अपनी शक्ति को पहिचाने और जागृत हो । इसी सांस्कृतिक उत्थान के आन्दोलन के बीच भारतीय-राष्ट्रीयता के विचार का जन्म हुआ । भारतीय संस्कृति की एकरूपता के कारण यह अनुभव किया जाने लगा कि हम सब एक हैं, और अंग्रेजविदेशी हैं । इसी विचारणा के अन्तर्गत भारतीय-राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ । बंगाल में जमींदारी की समाप्ति और हिन्दी प्रदेश में बड़े-बड़े व्यापारियों रोजगार-हीनता के कारण जो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई, उससे हमारी राष्ट्रीय जागृति का बहुत गहरा सम्बन्ध है । क्योंकि संघर्ष के कारण ही हमारे अन्दर नवीनता के बीज का अंकुरण हुआ । बंगला-नाटकों में इस संघर्ष और जागरणका समावेश हो चुका था । हिन्दी प्रदेश के नाटकों में अभी राम और कृष्ण ही नायक के रूप में थे, लेकिन भारतेन्दु काल के उत्तरार्द्ध में साहित्य में जन-साधारण का प्रवेश हुआ । 'प्रसाद' के साहित्य में इस नवीनता के अच्छी तरह दर्शन हुए हैं ।

यहां के धार्मिक-जीवन पर भी अंग्रेजों का प्रभाव पड़ा । हिन्दी-प्रदेश में अंग्रेजों से पूर्व भी दो प्रमुख धर्म थे-- हिन्दू तथा इस्लाम । राजनीतिक दृष्टि से इस्लाम का प्रभुत्व था । औरंगजेब और उसके

उत्तराधिकारियों की हिन्दू-धर्म विरोधी नीति के कारण हिन्दू धर्म अपनी सीमाओं में बंधक गया था । प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दुओं में धार्मिक संकुचन, वर्ण एवं जाति की कठोरता धार्मिक शुद्धता के विचार पनपे । हिन्दुओं की उदार धार्मिक वृत्ति समाप्त प्राय: हो गई । यद्यपि अंगरेजों ने भारतीय धर्म के प्रति विरोधात्मक नीति नहीं अपनाई फिर भी ईसाई [illegible] ने सहानुभूति के साथ हिन्दू और [illegible]सलमानों के धर्म-परिवर्तन का प्रयास किया । इसके लिए अनेक अंगरेजों ने यहां के पिछड़े हुए निम्नवर्ग के लोगों की सेवा का व्रत लिया । लेकिन इससे वह न हो सका जो अंगरेज चाहते थे । इसके विपरीत इससे हिन्दू तथा मुसलमानों में धार्मिक रक्षा का भाव जगा । भारतीय राष्ट्रीय-चेतना का प्रारम्भ इसी धार्मिक चेतना से हुआ । डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार यही [illegible] राष्ट्रीयता आगे चलकर [illegible] [illegible] में परिणीत हो गई[1] ।

अस्थिर राजनीतिक-व्यवस्था के कारण हिन्दी-प्रदेश की आर्थिक स्थिति बड़ी कमजोर हो चली थी । आन्तरिक युद्धों, मराठों की लूट, राजाओं की विलासिता बाह्य आक्रमणों आदि के कारण यहां की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति डांवा डोल हो चुकी थी । ऐसे समय में अंगरेजी सरकार की नीतियों ने इस प्रदेश को एकबारगी झकझोर दिया । रही-सही आर्थिक सम्पन्नता भी उनके कारण बिगड़ने लगी । अंगरेज सब तरह से धनोपार्जन करना चाहते थे । अत: उन्होंने सबसे प्रथम यहां के बाजारों पर अधिकार करने के प्रयास किए । इससे इस प्रदेश के ग्रामीण-जीवन का रहा सहा आधार भी समाप्त हो गया । कृषक, मजदूर, व्यापारी, कारीगर आदि सभी के सामने आर्थिक संकट उपस्थित हुवा । इस नए संकट का सामना करने के लिए हिन्दी क्षेत्र के लोगों को अपने पारम्परिक जीवन का त्याग करना पड़ा । सामन्तीय अर्थ-व्यवस्था की समाप्ति के साथ ही जन-साधारण का महत्व बढ़ने लगा । साहित्य में प्राचीन [illegible] का स्थापन हो गया। [illegible] संकट के परिणामस्वरूप समाज में नई [illegible] क्रान्ति का जन्म हुवा।

---

१ द्रष्टव्य : २०वीं [illegible] हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ, प्रयाग, १९६६

जिसके अन्तर्गत नए मानव की स्थापना, समाजवाद का नारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महत्व, शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति उदासीनता पारम्परिक व्यवस्था के प्रतिअविश्वास, राष्ट्रीय चेतना का उदय, आदि का आगमन साहित्य में हुआ ।

हिन्दी में खड़ी बोली गद्य का विकास भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि खड़ी बोली गद्य का अस्तित्व अंग्रेजों के पूर्व भी था, परन्तु अनेक कारणों से उसका विकास फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के पश्चात् ही हुआ । इन कारणों में सबसे बड़ा था प्रशासन की आवश्यकता । इसके लिए अंग्रेजों ने अनेक संस्थाएं खोलीं । इसाई धर्म के प्रचार से भी गद्य का विकास हुआ, क्योंकि अनेक अंग्रेजी की धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में कराया गया । वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप प्रेस की स्थापना तथा रेल, तार, डाक आदि की सुविधा भी बहुत बड़े कारण हैं । क्योंकि नए विचारों, भावों और तथ्यों को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य की ललित-ब्रजभाषा उपयुक्त नहीं थी, अत: गद्य के लिए खड़ी बोली का सहारा लेना पड़ा । इसी प्रकार के अनेक कारणों से हिन्दी गद्य बड़ी तीव्रता से प्रगति करने लगा । इसी गद्य का एक परिपक्व रूप 'प्रसाद' के नाटकों में देखा जा सकता है, जो अपने से पूर्व के सभी हिन्दी व गद्य के रूपों से भिन्न है ।

हिन्दी-प्रदेश की [illegible] की अभिव्यंजना भारतेन्दु युग के सम्पूर्ण साहित्य में दृष्टिगोचर होती है । परन्तु इस साहित्य में राष्ट्र या राष्ट्रीयता के प्रति वह तीव्र आग्रह नहीं दीख पड़ता जो 'प्रसाद' के साहित्य में है । भारतेन्दु-कालीन साहित्य एक प्रकार से राष्ट्रीयता के उत्थान के लिए एक मंच बन गया है, जहां से मीठे, संयमित उपदेश बांटे गए । साथ ही भाषा आदि की दृष्टि से भी इसमें [illegible]त्मक विकास की स्थितियों को देखा जा सकता है । 'प्रसाद' ने एक और उस समस्त वैचारिक क्रान्ति को स्वर दिया, जो अंग्रेजों के सम्पर्क के फलस्वरूप प्रभाव और प्रतिक्रि

के रूप में हमारे समाज में जन्म ले चुकी थी । दूसरी और साहित्य के अन्दर व उन्होंने अनेक नवीन प्रयोग किए जैसे नाटक-क्षेत्र में लाक्षणिक चित्रात्मक भाषा का प्रयोग, संस्कृत-परम्परा का त्याग आदि ।

हिन्दी नवजागरण को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाले 'प्रसाद' के नाटकों के रचना-क्रम पर विचार कर लेना समीचीन होगा । सन् १९१० से १९१४ तक 'प्रसाद' ने जो रचनाएं प्रस्तुत कीं उनका साहित्यिक महत्व बहुत अधिक नहीं, फिर भी उनमें एक भावी महान साहित्यकार की झलक मिलती है । 'सज्जन' (१९१०), 'कल्याणी परिणय' (१९१२), 'करुणालय' (१९१२), 'प्रायश्चित' (१९१४) आदि उनकी प्रायोगिक कृतियाँ हैं । इनके पश्चात् 'प्रसाद' ने 'राज्यश्री (१९१५) की रचना की । यह एक सुन्दर नाट्य-कृति है, क्योंकि इसमें सीधी-सपाट कहानी को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है । 'विशाख' (१९२१) भी 'प्रसाद' की एक सुन्दर रचना है, लेकिन इसपर भारतेन्दु-काल का काव्यात्मक प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है । इसके पश्चात् 'अजातशत्रु' की रचना हुई । वास्तव में 'प्रसाद' की यह रचना [illegible] क्रान्ति की तीव्र क्रियाशीलता के प्रभाव में लिखी गई है, इसलिए इसमें भी अत्यन्त तीव्रता आ गई है । इसकी रचना १९२२ में हुई । 'कामना' की रचना १९२३ में हो गई थी, परन्तु इसका प्रकाशन चार वर्ष बाद हुआ । यह गांधीवाद के प्रभाव में लिखा गया नाटक है । इसके पश्चात् लेखक की 'जनमेजय का नाग यज्ञ' (१९२६) प्रकाशित हुआ । यह नाटक जातीय एकता और वैचारिक समन्वय को आधार बनाकर लिखा गया है । इसमें भारतीय संस्कृति के तत्व 'समन्वयवाद' के दर्शन होते हैं । इतना कुछ लिखने के पश्चात् 'प्रसाद ने एक उत्कृष्ट नाटक 'स्कन्दगुप्त' (१९२८) हिन्दी साहित्य को दिया । यह रचना 'प्रसाद' के कलात्मक संयोजन के विकास का प्रतीक है । इसमें कथानक, चरित्र-चित्रण, रस आदि की दृष्टि से स्तुत्य प्रयास किए गए हैं । 'एक घूंट' १९२९ में लिखने के पश्चात् 'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त'

(१६३१) की रचना की । यह नाटक उनकी कीर्ति का आधार है । यद्यपि अपनी कुछ जटिलताओं के कारण यह नाटक रंगमंच की व्यावहारिकता से दूर हो गया, लेकिन फिर भी इसमें एक आकर्षण शक्ति है । इस नाटक में राष्ट्रीय -एकता की तीव्र अभिलाषा परिलक्षित होती है साथ ही इतिहास का अन्वेषण भी है । 'प्रसाद' की अन्तिम रचना 'ध्रुवस्वामिनी' (१६३३) है । इस रचना में उनका विकसित साहित्यिक रूप दिखाई देता है । ऐसा लगता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' 'प्रसाद' का प्रथम ऐसा नाटक है, जो रंगमंच के लिए लिखा गया है । यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यदि उनकी और रचनाएं हिन्दी नाट्य -साहित्य को मिलतीं तो उनमें 'ध्रुवस्वामिनी' की परम्परा अवश्य होती ।

निष्कर्ष

द्विजेन्द्रलाल राय और 'प्रसाद' के रचनाकालों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है । देश की राजनीतिक परिस्थितियां दोनों लेखकों के युग में लगभग एक-सी ही थीं । राय ने रचना के स्तर पर जिस युग को स्वीकार किया 'प्रसाद' ने भी उस युग को ही अंगीकार किया है । राय की रचनाएं 'प्रसाद' के समय तक बहुत अधिक प्रसिद्ध हो चुकी थीं । रंगमंच और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में उनकी रचनाओं का बोलबाला था । अत: एक सच्चे कलाकार के रूप में 'प्रसाद' ने राय को स्वीकार किया । राय की भावात्मक तीव्रता, [illegible]षणात्मकता और चित्रात्मकता को 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में प्रस्तुत किया । इस स्वीकृति के पीछे 'प्रसाद' की कमजोरी नहीं, वरन् शक्ति के दर्शन होते हैं, क्योंकि उन्होंने राय का प्रभाव प्रेरणा के रूप में प्राप्त किया है ।

-0-

परिच्छेद ० २ ०

नाटकों का उद्भव और विकास

(क)

- नाटकों का उद्भव
- लोक- नाटक
- पारसी रंगमंच
- बंगला रंगमंच
- हिन्दी रंगमंच

(ख)

- हिन्दी रंगमंच और 'प्रसाद'
- बंगला रंगमंच एवं राय
- निष्कर्ष

' नाट्य-साहित्य की जड़ें कहीं मानव की स्वाभाविक चेतना में बद्धमूल्य हैं ।'

परिच्छेद -- २

नाटकों का उद्भव और विकास

(क)

नाटकों का उद्भव

संसार में नाटकों की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। भरत ने नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है-- इसकी उत्पत्ति का संबंध त्रेतायुग के प्रारम्भ में सब देवता एकत्र होकर मनोरंजन का साधन मांगने के लिए ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने बड़े गहन विचार के पश्चात् चारों वेदों की सहायता से पंचम वेद की रचना की, इसी को नाट्य-वेद कहा जाता है। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथोपकथन, अथर्ववेद से रस, यजुर्वेद से अभिनय और सामवेद से गीति तत्वों का संयोजन इस वेद में किया। विश्वकर्मा के बनाए गए रंगमंच पर शिव ने ताण्डव पार्वती ने लास्य नृत्य करके तथा विष्णु ने चार शैलियां प्रदान करके इस वेद को पूर्ण किया। इसके साथ ही यह मत भी प्रचलित है कि 'पृथ्वी पर मनुष्यों के लाभार्थ नाट्य-वेद के प्रचार का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया'।[१]

उपरोक्त कथन यद्यपि सत्य नहीं है, फिर भी सर्वथा निर्मूल नहीं। इस कथन से एक तो यह संकेत मिलता है कि नाट्य-काल वेदों की तरह महत्वपूर्ण एवं पुरातन है। साथ ही नाटकों के मुख्य तत्वों का भी इससे पता चलता है। इसी के साथ भरत मुनि को नाट्य-कला का आदि आचार्य माना गया है।

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', १९५४, इलाहाबाद,

इससम्बन्ध में एक मत यह है कि त्यौहारों के अवसर पर या फसल पकने के दिनों में ,जन-जीवन में तरह-तरह के मनोरंजन प्रचलित थे --जैसे नृत्य,वादन,अभिनय आदि । भावों की अभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार के आयोजनों का सम्बन्ध अधिकतर प्राकृतिक व्यापारों से होता था । इन आयोजनों में हमें नाटक के बीज मिलते हैं । आज भी अनेक त्यौहारों के अवसर पर ऐसे लोक-नाटकों का प्रयोजन किया जाता है । यह लौकिक परम्परा बड़ी प्राचीन है । कठपुतलियों के तमाशे से नाट्य-उत्पत्ति की मान्यता भी प्रचलित है ।[1] आज भी नट जाति(भाट) गा-बजाकर , और नृत्य करके, अपना पालन-पोषण करती है । प्राचीन ग्रन्थों में भी नट-नटों का उल्लेख पाया जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि भारत की कुछ जातियां निश्चित रूप से नाट्य-कला से सम्बन्धित रही होंगी, क्योंकि आज भी संस्कारिक गुण उनके नृत्य,गायन,वादन आदि कार्यों में फलकते हैं । फिर भी इस प्रकार के तथ्यों से नाटक के उद्भव सम्बन्धी किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता । इससे इतना भर जाना जा सकताहै कि नाट्य साहित्य की जड़ें कहीं मानव की स्वाभाविक चेतना में अदृश्य हैं । उनकी खोज करना सम्भव नहीं ।

यूरोप के कुछ विद्वानों का कथन है कि नाटकों का जन्म भय या आश्चर्य के कारण हुआ । मनुष्य ने जब संसार में अनेक भयभीत कर देने वाली या आश्चर्यचकित कर देने वाली घटनाएं देखीं, तब उसने देवी-देवताओं का अर्चन किया और इस प्रकार नाटक में धर्म का समावेश भी हुआ । अतिमानवीयता का दर्शन भी प्राचीन नाटकों में मिलता है । बी० इफर इवानस ने कहा है कि पहले अति मानवीयता-युक्त नाटक और फिर आदर्श तथा उसके पश्चात् प्रहसन का उदय हुआ ।[2] इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि नाटकों के उद्भव में धर्म का विशेष महत्व है । क्योंकि आज भी नाट्य-रचना के साथ धार्मिक अनुष्ठान का संयोजन रहता है । तथा अतिमानवीयता का तत्व देखने को मिल सकता है ।

---

1 कुछ विद्वान् नटों द्वारा कठपुतलियों के तमाशे से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।--डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', १९५४, अध्याय, पृ०१९६

2 बी०इफर इवान : ए शार्ट हि... [illegible] ड्रामा', लंदन, १९५० पृ० २१

अनेक भाषाओं में जो नाटक आज हमारे समक्ष हैं,उनके उद्भव का निर्णय करना सम्भव नहीं है फिर भी इस सन्दर्भ में लोक-नाट्य परम्परा और व्यावसायिक नाट्य-शैली को नहीं भुलाया जा सकता । नाट्य-कला मानवीय स्वभाव का परिणाम है । उक्त दोनों नाट्य-परम्पराओं में मानव-स्वभाव का अत्यधिक महत्व है । आज के नाटक का उदय आज की लोक-रुचि का ही परिणाम है, फिर भी उसका सम्बन्ध लौकिक और व्यावसायिक परम्पराओं से अवश्य रहा है । भारत में नाटकों के उद्भव की खोज लौकिक और व्यावसायिक नाट्य-शैलियों के सन्दर्भों के बिना अधूरी ही रह जायगी, अत: यहां उनका संक्षिप्त वर्णन करना प्रासंगिक होगा ।

लोक-नाटक

मानव के सामाजिक जीवन के प्रारम्भ के साथ ही उसे मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता अनुभव हुई । अनुकृति करना मानव-स्वभाव है,अत: महापुरुषों की कथाओं को व्यक्त करने के लिए अभिनय का प्रयोग कर दृश्य-काव्य का सृजन हुआ । साथ ही अनेक धार्मिक उत्सवों, फसल पकने पर,ऋतु-परिवर्तन के समय , अथवा किसी सांस्कारिक - उत्सव पर समाज में एक तीव्र अनुभूति जन्म लेती है, ऐसी स्थिति में वह नाच उठता है या फिर अभिनय के द्वारा किसी पूर्व घटित घटना , चरित्र,या स्थिति को अभिव्यक्त करने लगता है । इस प्रकार कथा और अभिनय के संयोग से नाटक का जन्म होता है । अत: सर्वप्रथम नाटक की उत्पत्ति की कल्पना लौकिक जीवन में की जानी चाहिए । साहित्यिक नाटक इसी लौकिक-नाट्य-परम्परा का सांस्कारिक और नियम-बद्ध रूप हैं । इस प्रकार बिना लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के नाटकों के उद्भव और विकास की बात करना व्यर्थ है । भरत का नाट्य-शास्त्र इस बात का [illegible] है कि उससे पूर्व भी लोक-नाटक का [illegible] था । भरत ने अपने शास्त्र में लौकिक -जीवन में असंयमित और अनियमित रूप में बिखरा रहा । उसको समेट कर सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास का फल ही साहित्यिक नाटक है । भरत का शास्त्र इसी सम्बद्धता का [illegible] निर्देश है । भरत का शास्त्र तथा अन्य विद्वानों के बन्धन लौकिक जीवन में कभी मान्य नहीं हो सके । प्रत्येक काल में लौकिक-जीवन

की अभिव्यक्ति के लिए लोक-नाटकों का विकास स्वतन्त्र रूप से होता रहा । लोक-विश्वास,परम्पराएं,मान्यताएं,रीति-रिवाज आदि की सीधी अभिव्यक्ति लोक-नाटक में होती है । उसकी भाषा, वेश-भूषा, रंगमंच,रूप-योजना,संगीत चरित्र आदि कल्पनाजनित न होकर लौकिक होते हैं । उनमें न बनावट होती है न संस्कार । अत: लोक-नाटक की कथा अभिव्यक्ति एवं मंचीकरण में वह कसावट और सामंजस्य नहीं होता जो साहित्यिक -नाटकों में पाया जाता है । लेकिन फिर भी लोक-नाटक का सीधा सम्बन्ध रस से रहता है । मनोभावों को छू जाने वाली सादगी और सत्यता इन नाटकों का आधार होती है ।

भौगोलिक दृष्टि से भारत एक विशाल देश है,परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इसकी यह विशालता एक परिवार के आंगन की तरह दीख पड़ती है । यहां के देवी,देवता, विचार,चिन्तन,रहन-सहन आदि में अभूतपूर्व समानता है,जो इस विशाल देश की भौगोलिक विभिन्नता को एक सूत्र में बांध देती है । यही कारण है कि यहां के साहित्यिक चिन्तन में भी एकरूपता के दर्शन होते हैं । दक्षिण के समस्त भक्ति-आन्दोलन उत्तर-भारत में आकर पनपे और उत्तर-भारत के रामकृष्ण दक्षिण के लिए उपासना के आधार बन गये । स्थानीय वैभिन्यता के कारण हमारे लौकिक साहित्य में वैभिन्य देखा जा सकता है । भक्ति-काल में समस्त उत्तर-भारत राम और कृष्ण की लीलाओं का रंगमंच बन गया । लेकिन १७ वीं शताब्दी की राजनैतिक परिस्थितियों के कारण प्रादेशिक सम्बन्ध कुछ शिथिल पड़ गए और लोक-नाटकों में भी विभिन्नता आने लगी[१] । बंगाल में यात्रा, गुजरात में भवाई,उत्तर-भारत में रामलीला, रासलीला आदि लोकधर्मी नाट्य इसी विभिन्नता के परिणाम हैं । इस प्रकार यह सत्य है कि प्रत्येक प्रदेश की अपनी कोई-न-कोई लोक-नाट्य-परम्परा रही है । इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा

---

१ द्रष्टव्य :'लोकधर्मी नाट्य-परम्परा' -- डा० श्या

सकता कि लौकिक साहित्य ने यदा-कदा कथ्य, शिल्प एवं भावना के स्तर पर शिष्ट साहित्य को प्रभावित किया है । इसी प्रकार शिष्ट साहित्य की अनेक प्रभावशाली रचनाएं लौकिक जीवन में उतर कर लोक-नाटक बन गई हैं ।' यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्यिक और जन नाटक एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालते रहे होंगे और परस्पर आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा होगा ।[1]' अगर हम मोटे तौर पर देखें तो पाएंगे कि लोक-नाटक जन-रुचि की सीधी अभिव्यक्ति है और साहित्य जन-रुचि की पोषक संस्कारिक अभिव्यक्ति। दोनों में स्तर-भेद है । मूल में दोनों का उद्देश्य जन-रुचि को अभिव्यक्त करना है ।

हिन्दी-नाटकों के उदय-काल में लौकिक नाट्य-परम्परा के स्पष्ट दर्शन होते हैं । उनका गीति-प्रधान होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। 'कि हिन्दी के साहित्यिक नाटक पर लीला-नाटक और स्वांग-नाटक का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है ।[2]' यद्यपि आधुनिक नाटक का सारा कुछ पाश्चात्य रंगमंच और नए प्रयोगों की देन है । फिर भी लोक-नाटक को हम पूरी तरह अवहेलना की दृष्टि से नहीं देख सकते । उसकी भाव-रंजना और अतिनाटकीयता आज भी हमारे नाटक-साहित्य को गति देती है । लोक-नाटक का सीधा प्रभाव पारसी रंगमंच पर पड़ा है । इसका कारण यह है कि पारसी रंगमंच व्यावसायिक दृष्टि से निर्मित हुआ था , अतः इसमें लौकिक-रुचि पर व्यापारियों का सदैव ध्यान रहना स्वाभाविक ही था । कथा-योजना, मंच-संचालन और रूप-सज्जा आदि को छोड़कर पारसी थियेटर ने लोक-नाटकों को पूरी तरह स्वीकार किया है । पारसी रंगमंच की पद्यात्मक शैली और भावात्मक तीव्रता को लौकिक नाट्य-परम्परा की ही देन समझना चाहिए ।

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ०३६ ।

२ ,, : ,, ,, ,, पृ०३७

साहित्य में भी लोक-नाटक का प्रभाव देखा जा सकता है । पारसी रंगमंच का जो भी प्रभाव साहित्यिक-नाटकों में है, वह एक प्रकार से उन्हीं का है । लौकिक-नायक राम और कृष्ण, नल और हरिश्चन्द्र आदि साहित्य में भी लगभग उसी रूप में अवतरित हुए हैं, जिस रूप में लोक-नाटकों में थे । इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रादेशिक नाट्य-साहित्य के उद्भव और विकास में वहां के लोक-नाटक के अनेक तत्व सम्मिलित हैं ।

पारसी रंगमंच

लखनऊ के परम रसिक नवाब वाजिद अली शाह की देखरेख में लखनऊ के कैसरबाग में 'अमानत' का लिखा गया 'इन्दर-सभा' नाटक खेला गया । यह एक शृंगार प्रधान गीति-नाटक था । रंगमंच पर अत्यधिक सफलता के कारण इसकी परम्परा में अनेक नाटकों की रचना हुई । लोक-जीवन में इस नाटक की सफलता को देखकर तथा अंगरेजों की अनेक कम्पनियों के अनुकरण में बम्बई के कुछ पारसी-व्यापारियों ने व्यावसायिक नाटक-मण्डलियां बनायीं । चूंकि इन मण्डलियों का सम्बन्ध पारसी लोगों से था, अत: इन्हें 'पारसी थियेटर' भी कहा जाता है । इस प्रकार के रंगमंच के निर्माण के पीछे कलात्मक उत्थान की दृष्टि न होकर व्यापारिक लालसा थी । अत: स्वभावत: इन कम्पनियों में खेले जाने वाले नाटकों में जन-साधारण की तात्कालिक सस्ती-रुचि का ध्यान रखा जाता था । "इन कम्पनियों की व्यवसायिक मनोवृत्ति के कारण कुछ और की आशा करना व्यर्थ था[1] ।" अत: इनके 'इन्दर सभा' नाटक पर 'रास' का प्रभाव देखा जा सकता है । संगीत और नृत्य से परिपूर्ण यह नाटक लौकिक नाटकों की परम्परा में लिखा गया था । इसी की परम्परा में पारसी-रंगमंच के नाटक लिखे गए । जनसाधारण के सामने धूम धड़ाका सनसनीखेज पूर्ण दृश्य और[2] व[illegible]य तत्वों को प्रस्तुत करके चौंका देना ही इन नाटकों का उद्देश्य था । इस प्रकार पारसी रंगमंच जन साधारण के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हो गया, जिसके कारण भारत के अनेक बड़े शहरों--बम्बई,

---

१ डा० बच्चन सिंह : 'हिन्दी नाटक', इलाहाबाद १९६७, पृ० १८

२ ,, : ,, ,, ,, पृ० १८

कलकत्ता, दिल्ली में अनेक व्यापारिक रंगमंचों की स्थापना हो गई । १८ वीं शती में पारसी रंगमंच की धूम रही । इस समय भारतीय समाज अशिक्षित और रूढ़िग्रस्त था । इस स्थिति से लाभ उठाकर इन नाटकों में सस्ता -मनोरंजन और अति मानवीय तत्वों को स्थान दिया गया । पारसी-थियेटर का उद्देश्य जनता का मनोरंजन करना और अधिक-से-अधिक धनोपार्जन करना था । अतः यह स्वाभाविक है कि व्यापारियों की दृष्टि धन पर रहती थी, नैतिकता, साहित्यिकता या आदर्शों पर नहीं, फिर भी पारसी रंगमंच का अपना महत्व है इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

यद्यपि पारसी रंगमंच नाटकीय-क्षेत्र में एक स्तर का अवमूल्यन है, परन्तु संस्कृत-नाटक की जो परम्परा समाप्त हो चली थी, उससे अब कोई आशा न थी । पारसी-नाटकों में यद्यपि साहित्यिकता न थी, फिर भी इनके द्वारा जन-जीवन में रंगमंच की आवश्यकता उत्पन्न हुई और नाटकों के प्रति आग्रह बढ़ा । इन रंगमंचों पर हिन्दी, गुजराती, मराठी नाटकों का अभिनय हुआ । हिन्दी भाषा का इन नाटकों ने बड़ा उपकार किया । इनमें से कुछ नाटकों की भाषा बड़ी परिष्कृत एवं शक्तिशाली है । जन-जीवन के निकट की हिन्दी-भाषा के अनेक प्रयोग इन नाटकों में देखने को मिलते हैं[1] । [illegible] कथानकों को लेकर लिखे गए अनेक पारसी-नाटकों में सांस्कृतिक उत्थान और धार्मिक परिष्कार के तत्व भी पाये जाते हैं, जैसे 'खुदादोस्त', 'चांद बीबी', 'वीरहकीकत-राय' आदि में उपलब्ध होता है । इन नाटकों को अनेक विद्वान् पूर्वाग्रह ग्रसित होकर केवल नकारात्मक दृष्टि से ही देखते हैं लेकिन इनमें अनेक नवीन सामाजिक और राजनीतिक कथानकों पर लिखे गए नाटक अत्यन्त नाटकीय तत्वों के सफल प्रयोग हैं ।

---

१ द्रष्टव्य --राधेश्याम कथावाचक कृत : 'वीर अभिमन्यु नाटक' तथा 'परम भक्त-[illegible]' ।

,, --श्री विश्वम्भरसहाय का 'बुद्धदेव' तथा [illegible] 'माथव' कृत '[illegible]' ।

प्रश्न है कि पारसी रंगमंच का नाटक साहित्य के इतिहास में क्या स्थान है ? क्या पारसी थियेटर का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्य है ? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में न्यायपूर्वक सोचने के लिए आवश्यक है कि हम किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर विचार करें । यद्यपि जिस उद्देश्य को लेकर इस रंगमंच का जन्म हुआ, उसमें साहित्य और संस्कृति को स्थान नहीं था । जन-साधारण की शृंगारिक रुचि का परिष्कार न करके उसकी पूर्ति करना ही इन नाटकों का उद्देश्य था, क्योंकि धन-लोलुपता के कारण किसी प्रकार के जोखिम उठाने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी । अतः इस रंगमंच के नाटकों में या तो ऐसी आश्चर्यभरी कहानी रहती थी, जो जन-साधारण को चौंका देती थी या फिर उसमें जनसाधारण को आकर्षित करने वाली उथली शृंगारिकता रहती थी । रीतिकालीन वातावरण इन नाटकों में रहता था । 'लैला मजनूं', 'शीरीं फरहाद' आदि नाटकों में यद्यपि प्रेम का उदार रूप रहता था, परन्तु नाटकों की प्रस्तुति में प्रेम के भौतिक रूप एवं शारीरिक सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया जाता था । प्रेमी-प्रेमिका के भावनात्मक सम्बन्ध को छोड़कर दर्शक उनके रूपगत आकर्षण पर दृष्टि रखता था । इन नाटकों में साहित्यिक और सांस्कृतिक तत्वों की खोज करना इन नाटकों के प्रति अन्याय होगा । फिर भी कुछ नाटककारों ने भाषा, साहित्य और संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न किए जैसे--राधेश्याम कथावाचक ने नारी स्वतन्त्रता, दहेज प्रथा, आर्थिक विषमता आदि का समावेश कर अपने नाटकों को साहित्यिकता प्रदान की, जैसे उदाहरण रूप में 'मशरिकी हूर' एवं 'परिवर्तन' को देखा जा सकता है । इसी प्रकार 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद' आदि नाटकों में भारतीय संस्कृति के तत्व निहित हैं । इस प्रकार यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और युग तथा साहित्य के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो पारसी-नाटक भारतीय नाटकों के इतिहास की एक उपयोगी कड़ी है ।[1] क्योंकि जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में रीति-काल अपनी समस्त युगीन विशेषताओं के कारण महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार पारसी-रंगमंच के नाटक भी युगीन-परिवेश को

---

१ "इन नाटक कम्पनियों ने दो मुख्य काम किए । एक तो इन्होंने नाटकों के कथानकों को धीरे-धीरे बदला, दूसरे हिन्दी को एक रंगमंच दिया ।"
--डा० बच्चन सिंह : "हिन्दी नाटक", १९५७, प्रयाग, पृ० ९८

लेकर चले हैं । अत: उनका ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं । जब हम इन नाटकों को आधुनिक नाटकों के विकास की पीठिका में रखकर देखते हैं तो कह सकते हैं कि पारसी रंगमंच ने कम-से-कम इतना कार्य तो किया कि जन-जीवन में नाटक और रंगमंच के प्रति आग्रह किया । जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक नाटकों का प्रादुर्भाव हो सका । साथ ही जन-जीवन की समस्याओं को लेकर नाटक लिखने की प्रवृत्ति का जन्म भी इन नाटकों में हो चुका था । यहां तक भी कहा जा सकता है कि हिन्दी नाटकों का उदय भी इन नाटकों की प्रतिक्रिया में ही हुआ है ।

बंगला रंगमंच

आधुनिक युग में बंगाल प्रदेश अनेक राजनीतिक हलचलों का केन्द्र रहा है । चूंकि कलकत्ता अंग्रेजों की प्रथम राजधानी था । अत: यहीं से उन परिवर्तनों का आरम्भ माना जाता है जो प्रभाव और प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय और अंग्रेजी संस्कृति के संयोग से हुए । प्लासी के युद्ध के पश्चात् बंगाल का दीवानी-अधिकार भी अंग्रेजों के हाथ में आ गया । इस प्रकार एक व्यापारिक कबीले ने प्रथम बार भारतीय-शासन के स्वप्न देखने प्रारम्भ किए । अपनी कूटनीति,सतर्कता और नवीन उत्साह के कारण अंग्रेज सौर हुए,निष्क्रिय भारत के शासक बन बैठे । कलकत्ते में अनेक अंग्रेज स्थायी रूप से बस गये । ऐसी स्थिति में मनोरंजनार्थ वहां एक थिएटर का प्रारम्भ हुआ। सन् १७५६ में यहां प्रथम अंग्रेजी रंगमंच की स्थापना हुई[1] । फिर एक शानदार थिएटर का निर्माण कलकत्ता थिएटर के नाम से सन् १७७५ में हुआ, जिसपर अंग्रेजी नाटकों का मंचीकरण कर हुआ । बड़े गर्व की बात है कि सन् १७९५ में अंग्रेजी अनुकरण[2] पर वैसा ही थियेटर एक रूसी महाशय (हरासिम लेबे डफ) ने स्थापित किया ।इसके रंगमंच पर आधुनिक ढंग से पहला बंगला नाटक 'छद्मवेश' (अनुदित) खेला गया । इसी प्रकार इस रंगमंच

---

१ डा० सत्येन्द्र : 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास',उ०प्र०,१९६१,पृ०१६३

२ "... हेरासिम लेबेडफ कलकत्ता आए और डूमतला (आज का एजरास्ट्रीट)में उन्होंने एक रंगमंच कायम किया । सन् १७९५ और ९६ में [illegible] दो नाटक अभिनीत किए ।"
[illegible] तिवारी : 'बंगला और उसका साहित्य',प्र०सं०,दिल्ली,पृ०९८

पर एक-आध और अनूदित बंगला नाटक खेले गए । परन्तु यह प्रयत्न अधिक दिन न चल सका । फिर भी इस रंगमंच को बंगला भाषा का प्रथम आधुनिक रंगमंच होने का श्रेय प्राप्त है । इस प्रयत्न के पश्चात् अनेक छुटपुट प्रयास नाटकीय प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भ में हुए । इन प्रयत्नों में बंगला रंगमंच के भविष्य की स्थिति का स्वरूप देखा जा सकता है । यद्यपि मौलिकता के स्तर पर कोई प्रस्तुति बहुत दिनों तक नहीं हो सकी । लौकिक परम्परा और पौराणिक कथानकों को लेकर काव्य-शैली पर कुछ रचनाएं होती रहीं,लेकिन उनका महत्व न तो विषय और न शैली की दृष्टि से ही है ।

पण्डित रामनारायण `तर्करत्न` को बंगला के प्रथम मौलिक नाटककार कहना उपयुक्त होगा । क्योंकि उन्होंने `कुलीन-कुल सर्वस्व` नाटक की रचना की । कथानक और शैली की दृष्टि से यह रचना बंगला नाट्य-साहित्य में एक युगान्तर है । इस नाटक में देश(बंगाल) की नवीन जागृति का दर्शन किया जा सकता है । बंगला में अंग्रेजी -प्रशासन से अनेक समस्याएं सामने आई । एक ओर तो नये शासकों की शोषण-नीति का प्रभाव बंगाल की पारम्परिक जीवन पद्धति तथा वहां के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ा । दूसरे उनके प्रशासन ने जन-जीवन को एक नये क्षितिज के दर्शन कराए । इन उपरोक्त कारणों से बंगाल का सपाट जीवन एक झटके के साथ उठा । नवीन उद्भूत समस्याओं के कारण और निदान खोजने लगा । साहित्यकार की पैनी दृष्टि से भला यह नवीन अवस्था कैसे बचती थी । अत: तर्करत्न ने बंगाल की कुलीन प्रथा को लेकर एक नाटक की रचना की । इनकी महत्ता इस बात के लिए भी अत्यधिक बढ़ जाती है कि उनके [illegible] से बंगला में स्थायी रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न होने लगे और किसी भी भाषा को स्थायी रंगमंच मिलने का अर्थ है ,उसके नाट्य-साहित्य का महत्वपूर्ण विकास । अत: बंगाल के नाट्य-विकास का सम्बन्ध पंडित तर्करत्न से सम्बन्धित है ।

बंगाल की जमींदारी प्रथा के कारण वहां पर स्थायी रंगमंच की स्थापना हुई । क्योंकि अंग्रेजी थियेटरों में अंग्रेजी [illegible] ही जा सकते थे या फिर एक-आध अंग्रेजी-भक्त बड़ा जमींदार भी प्रवेश पा जाता था । इस स्थिति में बंगला के जमींदारों के अन्दर नाटक के प्रदर्शन के प्रति एक नया--

उत्साह भर दिया । अत: बड़े-बड़े आदमियों ने अपने खर्च से अपने ही मकानों पर अस्थायी रंगमंचों पर अनेक नाटकों की अवतारणा कराई । बंगाल के बंगला रंगमंच की स्थापना के पश्चात् उसकी पूर्ति के लिए अनेक सफल प्रयत्न किए गए[1]। जिनके कारण बंगला नाट्य-साहित्य विकसित होने लगा । बंगाल के ये घरेलू रंगमंच कुछ गिने-चुने व्यक्तियों, जमींदारों, तक ही सीमित थे । फिर भी इनके कारण वहाँ एक सर्वथा नवीन नाट्य-शैली का विकास हुआ । घर पर नाटक का मंचीकरण कराने का प्रचलन बंगाल में एक जमाने से चल रहा था । १८३३ में श्याम बज़ार में 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक श्री नवीनचन्द्र बसु के घर पर खेला गया । १८५७ में बाबू जयराम 'यसक' के घर पर 'तर्करत्न' का 'कुलीन कुल सर्वस्व' नाटक खेला गया[2]। १८५७ में 'विद्योत्साहिनी' नामक नाटक संस्था की स्थापना श्रीयुत काली प्रसन्न सिंह के प्रयास से हुई । इसके मंच पर कई सफल नाटकों का अवतरण हुआ । जैसे 'विक्रमोर्वशी', 'सावित्री-सत्यवान', 'मालती माधव' आदि अनेक छाया अनुवादों के सफल अभिनय से बंगला के रंगमंचीय विकास की कहानी को प्रवाह मिला । इन घरेलू रंगमंचों के कारण ही बंगला के स्थायी रंगमंच की स्थापना का विचार जन्म ले सका । एक बार १८५७ में [illegible] देव के मकान पर महाराजा यतीन्द्र मोहन और 'पायकपाड़ा' के राजा ईश्वर सिंह में इस विषय पर सहमति हुई कि नाटकों के अस्थायी रंगमंचों पर अनेक कठिनाइयाँ होती हैं । साथ ही व्यय भी बहुत पड़ता है । अत: स्थायी रंगमंच की स्थापना हो जानी चाहिए । इसी से पहली बार बंगला के स्थाई रंगमंच की योजना बनी ।

इस प्रकार १८५८ में बेलगछिया प्रदेश में एक स्थायी बंगला रंगमंच की स्थापना राजा ईश्वरचन्द्र सिंह के सुप्रयत्नों से हुई । संयोग की बात है कि इस प्रथम स्थायी रंगमंच पर भी तर्करत्न का ही नाटक पहली बार खेला गया । डा० सत्येन्द्र ने लिखा है --" इस प्रकार पं०रामनारायण

---

१ डा० भानुमा बैनर्जी : 'भारतीय नाट्य-साहित्य', दिल्ली, पृ०४६

२ बंगाब्द० १८५४

'तर्करत्न' ने न केवल बंगला का प्रथम रंगमंचीय नाटक ही लिखा, वरन् इनका सम्बन्ध प्रथम स्थायी रंगमंच पर खेले जाने वाले प्रथम नाटक से भी हुआ।[1]

बंगला रंगमंच एक और सशक्त रचनाकार माईकेल मधुसूदन दत्त पौर्वात्य और पश्चात्य के समन्वय की भावना को लेकर आया। वास्तव में दत्त के नाटकों में पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण की खिल्ली उड़ाई गई, परन्तु पाश्चात्य प्रभाव से वह स्वयं को बचा नहीं सके। उनका बंगाली लेखक होना संयोग ही है। 'तर्करत्न' की सफलता के कारण उन्होंने भी अनेक सफल नाटक लिखे, जिनमें 'शर्मिष्ठा' विशेषरूप से बहुचर्चित हुआ। बंगाली नवजागरण जिस सुधारवादी भावना को लेकर आया, उसका रूप हमें दत्त के नाटकों में देखने को मिलता है। बंगाल में अनेक ऐसे रंगमंचों की स्थापना हो चुकी थी जो किसी-न-किसी व्यक्ति के अधिकार में [illegible] थे। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि बंगाली रंगमंच एक समय तक व्यक्तिगत रंगमंच बना रहा। रंगमंच की इस व्यक्ति-परकता ने जन-जीवन के मन, मस्तिष्क में प्रवेश नहीं किया था। बंगाल के रंगमंच की कहानी एक प्रकार से अधूरी ही थी। फिर भी इन रंगमंचों पर सामाजिक जन-जीवन की समस्याओं और सत्यताओं को नाटकों के माध्यम से उतारा जाता था। नील-दर्पण (१८६० दीनबन्धु मित्र) से पूर्व के नाटकों में सामाजिक समस्याओं का रूप मिलता है। यह पहला राजनीतिक नाटक कहा जायगा। प्रथम बार दीनबन्धु मित्र ने अपने नाटकों में भारतीय प्रशासकों की नीतियों का दुष्प्रभाव परिचय कराया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि बंगाली-रंगमंच राजनीतिक सत्ता के विरोध का स्वर बन गया। और उसे राजनीतिक आन्दोलनों के प्रचार एवं प्रसार का साधन माना जाने लगा। अत: सामाजिक-सुधार के साथ ही 'नील दर्पण' की नाट्य अभिव्यक्ति के कारण बंगला-रंगमंच का सम्बन्ध राजनीतिक (राष्ट्रीयता) हलचलों से भी जुड़ गया। जहाँ एक ओर बंगाली-रंगमंच की [illegible] की सीमा में प्रसार हुआ, वहाँ पर व्यक्तिगत अधिकार से निकल कर जन-जीवन में आने का मार्ग भी

---

१ डा० सत्येन्द्र : 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', उ०प्र०, १९६१, पृ० १८७

खोजने लगा । जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि जमींदार, राजा या विशिष्ट वर्ग के किसी बड़े व्यक्ति के अधिकार में संचालित रंगमंच तक जनसाधारण की पहुंच नहीं थी । इस कमी को सर्वप्रथम एक प्रतिभा-सम्पन्न युवक श्री गिरीशचन्द्र घोष ने अनुभव किया और उसने अपनी अटूट लगन और अदम्य शक्ति के बल पर एक १८६८ में बाग बाजार एमैचर थियेटर (१८६८) की स्थापना की जिसपर दीनबन्धु मित्र का 'सधवार एकादशी' नाटक सफलता-पूर्वक खेला गया । डा० सत्येन्द्र के अनुसार गिरीशचन्द्र घोष का महत्व बंगला रंगमंच तथा बंगला नाटक-साहित्य में अद्वितीय है । इन्होंने ही रंगमंच को उच्च धनिक वर्ग के क्षेत्र से निकाल कर सर्व साधारण के लिए सुलभ बनाया ।[१]

हिन्दी रंगमंच

विद्वानों में बड़ा मतभेद है । एक मत के विद्वान् हिन्दी को संस्कृत नाट्य-परम्परा से जोड़कर अत्यन्त प्राचीन एवं विकसित बताने का प्रयास करते हैं । संस्कृत की सुदीर्घ नाट्य-परम्परा में जो सैद्धान्तिक विवेचन मिलता है, उसका प्रयोग चूंकि हिन्दी के नाटकों में भी होता रहा है, अतः कुछ विद्वानों ने इस तथ्य को लेकर हिन्दी और संस्कृत नाटकों को एक साथ जोड़ दिया है[२] । जब कि यह केवल भ्रमात्मक मोह ही कहा जा सकता है । कुछ सैद्धान्तिक प्रयोगों के कारण दो साहित्यिक युगों की साहित्यिक-विधा को एक साथ रख देना सन्तुलित विवेचन -दृष्टि का परिणाम नहीं । संस्कृत की नाट्य -परम्परा एक निश्चित समय तक बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रचलित रही, लेकिन उसके पश्चात् तो भाषाओं के विकास के चरणों के साथ पाली, प्राकृत, अपभ्रंश के नाटकों की टूटी-फूटी परम्पराएं मिलती हैं, संस्कृत की नहीं । हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को हम आदिकाल या वीर गाथा-काल के

----

१ डा० सत्येन्द्र : 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', उ०प्र०, १९६१, पृ० ९७।

२ गोविन्द चातक : 'प्रसाद नाट्य और रंग शिल्प', १९७०, दिल्ली, पृ० ३

नाम से अभिहित करते हैं । अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण यह युग नाटकीय -सृजन के सर्वथा अनुपयुक्त था । देश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था । प्रत्येक राज्य का एक राजा होता था, जो अपने झूठे दम्भ और कुल की पारम्परिक मर्यादा के लिए युद्ध और कलह की परिस्थितियों में घिरा रहता था । बर्छियों की झंकार और दम्भभरी ललकार ही इस युग के धर्म थे । रंगमंच और नाटक के लिए जिस शान्त और स्थिर वातावरण की आवश्यकता होती है, उसको ह अपवाद रूप में भी इस युग में पाया जा सकता है । अत: हिन्दी नाट्य-साहित्य के उदय का इस युग में प्रश्न ही नहीं उठता ।

हिन्दी नाटक के इतिहास की दृष्टि से भक्ति-काल में भी हमें निराशा ही मिलती है । यद्यपि वीरकाल की अराजकता और विश्[illegible] इस युग में समाप्त हो गई थी, अत: रंगमंच की स्थापना और नाट्य-विकास की अनेक सम्भावनाएं थीं । परन्तु फिर भी इस क्षेत्र में कोई आशाजनक कार्य नहीं हो सका । इसका एक बहुत बड़ा कारण मुगलों (मुसलमानों) का शासन था । मुगल-शासकों ने न तो रंगमंच की स्थापना की कल्पना ही की और न ही रंगमंच को राजनीतिक सुरक्षा देने में उत्साह [illegible] । इस्लाम धर्म के प्रतिकूल होने के कारण नाटक को, मुगलकाल में उस प्रकार का कोई प्रोत्साहन नहीं मिला, जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल-शासकों से प्राप्त हुआ था[1] ।"

इस युग में भाषा भी नाटकीय-उत्थान की दिशा में बहुत बड़ा अवरोध थी । इस युग के ब्रजभाषा में जो लालित्य, प्रवाह और सुकुमारता थी वह काव्य के लिए तो उपयुक्त थी, लेकिन गद्य की कठोर धरती के लिए वह सर्वथा शक्तिहीन थी । आज भी ब्रजभाषा की गद्य-रचनाएं कुछ अनोखी-सी लगती हैं । साहित्य में गद्य और खड़ी बोली का आगमन साथ ही साथ हुआ, क्योंकि इन दोनों को एक-दूसरे के का पूरक कहा जा सकता है । मुगल-शासकों के लगभग ढाई सौ वर्षों में [illegible] रंगमंच की धारा लगभग लुप्त गयी । लौकिक

---

१ परमेश्वरीलाल गुप्त : 'प्रसाद के नाटक', वाराणसी, १९५६, पृ० २

रंगमंच पर रासलीला, रामलीला, स्वांग आदि का पता चलता है। क्योंकि इन रंगमंचों पर काव्य-भाषा-प्रयोग सफलतापूर्वक किया जाता रहा है। भक्ति काल की भक्तिपरक लौकिक रचनाएं जनसाधारण में पर्याप्त प्रचलित थीं। आगे चलकर इस लौकिक परम्परा का प्रभाव साहित्यिक,रचनाओं पर पड़ा,लेकिन भक्तिकाल किसी सुनियोजित रंगमंच की स्थापना में पूर्ण असफल ही रहा।

वीरगाथाकाल में युद्ध और अशान्ति के कारण तथा मुगलकाल में राजनीतिक आश्रय के अभाव में रंगमंच की स्थापना न हो सकी। परन्तु रीतिकाल में नाटक के विकास की बहुत आशा की जा सकती थी। देशव्यापी शान्ति,राजाओं,सामन्तों की स्वतन्त्रता आदि स्थितियां नाटक के उपयुक्त थीं। परन्तु फिर भी इस युग में रंगमंच की स्थापना न हो सकी, इसका सारा दोष युगीन भौतिकवादी विचारधारा पर है। मानसिक संघर्ष और अन्तराल की सूक्ष्म चिन्ताओं का इस युग में कहीं भी अस्तित्व नहीं मिलता। इस युग के काव्य में घटनाएं भी नहीं है, क्योंकि घटनाएं घटने का अवसर ही नहीं , न बाह्य जीवन है, न जीवन में घटनाएं हैं। संयोग और वियोग का सूक्ष्म वर्णन केवल बुद्धि की काल्पनिक कसरत है। अत: नाटक के लिए आवश्यक चरित्र अथवा घटनाओं में से एक भी इस युग में उपलब्ध नहीं हैं।

रीतिकाल में कोई ऐसा राजनीतिक,धार्मिक या सांस्कृतिक परिवर्तन भी नहीं आया जिसके कारण कोई नई साहित्यिक-चेतना का परिणाम घटित होता। अत: सांस्कृतिक ठहराव के इस काल में [illegible] भी केवल [illegible] की सामग्री बनकर रह गया। नाटकों के लिए संघर्षपूर्ण कथावस्तु की उपलब्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी रीतिकालीन शृंगारकाव्य में वे समस्त अभिनय व्यापार देखने को मिलते हैं जिन्हें नाटकों के अभिनय -तत्व की सूचक [illegible]ियां का लक्षण [illegible] माना जा सकता है।. काव्य

की कलात्मक सूक्ष्मताओं के इस युग में हिन्दी रंगमंच स्थापित नहीं हो सका ।

हिन्दी-नाटक के इतिहास में इस प्रश्न पर बड़ा गहरा विवाद है कि किस नाट्य-कृति को हिन्दी की प्रथम रचना माना जाय । इस सम्बन्ध में दो प्रमुख मत हैं-- एक है, जो शुद्ध रूप से आधुनिककाल में हिन्दी नाटक का प्रारम्भ मानता है । उन्होंने कुछ रीतिकालीन नाटकों को दृश्यकाव्य कहकर उन्हें नाटक मानने से इन्कार कर दिया । उनका कहना है कि केवल संवादों के आधार पर किसी काव्य को नाटक मानना उचित नहीं है । डा० सोमनाथ गुप्त ने इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए १७वीं,१८वीं शताब्दी की रचनाओं को नाटकों की श्रेणी से अलग किया है[1]। परन्तु इस सम्बन्ध में एक दूसरा वर्ग है जो यह मानता है कि हिन्दी नाट्य साहित्य परिवर्तित होता रहा है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी नाटक का जन्म आधुनिक युग में हुआ । इस वर्ग में प्रमुखरूप से डा० दशरथ का उल्लेख करना आवश्यक है । उन्होंने बड़े सुनियोजित ढंग से यह सिद्ध किया कि वास्तव में जिस हिन्दी नाटक का उद्भव कुछ लोग आधुनिक काल में बताते हैं, उन नाटकों को जिनका जन्म रीतिकाल में या उससे पूर्व हुआ विद्वानों ने नाटक मानने से इन्कार किया है । डा० शिवनाथ ने कहा है,--"इस समय के (पूर्व आधुनिक काल) के मौलिक नाटकों में अधिक ऐसे हैं जो पद्यमय ही हैं,जैसे--प्राणचन्द्र चौहान कृत, 'रामायण महानाटक', रघुराम नागर कृत 'सभासार',लछीराम कृत 'करुणाभरण' आदि । ऐसे नाटकों की शैली स्थूलत: वैसी ही अथवा उससे कुछ परिष्कृत समझनी चाहिए,जैसी केशवदास की '[illegible]' की है ।" लेकिन डा० दशरथ ओझा ने उन सभी तर्कों का खण्डन किया,जिनके आधार पर अपभ्रंश और भारतेन्दु युग के बीच के अनेक नाटकों को नाटकीय काव्य कहकर नाटक मानने से इन्कार कर दिया गया है और कहा है कि नई खोजों के कारण यह स्वीकार किया जा

---

१ डा० सो[illegible]नाथ गुप्त : 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'

२ शिवनाथ[illegible] : 'हिन्दी नाटकों का विकास',इ[illegible]ाहाबाद,१९५१,पृ०२३

सकता है कि हिन्दी नाट्य-साहित्य विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था[1]।

हिन्दी नाटक के उद्भव के विषय में अभी तक भी यह विवाद प्रचलित है कि किस रचना को हिन्दी की प्रथम नाट्य कृति माना जाए। वास्तव में अगर न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत नाट्य-साहित्य की परम्परा से अलग जन नाट्य-परम्परा की अनेक कृतियाँ रास-नाटकों के रूप में प्रचलित रहीं। उसके अस्तित्व का कारण था, साहित्यिक जटिलता से दूर जन-जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति। साहित्यिक नाटकों का क्रमिक इतिहास तो इसलिए प्राप्त है चूंकि उनकी प्रतियाँ किसी -न-किसी रूप में हमें उपलब्ध है या फिर उसका उल्लेख हमें कहीं -न-कहीं मिलता है, परन्तु जन-जीवन में प्रचलित लौकिक नाट्य-साहित्य परम्परा रूप में प्रचलित रहता है। यह भी नितान्त सम्भव है कि युग के साथ अनेक परम्पराएं विलीन हो जाती हैं और नई परम्पराएं जन्म ले लेती हैं। हमारे देश में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि यहाँ का जाति-विभाजन, इस प्रकार का है जिसके आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। व्यवसाय जातिगत परम्परा में सुरक्षित रहता है, अतः हमारे यहाँ एक जाति ऐसी भी मिलती है, जिसका काम था--संगीत, नृत्य और अभिनय के द्वारा जन-जीवन का मनोरंजन करना, इस जाति का नाम है-- डोम या नट या भांड। ये जातियाँ अभी तक भी किसी-न-किसी रूप में अपने व्यवसाय में लगी हैं[2]। उत्तरभारत में अनेक जन नाट्य-शैलियां जैसे स्वांग, ढोला, रामलीला, रासलीला आदि में अधिकतर इन्हीं व्यावसायिक जातियों के लोग मिलेंगे। इस प्रकार कहा जा सकता है जन नाटक अनेक शैलियों में अनेक प्रदेशों में प्रचलित थे और इन्हीं जन-नाटकों के संस्कारित रूप को साहित्यिक-नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। हिन्दी-नाटक की परम्परा का मूल स्रोत

---

१ डा० दशरथ ओझा : "हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास", १९७०, दिल्ली, पृ०
२ ,, : ,, ,, ,, ,, पृ०५३

ये जन-नाटक ही हैं ... क्रमश: उन जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया।[1]"

साहित्यिक-नाट्य-परम्परा के साथ-साथ लौकिक नाट्य-परम्परा भी सदैव ही प्रचलित रहती है, इसी प्रकार संस्कृत की साहित्यिक-कृतियों के साथ अपभ्रंश की जन-नाट्य परम्परा भी प्रचलित थी। जब भी किसी भाषा को कठोर नियमों में बांधकर अत्यधिक साहित्यिक एवं सुनियोजित किया जाता है तो वह जन साधारण के प्रयोग से बाहर हो जाती है। इस साधारण नियम के अनुसार संस्कृत की तरह ही अपभ्रंश को भी जन-जीवन की अवहेलना का सामना करना पड़ा। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा अपभ्रंश को व्याकरणिक बन्धन में बांध दिए जाने पर परवर्ती रचनाओं में जन-बोलियों का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार की एक रचना १२वीं शताब्दी में लिखी गई प्राप्त होती है 'सन्देश रासक'। इसकी रचना एक मुसलमान के द्वारा हुई। इसकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश है। यही 'रासक' परम्परा बहुत दिनों तक जन-जीवन में प्रचलित रही और इसी की परम्परा में हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास को स्वीकार किया गया है।

उपरोक्त दो भिन्न मतों में कोई वास्तविक विरोध नहीं है, क्योंकि किसी भी साहित्यिक-विधा को सर्वथा नवीन नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक विधा का कोई-न-कोई स्रोत तो होता है। इसलिए नाटक जैसी अति प्रचलित विधा को किसी-न-किसी परम्परा का फल अवश्य कहा जायगा। फिर भी प्रश्न यह है कि हिन्दी नाटक का जो स्वरूप आज हमारे सामने है, उसका प्रारम्भ कब हुआ, इस विषय में अतार्किक रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी-नाटक का यह रूप आधुनिक युग की देन है। हिन्दी नाटकों के अस्तित्व का प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। चूँकि हिन्दी संस्कृत परम्परा की भाषा है, अत: समस्या

---

१ डा० दशरथ ओझा : "हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास", १९५४-दिल्ली, पृ०४२।

यह उठती है कि हिन्दी और संस्कृत-नाटक एक ही परम्परा में आते हैं या नहीं ? इसका उत्तर भी सीधा-सादा है कि हिन्दी-नाटक का संस्कृत-नाटक से सीधा सम्बन्ध भले ही न हो, परन्तु परोक्ष रूप में वे दोनों एक हैं; संस्कृति के परिवेश में उपलब्ध नाट्य-रूप हैं।

प्रस्तुत विवरणसे यह पता चलता है कि हिन्दी प्रदेश में अनेक सम्भावनाओं के होते हुए भी रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकी। इसके अनेक कारणों का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। आधुनिक काल में जब एक नए जीवन का सूत्रपात हुआ, हिन्दी नाट्य-रचना की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। भारतेन्दु-काल में अनेक राष्ट्रीय[illegible] नाटकों का प्रणयन हुआ, लेकिन भारतेन्दु के भगीरथ प्रयास से भी हिन्दी का कोई सुव्यवस्थित रंगमंच तैयार नहीं हो सका, उसका एक मुख्य कारण पारसी थिएटर की ख्याति थी और दूसरा कारण उसका-एक था युग का आदर्शवाद। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार भारतेन्दुकालीन नाट्य-सृजन कुछ समय के पश्चात् शिथिल पड़ने लगा, इसका एक मुख्य कारण था, "शुद्ध साहित्यिक कोटि के नाटकों का स्थान [illegible]त्मक नाटकीय कृतियों ने ले लिया। मानसिक अस्तव्यस्तता के कारण अन्तर्जगत् के अनुभवों का ठीक-ठीक स्पष्टीकरण न हो सका[1]।" भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य से जिस रंगमंच की स्थापना की आशाएं बंधी थीं + 'प्रसाद' नाट्य-साहित्य से वह धूमिल पड़ गयीं। 'प्रसाद' का नाट्य-साहित्य यद्यपि बेजोड़ कहा जा सकता है, परन्तु उसमें युगीन रंगमंच की आवश्यक की अवहेलना है। अत: उनके लिए प्रेक्षक आने वाले युग में भले ही तैयार हो जाय पर उससे भी हिन्दी के रंगमंच की स्थापना का स्वप्न पूरा न हो सका।

निष्कर्ष रूप से कहा जासकता है कि हिन्दी प्रदेश कभी राजनीतिक और कभी साहित्यिक कारणों से रंगमंच की स्थापना करने में असफल रहा। आधुनिक काल में चित्रपट की [illegible]लोकप्रियता में नाट्य-प्रस्तुति एक साहस क

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य, प्रयाग, १९५४, पृ० २२१

कार्य है । अत: भविष्य के विषय में भी बहुत अधिक आशायुक्त धारणा
व्यक्त नहीं की जा सकती ।

-0-

हिन्दी रंगमंच एवं 'प्रसाद'

भारत में नाटक को पंचम वेद कहा गया है, इसका अर्थ है कि नाटक, भारतीय-साहित्य का एक विशिष्ट अंग रहा है। भरत का नाट्य-शास्त्र इस बात का प्रमाण है कि उसकी रचना से पूर्व भारत में नाटकों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है, क्योंकि अनेक रचनाओं के पश्चात् ही उनके आधार पर शास्त्रीय-विवेचन प्रस्तुत होता है। इस बात को भी मानना होगा कि भरत के पश्चात् संस्कृत साहित्य में अनेक परिपक्व और प्रभावकारी नाटकों की रचना हुई। भास, कालिदास, आदि प्रभृति नाटककार विश्व-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्हीं के पश्चात् संस्कृत नाट्य-साहित्य की यह अजस्र धारा यकायक सूख गई। इसके अनेक कारण थे। जब शिष्ट-साहित्य जन-जीवन के लिए अपरिचित या अनुपयुक्त हो जाता है तो लोक-साहित्य उसका स्थान ले लेता है। इसी प्रकार संस्कृत की रचनाओं के पश्चात् पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के माध्यम से जन-प्रचलित नाट्य-शैलियों को बढ़ावा मिला लेकिन फिर भी जो सुनियोजित और सुदृढ़ परम्परा संस्कृत नाट्य-साहित्य की प्राप्ति होती है, वह उपरोक्त भाषाओं के [illegible] में नहीं मिलती है। हो सकता है कि भविष्य में कुछ रचनाओं के मिल जाने पर हम कह सकें कि इन भाषाओं में भी अनेक उच्च रचनाएं हुई हैं। कुछ विद्वानों ने इसी लौकिक परम्परा को हिन्दी नाट्य-साहित्य की प[illegible]ा का सम्बन्ध माना है[1]।

एक प्रकार से पाली, प्राकृत और अपभ्रंश ये एक ही भाषा के विकास-चरण हैं। उसी प्रकार उनकी रचनाओं को एक ही परम्परा में मानना चाहिए। हिन्दी को यही परम्परा विरासत में प्राप्त हुई है। परन्तु

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ० ५०

आज जो हिन्दी-नाट्य-साहित्य हमारे समक्ष है, उसको केवल प्राचीन परम्परा के परिप्रेक्ष्य में देखने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि आधुनिकता का सम्बन्ध उन समस्त प्रभावों और प्रयोगों से है, जो हिन्दी-नाट्य-साहित्य ने पश्चिम रंगमंच से प्राप्त किए हैं।

यद्यपि भारतेन्दु-कालीन साहित्य में ही आधुनिकता का श्रीगणेश हो गया था। युग-परिवर्तन के साथ साहित्य के मूल्य और प्रतिमानों में भी परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन साहित्य में भाषा, विषय, शैली आदि सभी स्तरों पर होता है। भारतेन्दु के पूर्व रीतिकाल से हम सब परिचित हैं। इस युग में नाटकों के लिए उचित वातावरण था। परन्तु नाटक के लिए विषय और रंगमंच का पूर्ण अभाव था। भाषा भी नाटक के उपयुक्त न थी। अतः नाटकों का सृजन न हो सका। रंगमंच के अभाव में हिन्दी साहित्य की नाट्य-विधा अपने विकास में अधूरी ही रही। हिन्दी रंगमंच के निर्माण का प्रयास सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही किया। यद्यपि उनकी प्रारम्भिक रचनाएं रीति-कालीन प्रभाव से मुक्त न हो सकीं, फिर भी उनमें[1] राष्ट्रीयता, संस्कृति और समाजवाद के भावों की नवीनता झलकने लगी थी। हिन्दी नाटकों की परम्परा के रूप में भारतेन्दु के जो दो-चार नाटक मिले--"आनन्द रघुनन्दन, नहुष"-- उनसे कोई नवीन पथ निर्मित हुआ हो, ऐसा कुछ भी नहीं था। वरन् कहना चाहिए कि ये नाटक संस्कृत की टूटी हुई[2] परम्परा के ही अवशेष थे। इनकी भाषा भी पद्य-प्रधान ब्रजभाषा थी। यह परम्परा भारतेन्दु के सामने थी, साथ ही अंग्रेजी रंगमंच से उनका परिचय हो चुका था। अतः उसके यथार्थवादी वातावरण का भी प्रभाव उनपर पड़ा।

भारतेन्दु और उनके युगीन साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होने के नाते उन समस्त परिवर्तनों को साथ ले कर

---

१ डा० बच्चन सिंह : "हिन्दी नाटक", इलाहाबाद, १९५७, पृ० २२

२ डा० दशरथ ओझा : "हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास", दिल्ली, १९७०, पृ० १९६

चले जो अंगरेजों के प्रशासन से भारतीय जन-जीवन में आए । साथ ही प्राचीन धार्मिकता की सत्ता को भी वह नकार नहीं सके । अत: इस युग में जो नाटक रचे गये हैं, उनमें सामाजिक, धार्मिक (पौराणिक) तथा प्रेम-प्रधान नाटकों का सृजन हुआ है । इस युग के प्रतिनिधि साहित्यकार भारतेन्दु जी के नाटकों को डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने तीन वर्गों में विभाजित किया है[1]। प्रथम वर्ग, सामाजिक नाटकों के अन्तर्गत -- 'भारत दुर्दशा', 'नील देवी' आदि जैसे नाटक आते हैं । धार्मिक वर्ग के अन्तर्गत -- 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'सती-प्रताप' आदि पौराणिक नाटक भी इसी वर्ग में रखे गए हैं । तीसरा वर्ग उन नाटकों का है, जिनमें भावात्मक प्रेम सम्बन्ध को काव्यात्मक शैली में व्यक्त किया गया है, जैसे 'चन्द्रावली' । वास्तव में भारतेन्दु कवि हृदयी भक्त थे । अत: इस वर्ग के नाटक विशेष सफल हैं, जैसे 'चन्द्रावली', 'प्रेमजोगिनी' हिन्दी साहित्य की बड़ी सरस और उत्कृष्ट रचनाएं हैं ।

उपरोक्त नाटकों का यह वर्ग-विभाजन सुविधा की दृष्टि से किया गया है । अनूदित और स्वरचित दोनों प्रकार की रचनाएं इन वर्गों में रखी जा सकती हैं । वैसे भारतेन्दु जी ने अनेक रचनाओं का अनुवाद किया है । लेकिन फिर भी उनके अनुवादों में वैयक्तिक विशेषताएं निहित हैं । क्योंकि अनुवाद करते समय भी उन्होंने वांछनीय परिवर्तन को रोका नहीं । कलात्मकता उनका गुण है । धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनीतिक तथ्यों को उन्होंने अपनी रचनाओं का आधार बनाया । कला की रक्षा का उन्हें सर्वत्र ध्यान रहा, अत: उनकी रचनाएं पहले साहित्यिक कला-कृतियां हैं और बाद में धर्म, इतिहास और राजनीति आदि । कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु ऐसे युग-निर्माता हैं, जिन्होंने साहित्य में युगीन-सन्दर्भों का कलात्मक विवरण पहली बार प्रस्तुत किया । इसलिए उन्हें युग-प्रतिनिधि के रूप में माना गया है । भारतेन्दु से पूर्व जिन दो-चार नाटकों का नाम हिन्दी साहित्य में लिया जाता है, वह या तो संस्कृत की परम्परा का अतार्किक निर्वाह करते हैं या फिर उन्हें

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', प्रयाग, १९५४, पृ० २०७

केवल नाट्य-काव्य कहा जासकता है। भारतेन्दु ही ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने हिन्दी-नाट्य के विकास और हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए प्रयास किए। इसके लिए उन्होंने बंगला और संस्कृत नाटकों के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किए तथा सामाजिक कुरीतियों, कुशासन, कुप्रथाओं, राष्ट्रीय पतन आदि पर नाटक लिखने का मार्ग प्रशस्त किया।[1] उन्हीं की प्रेरणा और प्रभाव से उस समय के अनेक लेखकों ने बड़े उत्साह से नाट्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया था। उनमें श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, राव कृष्णदेवशरण सिंह, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, और राधाचरण गोस्वामी आदि अनेक लेखकों ने देश-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम, सामाजिक सुधार, राजनीतिक उत्थान, कुप्रथाओं आदि को लेकर नाटकों की रचनाएँ कीं।
आधुनिक हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भ ऐसे काल में हुआ था जब कि सारा संसार एक परिवर्तन के प्रवाह में बह रहा था। समाजवाद के नये-नये रूप आ रहे थे। विश्व में औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति के प्रयत्न हो रहे थे। अतः भारत भी संसार की इस औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति के प्रभाव से बच नहीं सका। जो राष्ट्र स्वतन्त्र थे, वह प्रगति के नए नए प्रतिमान स्थापित कर रहे थे। और जो परतन्त्र थे, उनमें भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए चेतना का आग्रह बढ़ रहा था। भारत भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील था। १८५७ की क्रान्ति इसी चेतना का एक असफल विस्फोट था। भारतेन्दु-कालीन लेखकों को ऐसा ही वातावरण मिला। अतः इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय चेतना के स्वर, देश-प्रेम की भावना, समाजवाद की मांग एवं सांस्कृतिक-उत्थान का आग्रह देखने को मिलता है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के लेखक अपनी सम-सामयिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधि के प्रति पूर्ण जागरूक थे।[2]"

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : "आधुनिक हिन्दी साहित्य", प्रयाग, १९५४, पृ० २०८

२ डा० बच्चन सिंह : "हिन्दी नाटक", इलाहाबाद, १९७०, पृ० २१

सामाजिक जीवन में जो नवीन चेतना का आगमन हुआ, उसका प्रतिरूप साहित्य में भी दिखाई देता है । लेकिन एक बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्य में यह नवीन-चेतना नवीन-परिवर्तन अवश्य लेकर आई, फिर भी रीति-काल के मोह से अभी तक साहित्य को पूरा छुटकारा नहीं मिला था । स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जो कि साहित्य में एक नये युग के नियामक माने जाते हैं, अनेक सांस्कारिक बन्धनों में बंधे हुए प्रतीत होते हैं । काव्य-प्रेम, शृंगारिक [illegible] और अभिजात्य तत्व उनके साहित्य में दिखाई देते हैं । उन्होंने अपने नाटकों में काव्य को बराबर स्थान दिया -- यह उनकी परम्परावादी दृष्टि का ही प्रमाण है ।

भारतेन्दु और उनके साथियों ने जिन प्रेरणाओं से नाटकों की रचना प्रारम्भ की थी, उससे [illegible] हिन्दी के नाट्य-साहित्य का भविष्य स्वर्णिम लगता था । ऐसा लगता था कि भारत को रंगमंच और साहित्य को एक स्वस्थ नाट्य-परम्परा एक साथ प्राप्त हो गई है। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका । भारतेन्दु के युग में पारसी-रंगमंच का जनसाधारण में अत्यधिक प्रचार हो चुका था । इस रंगमंच का उद्देश्य सस्ते गीतों और शृंगारिक नाटकों के माध्यम से जनसाधारण का मनोरंजन करना था । जिससे इस रंगमंच के संचालकों को अधिक से-अधिक धन प्राप्ति हो सके । जन-साधारण में शिक्षा का अभाव के कारण पारसी रंगमंच के सस्ते मनोरंजन की मांग अधिकाधिक बढ़ती गयी । इसके कारण एक तो वह लेखक जिनमें प्रतिमा थी, रोटी और रुपए के लिए इस रंगमंच के लिए नाटकों की रचना करने लगे । और दूसरे शिष्ट-नाटकों के लिए कोई रंगमंच नहीं बन सका । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी के दुर्भाग्य से नाट्य-स[illegible] धारा का प्रवाह उद्गम के तुरन्त पश्चात् ही सूख गया[1] । यही कारण है कि आजकल हिन्दी-प्रदेश में हिन्दी रंगमंच की स्थापना नहीं हो पाई, इसीलिए हिन्दी में जो नाटक लिखे गए, वे या तो किसी प्रभाव के का परिणाम हैं या

---

१ डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', प्रयाग, १९५४, पृ० २१६

फिर वह रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं हैं । इस सम्बन्ध में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहा है, —" सच बात तो यह है कि शिक्षा के अभाव में हिन्दी जनता की रुचि ही विकृत हो गई थी । जनता की रुचि का परिष्कार करने के बजाय हिन्दी-नाटककार ने उसकी मांग की पूर्ति की और जनता को जैसा कुछ मिल गया,उसने उसी से अपना दिल बहलाया ।"[1] इस पारसी रंगमंच ने जन-जीवन की रुचि का परिष्कार तो नहीं किया, लेकिन नाटक के प्रति एक आग्रह अवश्य पैदा कर दिया । लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी का कोई स्थायी रंगमंच नहीं बन सका ।

हिन्दी-नाटकों का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यद्यपि हिन्दी को अनेक प्रेरणाओं और प्रभावों के रूप में एक सुदृढ़ भाषा की परम्परा मिली है ,फलस्वरूप भारतेन्दु-युग में नाटकों का प्रारम्भ तो हुआ, परन्तु उनका रूप अनेक दृष्टियों से आधुनिक नहीं था । भारतेन्दु से पूर्व सृजित 'आनन्द रघुनन्दन','नहुष','समयसार','प्रबोध चन्द्रोदय' आदि नाटकों में न तो उनमें घटनाओं का उचित संयोजन है न चरित्रों का स्वाभाविक विकास, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि रंगमंच का उनमें पूर्ण अभाव है । अनेक विद्वानों ने तो उन्हें नाटक मानने से भी इन्कार किया है[2] । अपने पक्ष में उन्होंने अनेक सशक्त तर्क भी दिए हैं । लेकिन किसी विधा की रचना में अभावों और कमजोरियों के आधार पर उसे विधा-क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता । हां, यह कहा जा सकता है कि अमुक रचना कमजोर है । उपर्युक्त रचनाओं को हम भले गीति-नाट्य(ड्रामेटिक पोयट्री) कहें, पर'नाटक' शब्द उनके साथ किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है । इन नाटकों में घटनाओं के भावुक स्थल, चरित्र की अतिरंजना और भारतीय संस्कृति की आदर्शवादिता को अधिक प्रश्रय मिला है । नाटक के लिए जिन आवश्यक रंगमंचीय नियमों की

---

१ डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य',प्रयाग,१९५४;पृ०२१४
२ द्रष्टव्य :'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' ।

आवश्यकता होती है, वह इन नाटकों में नहीं है । इनकी भाषा भी खड़ी बोली (साहित्यिक हिन्दी) न होकर ब्रज-भाषा है ।

भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु-मण्डल ने दो प्रकार के नाटक हिन्दी साहित्य को दिए हैं । (१) मौलिक, (२) अनूदित । अनूदित नाटकों के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें लेखक का दायित्व केवल भाषागत अभिव्यक्ति का निर्वाह करना होता है । कोई अनुवादक किसी रचना को दूसरी भाषा में प्रदान करता है । भाषा में अनुवाद प्रस्तुत करते समय अनुवादक कहाँ तक मूल रचना को [illegible] दे सका है, इस बात पर ही अनुवाद की सफलता और असफलता निर्भर करती है । अनुवादक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यथाशक्ति रचना की मौलिकता और उद्देश्य की रक्षा करे । इन्हीं सब बातों के परिप्रेक्ष्य में भारतेन्दु कालीन हिन्दी-नाटकों को देखने पर हम पाते हैं कि इस युग में अंगरेजी, संस्कृत और बंगला के नाटकों के अनेक सफल अनुवाद प्रस्तुत किए गए । जैसे 'मुद्राराक्षस', 'धनंजय-विजय', 'पाखण्ड विडम्बन', 'कर्पूरमंजरी', 'दुर्लभ बन्धु', 'विद्या सुन्दर' एवं '[illegible]', आदि । इस सम्बन्ध में एक और प्रमुख बात है कि इस युग में भारतीय जन-जीवन एक नयी दिशा के मोड़ पर खड़ा था, अतः परिवर्तन के नाम पर जो भी आवृत्तियाँ जन-जीवन में आ रही थीं, साहित्य भी उनसे अछूता न रह सका । इस युग में साहित्यकारों ने जो भी रचनाएं अनुवाद के लिए चुनीं उनमें किसी-न-किसी दृष्टि से नवीनता के तत्व अवश्य थे । या तो वे रचनाएं विषय की दृष्टि से युगानुकूल थीं या फिर उनमें शास्त्रीय बन्धन के प्रति अनास्था थी । संस्कृत-साहित्य में यद्यपि शास्त्रीय-बन्धन को साहित्य की शालीनता माना गया है, फिर भी कुछ लेखक ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के आधार पर मौलिक साहस किया । 'मुद्राराक्षस' इसका एक उदाहरण है । अतः भारतेन्दु ने बदलते हुए परिवेश में इसी नाटक को अनुवाद के लिए चुना ।

भारतेन्दु-काल को नाटक-साहित्य का बचपन ही कहना चाहिए । जैसे जीवन के इस [illegible]-काल में अनेक भावुकताएं, कमजोरियाँ और

अपरिपक्वता होती है,उसी प्रकार इस युग के नाटकों में भी है । फिर भी इनमें एक नये युग की झलक पाई जाती है । बंगाल में रामनारायण "तर्करत्न" माइकेल मधुसूदनदत्त, दीनबन्धु मित्र आदि [illegible] लेखक हो थे । इन सब की रचनाओं में भी नये युग की अवतारणा है,परन्तु बंगाल की यह नवीनता भिन्न प्रकार की है,क्योंकि वहां पर अंग्रेजी रंगमंच की स्थापना हो चुकी थी । उसी के प्रभाव से वहां के नाट्य-साहित्य में नवीन तत्वों का आगमन हुआ तथा उसका सीधा प्रभाव बंगाली रंगमंच पर पड़ा । बंगला के कुछ वरिष्ठ साहित्य-प्रेमियों ने बंगाली रंगमंच की स्थापना की,इस मंच पर अवतरित करने के लिए अनेक नाटकों का बंगला में अनुवाद किया गया और अनेक बंगाली नाटक लिखे गए । इन नाटकों में संस्कृत-परम्परा का कोई प्रभाव नहीं है । भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रभाव से अलग एकदम पश्चिमी रंगमंच का अनुसरण इन नाटकों में मिलता है । इनमें कथा-योजना पात्र और संघर्ष की वही स्थिति है,जो पश्चिम के शेक्सपियर ,शा,इब्सन आदि के नाटकों में पायी जाती है । परन्तु हिन्दी-नाटक का सम्बन्ध किसी रंगमंच से न हो सका, अत: उसका समुचित विकास न हो सका[1] ।

विषय की दृष्टि से ये बंगाली-नाटक अपनी प्रादेशिक परिस्थितियों से प्रभावित हैं । बंगाल में अंग्रेजों की शोषणकारी और व्यापारिक-नीति का प्रभाव जन-जीवन पर पड़ रहा था । उसमें भेद-भाव, शोषण और दमन-नीति थी,जिसकी प्रतिक्रिया भी होने लगी थी । यह स्वाभाविक है कि शोषित व्यक्ति जीवन की उन सभी सम्भावि. सुखात्मक स्थिति.यों के लिए लालायित होता है, जो एक स्वच्छन्द और स्वाभाविक वातावरण में मिलती है । लेकिन अंग्रेजी के आगमन से बंगाल के पारम्परिक

---

१ डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : '२० वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ' इलाहाबाद,१९६६,पृ०२१६ ।

जीवन में एक नये युग का आगमन हुआ, लेकिन यह नवीनता दुखदायी थी, ~~अतः~~ अतः बंगाल के नाटकों में विद्रोह की भावना पायी जाती है ।

हिन्दी-क्षेत्र यद्यपि बंगाल की उन परिस्थितियों से अछूता था, जिनके कारण बंगाल में नए साहित्य का सृजन हो रहा था, परन्तु विश्व की नव-चेतना का प्रभाव सब तरफ पड़ा, अतः हिन्दी-क्षेत्र (भारतेन्दु-कालमें) नवीन चेतना के प्रभाव में आया । प्रथमबार समाज में मानवीय स्वतन्त्रता और समानता के महत्व को समझा गया । प्राचीन परम्पराओं को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा और नवीन परम्पराओं का आग्रह उत्पन्न होने लगा । सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए समाज में अनेक महान-पुरुषों ने अपने-अपने ढंग से प्रयत्न प्रारम्भ किए । बाल-विवाह, विधवा-विवाह, जातिवाद आदि के ऊपर गहराई से विचार किया जाने लगा था ।

यह एक ऐसा युग था, जब कि भारत एक गहरी नींद से जागा, अतः उसके सामने अनेक समस्याएं और अनेक विषमताएं थीं, जिनके ऊपर विचार करना आवश्यक था । ऐसी स्थिति में यह भी आवश्यक था कि हमारा सोया हुआ आत्मबल फिर से वापस आ जाए । इसके लिए आवश्यक था कि हम अपने-आपको अपनी संस्कृति और इतिहास को समझें । इस सत्य को भारतेन्दु और उनके मण्डल के [illegible] ने गहराई से समझा और ऐसे साहित्य का सृजन प्रारम्भ किया, जिसमें संस्कृति, भाषा, राष्ट्र, जाति और धर्म-गौरव की पुनर्स्थापना के प्रयास निहित थे ।

भारतेन्दु-काल में अनूदित और मौलिक दोनों वर्गों के नाटकों में हमें नवीन रचना-शैली के दर्शन होते हैं । यद्यपि इस युग की रचनाओं में परम्परा का मोह और नवीनता के आग्रह का सम्मिश्रण मिलता है, फिर भी नये युग की चेतना का स्वर इन नाटकों में स्पष्ट सुनाई देता है । परम्परा के रूप में हिन्दी रंगमंच के नाम पर केवल कुछ लौकिक परम्पराएं ही इस युग को मिलीं, जैसे रामलीला, रासलीला आदि या फिर कुछ व्यावसायिक कम्पनियां

'इन्दरसमा' के प्रारूप को लेकर चल रही थी । इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में भारतेन्दु के सामने संस्कृत की एक लम्बी परम्परा थी और रंगमंच के रूप में व्यावसायिक कम्पनियां । इन दोनों का प्रभाव भारतेन्दु-युग के नाटकों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है । इसके व विषय में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में समुचित एवं पर्याप्त स्पष्टीकरण है[१] ।

इस युग के संस्कृत से अनूदित नाटकों में नान्दी-पाठ,प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि मिलते हैं । फिर भी इनमें उस जटिलता के दर्शन नहीं होते जो संस्कृत शास्त्रों में बतायी गयी हैं । इस युग की नाट्य-रचनाओं को यही विशेषता है कि विषय,शैली एवं रचना-शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में नवीन दृष्टि अपनाई गई है[२] । भारतेन्दु-काल में नाटकों पर रीतिकाल का काव्य-प्रभाव पर्याप्त रूप में देखने को मिलता है पर कई जगह गद्य के प्रयोग की प्रवृत्ति भी बलवती दिखाई देती है । नाट्य-कला के सम्बन्ध में इतना कहा जा चुका है कि अनुवाद और मौलिक दोनों प्रकार की रचनाओं में उस शास्त्रीय-जटिलता की अवहेलना का भाव दीख पड़ता है । जिसका वर्णन संस्कृत-नाट्य-शास्त्र में मिलता है । भारतेन्दु-युग को अगर हम चार भागों में बांट कर रखें तो इससे सम्पूर्ण युग के ऐतिहासिक-विकास का अध्ययन सुस्पष्ट और सुनियोजित होगा । डा०दशरथ ओझा के अनुसार चार महान् साहित्यकारों के आधार पर भारतेन्दु-काल को चार भागों में बांटा गया है -- प्रथम चरण में भारतेन्दु,दूसरे में राधाकृष्णदास (१८५०-६०) ,तृतीय चरण के अग्रगण्य साहित्यकार के रूप में पं०बालकृष्ण भट्ट (१८६०,७०) का नाम लिया जा सकता है । और अन्तिम चरण में राधाचरण-गोस्वामी (१८७०,८०) एक महान् नाटककार के रूप में सामने आए ।

---

१ "(किन्तु) प्राचीन नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे गए नाटकों में नवीन [illegible] और तत्कालीन [illegible]-वातावरण का प्रभाव मिलता है ......[illegible] भारतेन्दु कृत '[illegible]' यद्यपि प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखी गई [illegible] है, किन्तु उसमें रासलीला और पारसी शैलों का प्रभाव मिलता है ।"
--डा०लक्ष्मीसागर [illegible] : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य',प्रयाग,१९५४,पृ०२३

वास्तव में साहित्य से समाज की कोई समस्या सीधे रूप में हल नहीं हो सकती । न ही साहित्य ऐसी योजना बनाता है, जिससे समस्याओं के सीधे हल (डायरेक्ट सोल्युशन) नहीं मिल सके । फिर भी चूंकि साहित्यिक अपने चारों ओर की विषमताओं को और विचारणों को भोगता है, अत: उसकी अभिव्यक्ति में समस्याओं के हल की ओर भी संकेत रहता है । भारतेन्दु-कालीन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने युग की जिम्मेवारियों को स्वीकार किया । अनुवाद के लिए भी ऐसे नाटकों का चयन किया गया, जिनके माध्यम से लेखक तात्कालिक समस्या की ओर संकेत कर सके, चाहे वह 'विद्या-सुन्दर' हो या 'मुद्राराक्षस' इन सभी अनुवादों क में लेखक का केन्द्र वह समस्याएं रही हैं जो उस विषम-युग में उपस्थित थीं । कभी-कभी जो साहित्य, समस्याओं का समाधान खोजता है, वह कलात्मक दृष्टि से अपना मूल्य खो देता है । इस परिणाम से बचने के लिए साहित्य में इस बात को माना गया है कि रचना में समस्या, विचार घटनाएं, उपदेश आदि आयें लेकिन कला का सौन्दर्य इन सब के कारण अक्षुण्ण बना रहना चाहिए । भारतेन्दु-कालीन नाटकों को हिन्दी नाटकों का शैशव ही माना गया है । कथा-संगठन, कथनोपकथन, एवं शैली सम्बन्धी अनेक दोष उनमें भरे पड़े हैं । इसका एक बहुत बड़ा कारण है कि हिन्दी-नाटकों का जन्म कलात्मक सौन्दर्य का परिणाम न होकर, उद्देश्य की पूर्ति के साधन का परिणाम रहा है । अत: इस युग के लेखकों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कहीं उपदेश बनने की आवश्यकता समझी, कहीं देश-प्रेमी और समाज-सुधारक बनने की । अत: हिन्दी नाटकों के प्रथम चरण में जिस उत्साह से नाट्य-रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ, उस उत्साह से उसकी [illegible] पुनरा का प्रयास नहीं रहा । साथ ही हिन्दी के पास अपनी कोई रंगमंचीय परम्परा और रंगमंच न था । अत: नाटकों में रंगमंच की दृष्टि से कलात्मक सन्तुलन न आ सका ।

भारतेन्दु-काल में नाट्य-रचना के उत्साह को देख कर ऐसा लगने लगा था , जैसे हिन्दी-नाट्य परम्परा की यह धारा दिनों-दिन अगाध एवं गम्भीर होती जायगी । परन्तु जनता की कुरुचि, अशिक्षा, और रंगमंच

के अभाव में इसका पतन हो गया । लोगों ने पारसी रंगमंच के कलुषित दायरे में बन्द होकर सुसंस्कृत नाट्य-साहित्य की ओर से आंखें फेर लीं । अनेक मेधावी साहित्यकारों ने भी अपने-आपको पारसी रंगमंच का व्यावसायिक लेखक बना लिया और जन-जीवन के लिए सस्ते नाटकों का सृजन करने लगे । सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह पारसी रंगमंच रीतिकालीन शृंगारिक का ही नाटकीय रूप था । इनमें न चरित्र थे, न संस्कृति न मर्यादा और सामाजिक सत्य । इन सब वस्तुओं के नाम पर नाच-कूद भौंडा-अभिनय, शृंगारिक गीत और भावुक संवाद थे । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को पारसी थिएटर में शकुन्तला का भ्रष्ट और मर्यादा-हीन अभिनय देखकर हार्दिक दु:ख हुआ था । जिसकी एक तीव्र प्रतिक्रिया उनपर हुई थी । अत: उन्होंने अपने नाटकों में सदैव इस बात का ध्यान रखा कि भारतीय संस्कृति में किस पात्र की क्या सीमाएं और क्या मर्यादाएं हैं ।

विषय की दृष्टि से इस युग के नाटकों का महत्व बहुत अधिक है । प्राचीन संस्कृत -नाटकों में प्राय: धर्म, प्रेम और प्रकृति इन्हीं विषयों को ग्रहण किया गया है । यद्यपि इन विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्वेषण की प्रशंसा करनी ही पड़ती है, फिर जीवन के अन्य क्षेत्रों का इन नाटकों से कोई सम्बन्ध नहीं था । परन्तु भारतेन्दुकालीन नाटकों में अनेक ऐसे विषय ग्रहण किए गए, जिनका सीधा सम्बन्ध तात्कालिक जन-जीवन से था[1] । शोषण, कुरीतियां, धार्मिक अन्धविश्वास, [illegible] का मोह, सांस्कृतिक ह्रास, अशिक्षा, [illegible], छुआछूत परतन्त्रता, पराभव, आत्महीनता असंगठन आदि अनेक ऐसी ही बुराइयाँ हमारे देश के जन-जीवन में व्याप्त थीं । इन्हीं बुराइयों को दूर करना इन साहित्यकारों के साहित्य का लक्ष्य था । अत: इस युग का साहित्य कला की अपेक्षा उद्देश्य की पूर्ति की ओर झुका हुआ दीख पड़ता है ।

भारतेन्दुकाल में सत्-नाटकों के सृजन का साधु-प्रयत्न हुआ । साथ ही नाटक की शास्त्रीय-पद्धति में भी आवश्यक परिवर्तन किया गया । भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों ने अनेक उच्च नाटकों का संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया और नवीन विषयों को लेकर अनेक मौलिक

---

१ डा०[illegible] : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', प्रयाग, १९५४, पृ० २०८

नाटकों का सृजन किया। भारतेन्दु ने अपने जीवनकाल में इस बात की आवश्यकता अनुभव भी की कि हिन्दी का स्थायी रंगमंच स्थापित हो जाए। परन्तु न तो भारतेन्दु की नाट्य-रचना की स्वस्थ परम्परा ही चल सकी और न ही हिन्दी रंगमंच की स्थापना हो सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि साहित्यिक नाट्य-रचना जन-जीवन में स्वीकृत नहीं हो पाती थी। पारसी रंगमंच की सस्ती, सरल, [illegible] नाटकीय शैली के कारण जन-साधारण की रुचि विकृत और पतित हो चुकी थी। अतः साहित्यिक-रचना की मर्यादा और विशदता में लोगों का मन नहीं लगता था। साहित्यिक रचनाएं एक सीमित विद्वन्मण्डली में सीमित होकर रह जाती थीं। जिससे साहित्य और साहित्यकार दोनों की सीमा संकुचित रही। दूसरे रंगमंच के नाम पर पारसी रंगमंच ही स्थायी और सक्रिय था। इस रंगमंच की अपनी अनेक ऐसी विशेषताएं थीं, जिनके कारण उस समय की भोली और अशिक्षित जनता इसके पाश को तोड़कर शुद्ध, साहित्यिक (ऊबा देने वाली) रचनाओं में रुचि लेने को तैयार न थी। भारतेन्दु के अथक प्रयासों से कुछ नाटकों का मंचीकरण हुआ। लेकिन इससे हिन्दी के स्थायी रंगमंच का अभाव पूरा न हो सका। उनके पश्चात् इस तरह के प्रयत्न भी नहीं हो सके। आज तक रंगमंच का यह अभाव हिन्दी-नाटकों की कलात्मक उन्नति में अवरोध बना हुआ है। यथार्थ तो यह है कि भारतेन्दु-युग के उत्तरार्द्ध में ही हिन्दी-नाटकों का पराभव प्रारम्भ हो चुका था। पारसी-रंगमंच की धूम-धाम और विजय ने हिन्दी के रंगमंच की समस्त सम्भावनाओं पर पानी फेर दिया।

भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् बहुत दिनों तक कोई महान प्रतिभा इस क्षेत्र में अवतरित न हो सकी। इस सत्य को तो स्वीकार करना ही होगा कि भारतेन्दु ने तथा उनके अनुकरण पर उनके साथियों ने प्राचीन एवं नवीन नाट्य-शैलियों का अपूर्व मिश्रण प्रस्तुत कर नवीनता की ओर एक चरण बढ़ाया,[1]

---

[1] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : '२० वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य, नए संदर्भ' प्रयाग, १९६६, पृ० २१७।

लेकिन फिर भी नाटक -साहित्य में अनेक दोष थे। जिनका संकेत इसके पूर्व ही किया जा चुका है। 'प्रसाद' का आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ। जब भारतेन्दु मण्डल की ओजस्विनी नाट्य-धारा मन्द पड़ने लगी थी। अनेक महान रचनाओं के सर्जक एक-एक कर चले जा रहे थे। रंगमंच के अभाव और पारसी-रंगमंच के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हिन्दी-नाट्य -साहित्य का भविष्य अं[illegible] गली के मोड़ पर विदिग्ध्रा- सा खड़ा था। उधर बंगाल में रंगमंच की स्थापना (अंगरेजी रंगमंच के आधार पर) हो चुकी थी। वहां माईकेल मधुसूदन, गिरीशचन्द्र घोष, दीनबन्धु मित्र, द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की धूम मची हुई थी। सहयोग और विरोधों के बीच बंगला नाट्य-साहित्य प्रान्तीय सीमाएं लांघकर अन्य प्रान्तों में भी लोकप्रिय हो रहा था। हिन्दी प्रदेश में अनेक बंगाली रचनाओं के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए गए। इनमें डी०एल० राय के नाटक 'शाहजहां', 'नूरजहां', 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गादास' आदि मुख्य हैं। इन नाटकों में प्राचीन पद्धति से एकदम छुटकारा पाकर लेखकों ने अंगरेजी नाटकों को अपना आदर्श बनाया था। इस प्रकार अंगरेजी प्रभाव इन बंगला नाटकों के माध्यम से हिन्दी-नाटकों पर भी पड़ा। इस बात को डा० दशरथ ओझा ने भी स्वीकार किया। 'द्विजेन्द्रलाल के नाटकों के द्वारा शेक्सपियर का प्रभाव हिन्दी पर गहरा पड़ रहा था।'[1] इसप्रकार 'प्रसाद' के सामने एक तो भारतेन्दु की भारतीय नाट्य-पद्धति थी जो संस्कृत नाट्य- शास्त्र की आवश्यक बन्दिशों से संत्रसित थी। दूसरी बंगाल की स्वच्छन्द और प्रयोगवादी नाट्य-शैली थी, जिसमें संघर्ष, करुणा, [illegible], [illegible] आदि को स्थान दिया गया था। 'प्रसाद' एक महान् प्रतिभावान् साहित्य-पुरुष थे। उन्हें प्रभावों के बीच से एक स्वतन्त्र और एक संयमित रास्ता स्वीकार करना था। जैसा कि प्राय: महान् व्यक्तित्व प्रभावों को स्वीकार करके भी अपनापन नहीं खोता, उसी प्रकार 'प्रसाद' ने भी हिन्दी-

----

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' दिल्ली, १९७०, पृ० २०८।

साहित्य को नई नाट्य-शैली देकर अपना अलग स्थान बना लिया ।

'प्रसाद' ने हिन्दी-नाटक को जो रूप दिया, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-काल में जन्मे नाटक-साहित्य को रूप-सौन्दर्य और जीवन्त-शक्ति 'प्रसाद' ने ही दी है । जिससे आने वाले नाट्य साहित्य को स्थैर्य मिला । 'प्रसाद' से पूर्व हिन्दी-नाटकों में विषयों की अनेकरूपता तो मिलती है, परन्तु जीवन की दार्शनिक संकल्प-सत्ता का अभाव एवं भौतिकवादिता भी है । सामाजिक का हृदय जब तक किसी विचारधारा से अभिभूत होकर किसी नाटकीय पात्र के साथ जुड़ नहीं जाता, तब तक नाटक के रस को वह ग्रहण नहीं कर सकता ।'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास है, परन्तु पात्रों की चिन्तन-प्रक्रिया और घटनाओं के काल्पनिक सत्य के कारण वह इतिहास स्वाभाविक (सात्विक) रूप में मुखर हो उठा है । सामाजिक को ऐसा लगता है कि 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य और 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना अभी भी धरती पर हैं ।'प्रसाद' एक दार्शनिक थे । जीवन के विषय में उनका मौलिक चिन्तन इस बात का साक्षी है कि सुख-दु:ख, स्नेह,विश्वास ~~किसी~~ जीवन-प्रवाह के स्रोत हैं । जब 'प्रसाद' ने सुख की बात कही तो उनके पात्र के अन्दर से एक पूर्ण तुष्टि अभिव्यक्त होती है। 'विशाख' में चन्द्रलेखा को राज्य नहीं विशाख का सान्निध्य चाहिए[१] । वह कुटिया में पूर्ण सुखी है अत: राज्य को तुच्छ लिप्सा उसे विचलित नहीं कर पाती ।इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' की मालविका,'चन्द्रगुप्त' के प्रेम को चुपचाप लेकर मर जाती है,[२] 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा का प्रेम अमर है[३] । अत: उनके पात्रों में सजीव चिन्तन है, जो पहली बार हिन्दी नाटकों में एक अजस्र जीवनशक्ति लेकर आया । नाट्य - परम्परा में उनका यह योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'प्रसाद' ने इतिहास को अपने नाटकों का आधार बनाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी रचनाओं पर इतिहास हावी हो गया है । 'प्रसाद' की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि एक सच्चे साहित्यकार के नाते उन्होंने इतिहास को उस रूप में प्रकट किया,जिससे साहित्य के शिव और सौन्दर्य की रक्षा हो सके 'प्रसाद' रोमाण्टिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे ।

---

१ द्रष्टव्य -- 'विशाख'
२ ,, -- 'चन्द्रगुप्त'
३ ,, -- 'ध्रुवस्वामिनी'

जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण कुछ अनोखा था । अभाव में भी अपना सुख है, विद्रोह में भी अपने ढंग की आनन्दानुभूति है । विश्वास और स्नेह अमरता के तत्व हैं । जीवन को एक रंगीन दृष्टि से देखने वाले 'प्रसाद' वर्तमान का सीधा वर्णन नहीं करते, वरन् इतिहास में वर्तमान की खोज करते हैं[1] । यदि इतिहास अपने-आपको बार-बार दोहराता है तो फिर यह कहना कि 'प्रसाद' ने गड़े मुर्दे उखाड़े हैं व्यर्थ है । 'प्रसाद' के ऐतिहासिक पात्र तात्कालिक पात्रों की तरह सम-सामयिक हैं । उनका इतिहास-काल सीमाओं को लांघकर वर्तमान तक चला आता है । 'चन्द्रगुप्त' में अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीयता, राजनीतिक परिवर्तनों की आवश्यकता आदि विषय इतिहास के माध्यम से उनके अपनी युग की व्याख्या है । 'ध्रुवस्वामिनी' की वैवाहिक -समस्या गुप्तकाल की ही नहीं, आज के समाज की भी समस्या है । इतिहास को आधार बनाने के पीछे 'प्रसाद' का आशय यही है कि हम इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भी इसी प्रकार की स्थितियों को देखें । चूंकि इतिहास में हमारे लिए अविश्वास करने की स्थिति शेष नहीं रह जाती है, अतः यदि कोई लेखक ऐतिहासिक पात्रों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर सकता है तो उसकी रचना अधिक प्रभावपूर्ण एवं विश्वसनीय होती है ।

'प्रसाद' से पूर्व राष्ट्रीयता के महत्व को समझकर देश-प्रेम, राष्ट्रप्रेम भाषा-प्रेम और संस्कृति-प्रेम को नाटकों में स्थान दिया गया । परन्तु नाटकीय कला की अवहेलना करके लेखक स्वयं उपदेशक बन कर सामने आता है । वास्तव में अपरिपक्व लेखक उन उद्‌गारों में बहता है, तो उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है । और वह भावों के प्रवाह, के पात्रों के स्वभाव, नाटकीय व संयोजन आदि को भूल जाता है । भारतेन्दु-काल के अनेक लेखकों की यही दशा थी । परन्तु 'प्रसाद' के नाटकों में राष्ट्रीयता का उद्‌गारपूर्ण वर्णन है, देश-प्रेम का

---

१ डा० जगदीशचन्द्र जोशी : 'प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन', दिल्ली, १९७०, पृ०८३ ।

भावपूर्ण अभिव्यक्तिकरण भी है, फिर भी उनके नाटकों में यह अभिव्यक्ति उपदेशों के रूप में नहीं वरन् घटनाओं के माध्यम से हुई है[1]। 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य अपनी समस्त क्रूरताओं के साथ देश के एकीकरण में लगा है। सिंहरण मालव की आंचलिक राष्ट्रीयता को छोड़कर देश की सीमाओं पर डट जाता है। परन्तु यदि ये ही पात्र भारतेन्दु काल के लेखक के हाथों में पड़ जाते तो बहुत बड़े उपदेशक बनकर रह जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रसाद' ने नाटकों में भावात्मक स्थितियों में सन्तुलन की आवश्यकता को महत्वपूर्ण बनाया जिससे नाटकीय कला की रक्षा हो सके। इस दृष्टि से 'प्रसाद' हिन्दी नाट्य साहित्य में एक मील के पत्थर की तरह हैं।

किसी साहित्यकार के मूल्यांकन का प्रश्न उस समय बहुत स्पष्ट और सुलझा हुआ हो जाता है, जब वह साहित्यकार अपने ढंग का अकेला हो और सारा युग उसकी महानता से बंध जाता है। ऐसी स्थिति में अधिक तर्क किए बिना उस व्यक्तित्व को प्रकाश-स्तम्भ के रूप में माना जा सकता है। भारतेन्दु एक ऐसा ही व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए और ऐसे ही 'प्रसाद' थे। एक ने नाव को पानी में उतार दिया, और दूसरे ने प्रवाह की बाधाओं की चुनौतियों के बीच नावको एक ऐसे किनारे पर लगा दिया जहां से दिशाओं के खुले पथ निर्बाध रूप में सामने थे। 'प्रसाद' से पूर्व पारसी रंगमंच का प्रभाव नाटक- साहित्य पर रंग जमाने लगा था। बेमेल घटनाएं, भौंड़े कथोपकथन, अनगढ़ मजाक और गीतात्मकता नाटकों के विकास में बाधक तत्व थे। साथ ही नाटकों में चारित्रिक विश्लेषण का कोई निश्चित रूप नहीं था। घटनाओं और तथ्यों का वर्णन आवश्यक भावुकता के दबाव में किया जाता है था।

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली १९७०, पृ० २६०, २६३।

'प्रसाद' ने इन्हीं बातों का अनुभव किया । इसी-समय परम्परा में पनपने वाले 'प्रसाद' भी अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में इस प्रभाव से बच नहीं पाए । उनकी प्रयोगकालीन रचनाओं में वह भावुकता है, जिसके आधार पर उनके पात्र: कुछ अस्वाभाविक और अधिक आदर्श बन जाते हैं[1] । जब 'विशाख' की चन्द्रलेखा को देखते हैं तो वह शुद्ध भारतीय-नारी के रूप में दीखती है । उसके कथोपकथन भावुकता की सीमा को छूते हैं । इसी प्रकार गद्य रोककर पद्य में अपने मन की बात कहने के लिए पात्रों को जैसे अपना रूप बदलना पड़ता है । वास्तव में यह पारसी-रंगमंच का प्रभाव ही है । चन्द्रलेखा एक स्थान पर कहती है--' मैं क्या जानूं कि संसार क्या चाहता है । मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूं । मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आ जायं । किन्तु--

अकेली छोड़कर जाने न दूंगी ।
प्रणय को तोड़कर जाने न दूंगी ।।
तुम्हें इस गेह से जाने न दूंगी ।
हृदय को बेध से जाने न दूंगी[2] ।।'

'किन्तु' से पहले कही गयी बात कुछ अन्य ढंग की या कम महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी 'किन्तु' से पूर्व अच्छे खासे गद्य के प्रवाह को रोककर चन्द्रलेखा का पद्य-कथन कुछ अनोखा और खटकने वाला लगता है । इसी प्रकार उनकी अन्य प्राथमिक रचनाओं में भी निर्माणकाल की कमजोरियों के दर्शन होते हैं । 'जनमेजय का नाग यज्ञ' भी इसी विकास-काल की रचना होने के कारण बिखर कर रह गया । प्रभावान्विति और कथा-संगठन की दृष्टि से यह नाटक एक और

---

१ द्रष्टव्य -- 'सज्जन'(१६१०-११), 'कल्याणी-परिणय'(१६१२), 'करुणालय'(१६१२), 'प्रायश्चित' (१६१४) ।

२ ,, -- 'विशाख', पृ० ४८

एक कमजोर रचना है ।

प्रथम बार 'अजातशत्रु' में प्रसाद की कला अपने संयमित रूप में मुखर हुई है । यद्यपि कथा को कई स्थानों में बांटकर और तात्कालिक इतिहास के अनेक चरित्रों को एक ही नाटक में समेट कर 'प्रसाद' ने इस रचना को भी कुछ प्रभावहीन बना दिया है । परन्तु अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष के सुन्दर समन्वय के द्वारा घटनाओं के औचित्य का प्रतिपादन, इस रचना को महान उपलब्धि है ।

'प्रसाद' के व्यक्तित्व के विकास-मार्ग में के द्वितीय सोपान की रचनाओं में 'अजातशत्रु' के पश्चात् 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'एक घूंट' आती हैं । इन सभी रचनाओं में 'प्रसाद' का महान् साहित्यिक-रूप उभर कर हिन्दी-जगत् के सामने आ गया था । चरित्र-प्रधान शैली के नाटक लिखकर 'प्रसाद' ने हिन्दी-साहित्य की नाट्य-विधा में एक नया प्राण फूंक दिया । उनके नाटकों में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, देवसेना, मालविका जैसे पात्रों को कोई नहीं भूल सकता । उपरोक्त रचनाओं में 'प्रसाद' प्राचीन शास्त्रीय-पद्धति और पारसी रंगमंच की रंगीनियत से मुक्त हो चुके हैं । उनके इन नाटकों में इतिहास, कल्पना और राजनीति का अपूर्व संगम दीख पड़ता है । उन्होंने इतिहास के सत्य को कथा के रूप में स्वीकार किया, परन्तु लेखक के कल्पना सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग भी किया । हिन्दी-नाटकों में पहली बार इसी प्रकार का समन्वय 'प्रसाद' की ही शक्ति का परिणाम है । डा० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है -- " प्रसाद ने ऐतिहासिक घटना-क्रम का बोझ स्वीकार करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व-सम्पन्न बनाया है । उनके सभी पात्र अपनी विशेषता रखते हैं । नाटकीय पात्रों में यह व्यक्तित्व-स्थापना या चरित्र-चित्रण का प्रयत्न हिन्दी-नाटकों के विकास की एक कड़ी है, जो हिन्दी के नाटककारों में प्रसाद जी का स्वतन्त्र स्थान निर्धारित करती है[१] । "

---

१ डा० नन्ददुलारे वाजपेयी : 'जयशंकर 'प्रसाद'', इलाहाबाद, १९५९, पृ० १४४

'प्रसाद' ने भारतीय-जीवन की अति आधुनिक समस्याओं के समाधान भारतीय संस्कृति के माध्यम से खोजने का प्रयास किया । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में मुक्ति(तलाक) और पुनर्विवाह की समस्या को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उठाकर उन्होंने भारतीय संस्कृति का नया अर्थ प्रस्तुत किया है । संस्कृति का अर्थ 'प्रसाद' के अनुसार एक ऐसा प्रवाह है, जिसमें अनेक दिशाओं से आई विचारधाराओं का जल मिल जाता है । इस प्रकार अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति की सीमा का संकुचन छोड़कर 'प्रसाद' ने उसे विश्वव्यापी और विश्व-विजयिनी बना दिया । विश्व-विजेता सिकन्दर यहां से जो लेकर लौटता है, वह भारतीय संस्कृति का अध्यात्म तत्व ही है,जिसमें सारा विश्व समाहित है । सेल्यूकस अपनी पुत्री को भारत के वीर चन्द्रगुप्त की बधू बनाकर अपने-आपको धन्य समझता है । चीन से आया सुस्नच्वांग (राज्य श्री का एक पात्र भी) भारत में सीखा हुआ धर्म अपने देश में फैलाने का वर मांगता है[1] । यह भारतीय संस्कृति विस्तृति है जो विश्व के रंगमंच पर विजय घोष करती है । 'प्रसाद' ने हिन्दी साहित्य में संस्कृति के सूक्ष्म तत्व को बड़े कलात्मक ढंग से गूंथा है । इसलिए 'प्रसाद' का हिन्दी नाट्य साहित्य में विशिष्ट स्थान है ।

पहली बार 'प्रसाद' के नाटकों में सामाजिक को ऐसा अनुभव हुआ जैसे इतिहास के अतीत में होने वाली सूक्ष्म क्रिया [illegible] का पुन: अवतरण हो गया हो और उस युग के चिन्तन प्रधान पात्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं लेकर सामने आ गये हों । नाटक की पहली आवश्यकता है कि उसकी [illegible] और पात्रों में [illegible] की कभी अविश्वास नहीं होना चाहिए। अन्यथा रस-प्रवाह नहीं हो सकता । अपने नाटकों में 'प्रसाद' ने इस बात का निर्वाह बड़ी सावधानी से किया है । घटनाओं की सत्यता और पात्रों की अवतारणा

---

1 द्रष्टव्य —'राज्यश्री', पृ०७२

मात्र से ही नाटक का वातावरण नहीं बन पाता, वरन् उसमें भाषा, सांस्कृतिक परिवेश, रीतियां, परम्पराएं आदि सब का एक साथ सन्तुलित संचयन होना चाहिए। 'प्रसाद' के नाटकों में ऐतिहासिक काल का निर्वाह अत्यन्त सन्तुलित ढंग से हुआ है। उनकी अन्तिम रचनाओं में ऐसे दोष नहीं हैं, जिनके कारण उनके नाटक पात्रों की भीड़-भाड़ और घटनाओं के अनुचित संकलन का उलझा हुआ पिटारा बनकर रह गये हों। 'चन्द्रगुप्त' में लगभग तीस और 'जनमेजय का नागयज्ञ' लगभग छब्बीस पात्रों का मेला है। लेकिन 'ध्रुवस्वामिनी' में लगभग ६ मुख्य पात्र हैं। घटनाओं और स्थानों की दृष्टि से भी यह नाटक बड़ा संतुलित है। अत: सामाजिक आसानी से इसके पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह कि अपने साहित्यिक जीवन में से 'प्रसाद' ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को स्थिरता और विपुलता प्रदान की। रंगमंच के अभाव में भी नाटकों के प्रति 'प्रसाद' का आग्रह उनकी नाट्यप्रियता का ही प्रमाण है। संस्कृति एवं इतिहास-शोध के प्रति उनकी निष्ठा के परिणाम स्वरूप हिन्दी-नाटकों का सत्मार्ग प्रशस्त हो सका। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में कहा जा सकता है कि " नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद का आगमन एक अभूतपूर्व घटना थी।[1]" 'प्रसाद' ने पश्चिम के संघर्ष, द्वन्द्व, यथार्थ और पूर्व की भावुकता पात्रता और आदर्श का ऐसा समन्वय किया, जो उनकी कलात्मक सहृदयता पाकर हिन्दी नाट्य -इतिहास का एक युग बन गया। वे आने वाली पीढ़ियों के आदर्श बनकर रह गए। यही 'प्रसाद' की सबसे बड़ी महानता है कि उन्होंने मरते हुए हिन्दी नाट्य-साहित्य को जीवित ही नहीं किया, वरन् उसे आने वाले युग का नियामक भी बना दिया। डा० दशरथ ओझा ने ठीक कहा है-- 'प्रसाद' ने नाटक के बाह्य और आभ्यान्तरिक दोनों रूपों में नवीनता उत्पन्न की।..... पाश्चात्य यथार्थवाद के विकृत रूप को भी सांस्कृतिक अनुशासन में व्यवस्थित किया।[2]' हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में 'प्रसाद' एक प्रकाश-

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : '२०वीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य : नए संदर्भ' १९६६, इलाहाबाद, पृ०२१८।

२ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' दिल्ली, १९७०, पृ०३७०।

स्तम्भ की तरह पथ-निर्देश करने वाले महान् कलाकार हैं ।

बंगला रंगमंच और राय

बंगाल की जो सुनियोजित नाट्य-परम्परा है, उसका जन्म आधुनिक युग में पश्चिमी प्रभाव से हुआ । यह एक राजनीतिक सुयोग था कि अंगरेजों का शासन कलकत्ता(बंगाल) से प्रारम्भ हुआ । पलासी के युद्ध के पश्चात् बंगाल के दीवानी अधिकार भी अंगरेजों के हाथ में आ गये । अंगरेजों का यह शासन अनेक नवीनताएं लेकर आया । एक ओर तो इस नवीन प्रशासन से बंगाल का प्रारम्भिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया । दूसरी ओर वहां के अलसाए और प्राचीन जीवन में एक नया ज्वार आया । कलकत्ता में अंगरेजों ने मनोरंजनार्थ अंगरेजी-रंगमंच की स्थापना की[1] । इस रंगमंच पर अंगरेजी-नाटकों का मंचीकरण होता था । कभी-कभी बंगाल के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को भी ये नाटक देखने का अवसर मिलता था ।यहीं से आधुनिक बंगला-नाट्य की परम्परा का प्रारम्भ मानना चाहिए । डा० सुकुमार सेनने कहा है, 'बंगला नाटकों की उत्पत्ति अंगरेजी स्टेज अथवा रंगमंच के प्रवर्तन के पश्चात् हुई[2] ।' अंगरेजी-रंगमंच की स्थापना ने बंगाल के अनेक नाटक-प्रेमियों को प्रोत्साहित किया ,जिसके परिणामस्वरूप बंगाल रंगमंच की स्थापना हुई । जिस रंगमंच पर प्रथम बंगाली नाटक खेला गया, उसकी स्थापना 'हेरासिमलेबेडेफ' नाम के एक रूसी व्यक्ति ने १७९५ई० में कलकत्ते में की थी[3] । इस रंगमंच पर खेला जाने वाला नाटक अंगरेजी का अनुवाद था । यद्यपि इस नाटक से हम बंगला -नाट्य-परम्परा का प्रारम्भ नहीं मान सकते,

---

१ 'कलकत्ता में पहला अंगरेजी रंगमंच १७५६ में स्थापित हुआ ।'
डा० सत्येन्द्र :'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास',उ०प्र०, १९६१,पृ० १६३

२ डा० सुकुमार सेन :(बंगला-साहित्येर कथा)'बंगला-साहित्य की कथा'
प्रयाग, १९६५,पृ० १३५ ।

३ डिसगाइज का अनुवाद छद्मवेश नाटक ।

फिर भी इसको बंगला-रंगमंच का प्रथम नाटक होने का श्रेय प्राप्त है। इस नाटक के मंचीकरण में अंग्रेजी-रंगमंच का प्रभाव महत्वपूर्ण है। इसके पश्चात् 'नवीनचन्द्र बसु महाशय के घर पर श्याम बाजार में १८३३ई० प्रसिद्ध नाटक 'विद्या-सुन्दर' खेला गया। इस नाटक में कोई नवीनता नहीं थी। इसमें प्राचीन गीति-काव्य का नाटकीय प्रयोग था। और विषय भी पुराना था। इस परम्परा में एक नवीन रूप लेकर आने वाला नाटक है --'भद्रार्जुन'। इसकी नवीनता में अंग्रेजी प्रभाव की स्वीकृति इस नाटक के लेखक श्री ताराचरण सीकदार ने भूमिका में की है। उन्होंने इस नाटक में बड़े साहस के साथ पारम्परिक शास्त्रीय-बन्धनों को अस्वीकार किया है। इसके नाटक से पूर्व बंगाल में कोई ऐसी नाट्य-परम्परा नहीं थी, जिसमें गद्य का प्रयोग किया गया हो। लौकिक यात्रा नाटकों में गेय शैली का प्रयोग होता रहा था, परन्तु इस नाटक में पहली बार गद्य कथनोपकथन का प्रयोग हुआ। यद्यपि प्राचीन गेय शैली का रूप भी इसमें प्राप्त होता है, परन्तु फिर भी एक नवीन नाट्य-परम्परा के प्रथम बंगला-नाटक होने का श्रेय इस नाटक को प्राप्त होता है, क्योंकि इसका शिल्प नाट्य-साहित्य का एक नया प्रयोग १८५२ ई० में हुआ, परन्तु इसका मंच अवतरण नहीं हो सका।

पण्डित रामनारायण 'तर्करत्न' का नाम बंगला नाट्य-परम्परा में उल्लेखनीय है। उन्होंने पहली बार एक सामाजिक विषय को लेकर 'कुलीन-कुल सर्वस्व' (१८५४) नाटक लिखा। इस नाटक में [illegible] स्वर और चारित्रिक - विकास के दर्शन होते हैं। डा० सत्येन्द्र ने इसे बंगला-रंगमंच पर खेला गया प्रथम लौकिक मौलिक नाटक माना है[१]। इसके पश्चात् बंगला के अनेक अमीर व्यक्तियों ने अपने घरों पर अपने व्यक्तिगत व्यय के आधार पर अनेक नाटक खिलाए। इनके लेखकों में कालीप्रसन्न सिंह, रामनारायण 'तर्करत्न', माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्र आदि हैं। इनमें दत्त के ऊपर अंग्रेजी का

---

१ डा० सत्येन्द्र : 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', उ०प्र०, १९६१, पृ० १६५

अत्यन्त प्रभाव देखा जा सकता है । दीनबन्धु मित्र ने पहली बार 'नील दर्पण' (१८६०) नामक राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नाटक की रचना की । कुल मिला कर बंगाली रंगमंच पर अवतरित नाटकों में अधिकांश संस्कृत के अनुवाद अथवा अंगरेजी-नाटकों के छाया-अनुवाद थे । फिर भी विषय,शैली और भावों की दृष्टि से इन नाटकों में एक नवीन नाट्य-परम्परा का आभास मिलता है ।

नाटकीय ढंग से बंगला-नाट्य-परम्परा में गिरीशचन्द्रघोष का नाम जुड़ता है । बहुमुखी प्रतिभा के इस युवक को एक बार नाटक देखने के लिए अपमानित होना पड़ा था । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है । एक युग तक बंगला के रंगमंचों पर वहां के अमीरों,राजाओं और जमींदारों का अधिकार रहा है । इन नाटकों को देखने के लिए कुछ खास लोग ही जा सकते थे । एक बार गिरीशचन्द्र घोष का अपमान बाहर खड़े दरवान ने कर दिया था, जिसके कारण इस युवक ने एक सार्वजनिक रंगमंच की स्थापना का संकल्प किया । अपनी अटूट लगन और अथक परिश्रम से गिरीशचन्द्र घोष ने पहली बार बंगाल में सार्वजनिक रंगमंच(१८७२) का निर्माण किया और इस रंगमंच के लिए अनेक नाटक भी लिखे । ऐतिहासिक, पाराणिक, सामाजिक,धार्मिक आदि सभी प्रकार के रंगमंचीय नाटक लिखकर बाबू घोष ने बंगला-नाट्य -परम्परा को जन-जीवन से जोड़ दिया[1] । कुछ भी हो, गिरिश चन्द्र घोष ने अनेक नाटक लिखे,जिनमें से बहुत से प्रभाव और रंगमंच की दृष्टि से अनूठे हैं । इनके नाटकों को साहित्यिक-कृतियां माना जाता है, फिर भी यात्रा की संकीर्णता से वे सर्वथा मुक्त नहीं हो पाए थे ।' इसमें सन्देह नहीं कि इनके नाटकों में यात्रा-परम्परा के अवशेष के रूप में संगीत की बहुलता भी मिलती है[2] ।' नाटकों में राष्ट्रीयता चारित्रिक विशेषता, सम-सामयिकता और धार्मिकता की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति कर गिरीश बाबू ने बंगला नाट्य-परम्परा को ऐसे मोड़ पर लाकर

---

१ डा० श्रीकुमार बनर्जी : 'भारतीय नाट्य-साहित्य : सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती', दिल्ली,पृ०४६३ ।

२ डा० सत्येन्द्र : 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास',उ०प्र०,१९६१,पृ०१७५

खड़ा किया जहाँ से एक सर्वथा नया मार्ग(आधुनिक युग) प्रारम्भ होता है। इसी मोड़ से मार्ग निर्देश करने वाले महान् व्यक्तित्व के रूप में द्विजेन्द्रलाल राय का साहित्य में अवतरण हुआ।

द्विजेन्द्रलाल राय से पूर्व बंगला नाट्य-परम्परा अपने शैशवकाल की अपरिपक्वता से ग्रस्त देखी जाती है। यद्यपि अंग्रेजों के सम्पर्क से बंगाल में एक नितान्त नवीन सामाजिक जीवन का आरम्भ हो गया था। नये युग की औद्योगिक क्रान्ति से जन-जीवन के सामने नये परिवेश की दिशा खुल चुकी थी। फिर रंगमंच की स्थापना जिन प्रभावों और परिस्थितियों में हुई उसके कारण नए जीवन की अभिव्यक्ति उस पर न हो सकी। जमींदार, राजा और साहूकार लोग अंग्रेजों के प्रभाव में थे, अतः उनका व्यक्तिगत जीवन कम्पनी के भाग्य के साथ जुड़ाहुआ था। इसलिए उनके अन्दर वह विद्रोह जन्म न ले सका,जो मध्यम वर्ग में व्याप्त था। रंगमंच पर इस विद्रोह के न आने का कारण यही था कि एक युग तक रंगमंचों पर इसी उच्च वर्ग का अधिकार रहा जो कम्पनी से सम्बन्धित था। ज्योंही रंगमंच जन-साधारण में आया त्यों ही प्रान्तीय जीवन की विषमताओं और प्रशासकीय कटुताओं का मंचीकरण होने लगा। 'नाट्य दर्पण' इसी परम्परा का एक प्रारम्भ है।

नाटकीय-विषयों की दृष्टि से डी०एल०राय से पूर्व के नाटक बड़े स्थूल होते थे। लौकिक एवं पौराणिक कथानकों को लेकर ही नाटक लिखे जाते थे। सब के जाने-पहिचाने पौराणिक या धार्मिक चरित्रों को ही नाटकों का आधार बनाया जाता था। या फिर संस्कृत अथवा अंग्रेजी-नाटकों के कथानकों को थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया जाता था। अत्यन्त भावुकता-पूर्ण अनोखे और अतिमानवीयतापूर्ण कथा के कारण नाटकों का दायरा बड़ा सन्तुलित था। सम्प्रति समाज की भावनाओं,समस्याओं और विषमताओं का इन नाटकों का दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। पहली बार माइकेल मधुसूदन के नाटकों में इस कोरी भावुकता से छुटकारे का आग्रह दीख पड़ता है। परन्तु वे इससे छूट नहीं सके। उनके बहुचर्चित नाटक 'शर्मिष्ठा' में श्रीहर्ष की 'रत्नावली' का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन नाटकों में एक और तुल्य भाव इनका

आदर्शवाद है । यह आदर्शवाद बंगला-नाट्य-परम्परा की अल्पायु का ही प्रमाण है । अभी बंगला-लेखकों ने जीवन की सत्यता का वर्णन करना नहीं सीखा था । उनके ऊपर प्राचीन-महापुरुषों और आदर्श पात्रों का ही प्रभाव था । समाज में जीने वाले साधारण मानव की यथार्थ खुरदरी भूमि पर उनके कदम नहीं पड़े थे । १८६०ई० में प्रकाशित 'नील दर्पण' अपवाद के रूप में प्रथम राष्ट्रीय यथार्थता का नाटक था । जिसमें नील की खेती में संलग्न निरीह मजदूरों की अपरिमित कठिनाइयों का दु:खद वर्णन था । इस दु:ख के जिम्मेदार नील की खेती के मालिक अंग्रेज थे । इस नाटक ने बंगाल में हलचल पैदा कर दी, इसकी अवतारणा से एक ओर तो नाटकों में राष्ट्रीय-भावना का मार्ग खुल गया, दूसरी ओर रंगमंच सम्बन्धी सीमाओं की ओर सरकार का ध्यान गया । इसी नाटक के कारण रंगमंच और सरकार का संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय भावना का संघर्ष परीक्षा में पड़कर और अधिक मजबूत होने लगा । इसी राष्ट्रीय-भावना की सम्प्रेषणीयता के लिए डी०एल०राय ने अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की जिनमें 'राणा प्रताप सिंह' (१९०५), 'दुर्गादास' (१९०६), 'चन्द्रगुप्त' (१९११) आदि प्रमुख हैं ।

द्विजेन्द्रलाल राय से पूर्व नाटकों पर यात्रा-नाटकों की गेय शैली का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है[1] । कथोपकथनों में गेयता की यह बड़ी अपच थी । इससे नाटक के प्रवाह और चरित्रों की स्वाभाविकता, नष्ट हो जाती थी । कुछ नाटकों में इस प्रभाव से बचने के प्रयास दीख पड़ते हैं । जैसे '[illegible]' (सीकदार) में गद्य का प्रयोग किया गया है, फिर भी इस [illegible]तनता का प्रभाव द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में समाप्त हुआ ।

किसी भी लेखक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, अपने युग को वाणी देना । जो साहित्यकार अपने युग को पहिचानने में असमर्थ रहता है, उसका साहित्य भी बिखर कर युग-प्रवाह में एक बूंद की तरह खो जाता है ।

---

१ 'बंगला नाटक के उत्थान कर्ता श्री गिरीशचन्द्र घोष ने तो यात्रा मण्डली की सहायता से बंगला नाटकों का सृजन और अभिनय किया ।'

— डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और [illegible]', १९७० दिल्ली, पृ०९६ ।

साहित्य की भूमि पर युग की प्रतिष्ठा करना ही साहित्यकार का गन्तव्य होता है । प्रचलित-परम्परा में युगीन-सत्य का समावेश कराने वाला साहित्यकार अपने युग का अगुवा माना जाता है । इसी सन्दर्भ में द्विजेन्द्रलाल राय का बंगला नाट्य-परम्परा में विशिष्ट स्थान है । उन्हें नाटक के इतिहास का एक युग माना जाता है । इसका कारण यह है कि राय ने प्रथम बार बंगला-नाटकों में अनेक बंधी हुई निरर्थक और अपरिपक्व परम्पराओं को नया स्वरूप दिया, जिससे नाट्य-प्रवाह को अद्वितीय गति मिली ।

१८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति ने प्रथम बार सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बांध दिया था । प्रादेशिकता, जातीयता, और [illegible] के संकुचित दायरों से बाहर आकर राष्ट्रीयता ने राजनीतिक-राष्ट्रीयता का आकार ग्रहण किया । यद्यपि तात्कालिक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन महात्माओं अथवा सन्तों के निर्देशन में चल रहे थे, उन्होंने राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता और आत्मिक विकास को [illegible] बताकर, राष्ट्रीय -उत्थान और नवीन क्रान्ति की वकालत की । इस प्रकार आध्यात्मिकता के आधार पर भारतीय क्रान्ति को आध्यात्मिक-राष्ट्रीयता का नाम भी दिया गया । कहने का अर्थ यह है कि इस युग में भारतीयों के अन्दर एक सामूहिक [illegible] के स्तर पर देश का चित्र उभरता है । इसयुग के महान पुरुषों में राजाराम मोहनराय , केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राजनारायण बसु, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि थे । इन सबने ही एक साथ दोहरे भावों की अनुभूति व्यक्त की । एक ओर समाज का नये आधार पर खड़ा करने की आवश्यकता । दूसरे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की आवश्यकता । ये दोनों उद्देश्य एक-दूसरे से सम्बन्धित थे । राजनीतिक परिस्थितियों के कारण

बंगाल इन चिन्तन-प्रक्रियाओं का केन्द्र बना । इसी समय बंग-भंग की घोषणा ने इसराष्ट्रीय [illegible]वना को द्विगुणित कर दिया । जापान की रूस पर विजय ने भारतीय मनोबल को बढ़ावा दिया । अत: बंगाल एक साथ समस्त भारत की स्वतन्त्रता के लिए लालायित हो उठा । यद्यपि देश के अन्य भागों में भी इस

तरह के जागरण के चिन्ह अनेक रूपों में दिखाई देने लगे थे, फिर बंगाल इस क्षेत्र में सबसे आगे था । १८८३ में देशभर के नेताओं ने एकत्र होकर राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की, जो आगे चलकर हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रमुख साधन बनी । इस जागरणमें समाज-उत्थान और व्यक्ति-उत्थान का जो आग्रह था, वह राय के नाटकों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । उनके ऐतिहासिक नाटकों में उन कतिपय रूढ़ियों की और स्पष्ट संकेत किया गया, जिसके कारण महाराणा प्रताप और दुर्गादास जैसे वीर भी असफल रहे । उनके पारलौकिक नाटकों में जीवन की स्वाभाविक गति को स्वीकार करके व्यक्तित्व उत्कर्ष की भावना की अभिव्यक्ति दी गई । तथा सामाजिक नाटकों में कुप्रथाओं की आंधी में भटकते समाज की चेतना का सत्य दिया गया है । राय अपने नाटकों में उपरोक्त सभी [illegible] को अवतरित करने में सफल हुए हैं ।

राय के नाटकों की एक महान् विशेषता यह है कि उन्होंने ऐतिहासिक चरित्रों का बंधा हुआ प्रचलित रूप बदल डाला । उनका महाराणा प्रताप वीर, साहसी तथा उदार है, परन्तु वह बुद्धिमान और प्रगतिशील नहीं है । अत: वह जातीयता की संकुचित [illegible] में बंधकर असफल राजनीतिज्ञ की तरह समाप्त हो जाता है । इसी प्रकार 'नूरजहां' और शाहजहां आदि पात्रों को भी लिया जा सकता है । इतिहास इनके विषय में केवल घटनाओं का उल्लेख कर सकता है, परन्तु साहित्यकार जब इतिहासके पात्रों को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है तो 'सम्भाव्यता के आधार पर वह उन चरित्रों का आंतरिक और बाह्य परिचय पाठकों को कराता है ।'नूरजहां' इस दृष्टि से राय की एक सशक्त रचना है । इसकी नाटक की भूमिका में लेखक ने स्वयं स्वीकार कियाहै, 'इस नाटक में बाहर के युद्ध की अपेक्षा भीतर का युद्ध दिखलाने में ही मैं [illegible] रहा हूं ।' बंगला नाट्य-परम्परा में यह एक नया प्रयत्न ही कहा जायगा अन्यथा इससे पूर्व पात्रों का परिचय, पात्र स्वयं नहीं, लेखक देता था । जो कोरी भावुकता और चमत्कार के [illegible] स्तर पर [illegible] था । मनोभावों के प्रदेश में पैठकर

परिस्थितियों के अनुसार चरित्र का विश्लेषण करना एक शक्तिशाली, अनुभवी, भावुक और प्रगतिशील लेखक का ही कार्य है, जिसका द्विजेन्द्रलाल राय ने भली प्रकार निर्वाह किया । इसलिए राय का बंगला नाट्य-परम्परा में विशिष्ट स्थान है ।

द्विजेन्द्रलाल राय पर वर्तमान का गहरा दबाव था । जिसके कारण इतिहास के अनेक युगों को उन्होंने वर्तमान की परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा । उनका इतिहास, इतिहास न होकर उनका अपना युग ही है । उनके सभी नाटकों में भारत के जाने-पहिचाने पात्र हैं, जैसे भीष्म, अहिल्या, सीता, शाहजहां, चन्द्रगुप्त , चाणक्य, नूरजहां, जहांगीर आदि हैं, परन्तु इन पात्रों का विश्लेषण करते समय राय की दृष्टि वर्तमान इतिहास पर रही है । डा० सत्येन्द्र का यह कथन इस बात की पुष्टि करता है--' फलत: द्विजेन्द्र के नाटकों में ऐतिहासिक पात्र अपने युग की घटनाओं के द्वारा इस युग की भारतीय समस्याओं के समाधान में व्यस्त प्रतीत होते हैं । उनके इतिहास के अतीत में भारत का वर्तमान मूर्तिमान् हो उठा है[1] ।'

रंगमंच की दृष्टि से राय के नाटक अभूतपूर्व सफलता के प्रतीक हैं । उनके नाटक बंगाल के रंगमंच पर ही नहीं, वरन् समस्त भारत में प्रसिद्ध हुए हैं । इसका कारण यह था कि उनके नाटकों में रंग-प्रक्रिया बड़ी सरल और प्रभावशाली है । इन नाटकों में एक ओर पौर्वात्य नाट्य-विधा का रस प्रमुख है तो दूसरी ओर पश्चिम का संघर्ष । दोनों गुणों का सन्तुलित समन्वय कर राय ने अपने नाटकों को सरल भाषा और शैली के आधार पर प्रस्तुत किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रान्तीय भाषाओं में उनका

---

१ डा० सत्येन्द्र : 'बंगाल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', १९६१, उ०प्र०, पृ० १७६ ।

अनुवाद हुआ । इस प्रकार राय बंगाल के प्रथम ऐसे लेखक हैं, जिनको अन्य प्रदेश, विशेषकर हिन्दी भाषी लोगों ने बेहद पसन्द किया है ।

भाषा, कथोपकथनों, कथा-संयोजन और पात्र-योजना की दृष्टि से राय के नाटकों की परख करने पर हम पाते हैं कि उनके पूर्व के नाटकों में एक सन्तुलित नाटकीयता की कमी थी । उस कमी को पूरा करने मर के प्रयास में राय ने अपने नाटकों को मेहनत से संवारा है । बंगला-नाट्य-परम्परा में उनका स्थान-निर्धारण करते समय इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने नाट्य साहित्य में एक सर्वथा नवीन युग का प्रारम्भ किया जिसका प्रभाव न केवल ही बंगला भाषी नाटककारों पर, वरन् अन्य भाषी साहित्यकारों पर भी पड़ा ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'प्रसाद' और राय अपने-अपने क्षेत्रों में महत्वपूर्ण नाटककारों के रूप में मान्य हैं, इसका कारण यह है कि दोनों लेखकों ने युगीन चेतना को पहिचान कर उसे सफल अभिव्यक्ति दी है । 'प्रसाद' और राय ने एक ओर तो नाटक की संरचना में दूसरी ओर उसके आयाम में नवीन प्रतिमान स्थापित किए । दोनों ही लेखक सच्चा कलाकार के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में सफल रहे । राय का रचना-काल 'प्रसाद' पूर्व है । 'प्रसाद' के समय में राय के नाटक हिन्दी प्रदेश में बहुत अधिक प्रचारित नहीं थे, फिर भी 'प्रसाद' उनसे परिचितथे । इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो 'प्रसाद' पर राय का कुछ प्रभाव समझा जा सकता है, लेकिन इससे भी अधिक मुख्य तथ्य यह है कि 'प्रसाद' और राय एक ही भाव-धारा के ऐतिहासिक नाटककार उनकी सांस्कृतिक -चेतना, राष्ट्रीय -भावना और धर्म।क प्रतिबद्धता में अभूतपूर्व साम्य है । जिस कारण उनमें अत्यधिक साम्यता दीख पड़ती है । दोनों लेखक अपने-अपने भाषा-क्षेत्रों में एक नवीन परम्परा लेकर आए हैं, अतः दोनों को नाट्य-साहित्य का युगचेता कहा जाना चाहिए ।

परिच्छेद - ३ -

वैचारिक सन्दर्भ : विभिन्न दृष्टिकोण

- सांस्कृतिक दृष्टिकोण : 'प्रसाद'
- सांस्कृतिक दृष्टिकोण : राय
- राष्ट्रीयता : 'प्रसाद'
- राष्ट्रीयता : राय
- इतिहास एवं कल्पना : विभिन्न विचार
- इतिहास एवं कल्पना : 'प्रसाद'
- इतिहास एवं कल्पना : राय

'नाटककार कथा को कलात्मक जीवन देता है ।'

परिच्छेद -- ३

वैचारिक सन्दर्भ : विभिन्न दृष्टिकोण

सांस्कृतिक दृष्टिकोण : 'प्रसाद'

'प्रसाद' को भारतीय-संस्कृति से मोह था , यह आरोप 'प्रसाद'-साहित्य पर लगाया जाता है (सीमाओं को संकुचित बताने के लिए)। परन्तु यही आरोप उनकी साहित्यिक-विपुलता का पर्याय बन गया है ।'प्रसाद' को भारतीय संस्कृति से मोह था, यह सत्य है पर साथ ही यह भी सत्य है कि उनकी भारतीय-संस्कृति किसी राष्ट्र या देश की सीमाओं में बंधी हुई जीवन-पद्धति नहीं, और उसमें ऐसा कोई तत्व भी नहीं है,जो व्यक्ति की भावनाओं को अनुदार बनाता हो, वरन् उनकी भारतीय-संस्कृति का प्रसार मानव से मानव तक हुआ है । जिसमें न कोई गोरा है न काला, न भारतीय है न अभारतीय । भारतीय संस्कृति में मानवीय विकास की समस्त चेतनाएं,शुभ -आस्थाएं,सेवा,सहयोग,परोपकार,त्याग,अहिंसा,सहिष्णुता आदि गुण साकार हो उठे हैं[१] । अध्यात्म तत्व की केन्द्रीयता से बंधा हुआ भारतीय संस्कृति का चक्र जितना सक्रिय है, उतना ही सुन्दर भी है ।'प्रसाद' का सांस्कृतिक दृष्टिकोण है-- मानव-जीवन की उदार-भावनाओं का अन्वेषण कर उन्हें विश्व-जन में बांटना । उनकी समस्त रचनाओं में एक ऐसा आग्रह मिलता है, जो भारतीय संस्कृति की गरिमा के आधार पर सागर जैसे उदार,गम्भीर,विशाल-हृदय की

---

१ डा० जगदीशचन्द्र जोशी : 'प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक-विवेचन',दिल्ली,१६७०,पृ०६१ ।

खोज में प्रवाहित है ।

अध्यात्मवाद भारतीय-संस्कृति का प्रथम तत्व है, इससे भी अधिक कहें तो इसे भारतीय संस्कृति का मूल तत्व माना जा सकता है । प्रश्न उठता है कि 'अध्यात्म' का अर्थ क्या है ? कुछ लोगों ने निवृत्ति-मूलक चेतना को अध्यात्म कहकर इसे पलायनवाद का पर्याय बना दिया है । ऐसा अर्थ लगाने वाले लोगों ने वास्तव में न तो 'अध्यात्म' का ही अर्थ समझा है और न 'पलायन' का ही । यदि गहराई से सोचा जाय तो आध्यात्मिक व्यक्ति उसे कहा जायगा, जो सांसारिक विषमताओं को जीतकर अतिशय शक्ति का केन्द्र बन गया है, जिसके लिए सुख-दुःख, प्रेम, घृणा, लोभ, मोह जैसी स्थितियां समाप्त हो जाती हैं । उसमें समरसता आ जाती है । तटस्थ भाव से वह केवल मानवमात्र के हित को देखता है । बड़ी-से-बड़ी शक्ति और छोटा-से-छोटा जीव उसकी दृष्टि में औचित्य के समान से महत्व रखते हैं । निष्कर्ष रूप में भारतीय-जीवन के केन्द्र में जो पक्षपात रहित सर्वशक्तिमान् ईश्वर है, उसका अंश प्रत्येक जीव में (आत्मा के रूप में) है, उसको पहिचानना और उसी के सन्दर्भ में जीवनयापन करना अध्यात्मवाद है । 'प्रसाद' के साहित्य में बड़ी-से-बड़ी समस्या और महान्-से-महान् कार्य का संचरण आध्यात्मिकता के आधार पर होता है । उनके नाटकों में अध्यात्मिकता के प्रतीक रूप में अनेक ऐसे पात्र आए हैं, जो नाटक की विषमता के बीच खड़े होकर सन्तुलन की स्थिति बनाने का सत्कर्म करते हैं, जैसे 'चन्द्रगुप्त' का दाण्डायन पूरे नाटक की [illegible] से अलग है, परन्तु नाटक की प्रत्येक घटना और हर एक पात्र को जैसे उन्हीं के आश्रम से पथ मिलता है । दाण्डायन के आश्रम से ही जैसे नाटक का समस्त कार्य-व्यापार चल रहा है । सिकन्दर अपनी महानता का गर्व लेकर विजय का आशीर्वाद लेने के लिए उनके आश्रम में आता है । परन्तु दाण्डायन उसकी महानता से पराभूत नहीं होता । विश्व-विजेता सिकन्दर का आना उस महात्मा के लिए कोई बहुत बड़ी बात नहीं है । यह उसकी शक्ति का ही [illegible] है । यही उसकी आ[illegible] है, यही भारतीय

संस्कृति की विपुलता है ।

दाण्डायन -- स्वागत अलक्षेन्द्र । तुम्हें सुबुद्धि मिले ।

सिकन्दर -- महात्मन् ! अनुगृहीत हुआ, परन्तु मुझे कुछ और आशीर्वाद चाहिए ।

दाण्डायन -- मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूं । क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे, वे अमंगलजनक होंगे ।

सिकन्दर -- मैं आपके मुख से जय सुनने का अभिलाषी हूं ।

दाण्डायन -- जय घोष तुम्हारे चारण करेंगे, हत्या, रक्तपात और अग्निकाण्ड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं । विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र ! राज-सत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं । इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगो[1] ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि दाण्डायन मानवतावाद की पराकाष्ठा है । इस मानवता के अंचल में जो विकार बनकर आयेगा, उसी के लिए इस अध्यात्मिक पुरुष में सुधार करने की चेष्टा होती है । चाहे वह साधारण पुरुष हो या विश्व-विजेता । इतना ही नहीं, नाटक का एक महान भविष्यवाणी भी इसी महात्मा के मुख से होती है --

दाण्डायन -- [illegible], सावधान (चन्द्रगुप्त को दिखाकर) देखो, यह भारत का भावी सम्राट तुम्हारे सामने बैठा है[2] ।

एक ऐसे पुरुष के मुख से भविष्य की इतनी बड़ी बात कहलाने का अर्थ है कि 'प्रसाद' ने इतना बड़ा अधिकार एक अध्यात्मिक दृष्टि से महान् व्यक्ति को देकर भारतीय संस्कृति में अपनी अटूट आस्था व्यक्त की है । इस प्रकार

---

१ द्रष्टव्य --'चन्द्रगुप्त' (नाटक), पृ०८६

२ ,, -- ,, ,, पृ०८८

अध्यात्म-केन्द्रों की योजना (व्यक्ति अथवा आश्रम के रूप में) 'प्रसाद' के लगभग सभी नाटकों में मिलती है। जैसे 'राज्यश्री' में दिवाकर मित्र, 'अजातशत्रु' में गौतम, 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में वेदव्यास और 'विशाख' में प्रेमानन्द आदि।

भारतीय संस्कृति का दूसरा बड़ा तत्व मानवतावाद है। 'प्रसाद' के 'अध्यात्मवाद' का अर्थ वास्तव में मानवतावाद का ही एक पहलू है। जो व्यक्ति जाति, धर्म, रंग और राष्ट्र आदि की संकुचित दीवारों में बन्द नहीं हैं, वह समस्त संसार में एक ही महाशक्ति के दर्शन करते हैं। जो संसार को एक शक्ति का रूप नहीं मानता वह निष्पक्ष उदार एवं न्यायशील नहीं हो सकता। औचित्य किसी जाति, राष्ट्र या व्यक्ति से नहीं, वरन् मानवतावाद से सम्बन्धित है। भारतीय संस्कृति के अध्यात्मवाद में मानवतावाद का तत्व स्वतः ही मिला हुआ है। न्याय और अन्याय, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म का निर्णय मानवतावाद के आधार पर ही सम्भव है। भारतीय संस्कृति ने इसी मानवतावाद को स्वीकार किया है। इसीलिए भारत विदेशियों के लिए भी आकर्षक देश रहा है। बाहर से जो व्यक्ति यहां आए वे यहां की मानवतावादी दृष्टि के प्रशंसक बनकर अपने देश लौटे। 'प्रसाद' के नाटकों में इस प्रकार के अनेक विदेशी-पात्रों की अवतारणा हुई है। जैसे सुएन्च्वांग, सिकन्दर, कार्नेलिया आदि। 'प्रसाद' के नाटकों में मानवतावादी उदारता का पर्याप्त पोषण हुआ है। 'विशाख' में प्रेमानन्द कहता है--'क्या मानवता का परम उद्देश्य तुम्हारी अविचारवस्था में नहीं बह गया था? विचारो, सोचो, फिर राजा होना चाहते हो?'[1] इसीप्रकार मानवता के भावों के प्रति अवरोधी भावों की ओर संकेत करते हुए 'स्कन्दगुप्त' नाटक का मुद्गल कहता है--' जिस हृदय में अखण्ड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतज्ञता और रत्नों का भाण्डार है, जो अपने सुख, अपनी

---

[1] द्रष्टव्य --'विशाख', पृ०७२

तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध है ?[1] इसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भी अनेक स्थलों पर घटनाओं और पात्रों के माध्यम से हम 'प्रसाद' के साहित्य में मानवतावाद के दर्शन कर सकते हैं ।

प्रत्येक सच्चे और ईमानदार कलाकार की कला का लक्ष्य है-- सत्य, शिव और सुन्दर की खोज करना । 'प्रसाद' ने भी इस दृष्टि से हमें निराश नहीं किया है । वास्तव में 'प्रसाद' के सारे साहित्य का लक्ष्य एक ऐसे सत्य की खोज है, जिसमें सौन्दर्य भी हो और शक्ति भी । इस खोज के लिए उन्हें कभी-कभी धरती की सीमाओं को छोड़ देना पड़ा है । कुछ लोगों ने 'प्रसाद' के नाटकों के चरित्रों में आदर्श की स्थिति देखकर उन्हें हवाई साहित्यकार कहने का साहस किया है । परन्तु वास्तव में उनको आदर्श का संस्थापक कहकर हम उनकी यथार्थता को ही प्रमाणित करते हैं । उनका आदर्श यथार्थ को भूलकर किसी काल्पनिक जगत् की सृष्टि नहीं करता, वरन् जगत् की सच्चाई को झेलकर साहस के साथ अपने आदर्श की रक्षा का प्रयास करता है । इसीलिए तो राज्यश्री, दस्यु (शान्ति-भिक्षु) को अपराधी जानते हुए भी अपने भाई से कहती है, --" आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई! आज महाव्रत का उद्यापन है । क्या एक यही दान रह जाय--इसे प्राण दान दो भाई![1]" इसी नाटक का मुख्य पात्र (नायक) हर्ष अपने प्राण-दान तक के लिए प्रस्तुत है । यह क्षमा और त्याग आदर्श की सीमा है । इसी प्रकार परोपकार, सहानुभूति, त्याग, प्रेम, बलिदान, सेवा आदि भावनाओं के सच्चे पोषक-पात्र 'प्रसाद' के नाटकों में भरे पड़े हैं । 'हर्षवर्द्धन, राज्यश्री, विशाख, प्रेमानन्द, व्यास, गौतम, दाण्डायन, चाणक्य, सिंहरण, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, मातृगुप्त, मालविका, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी आदि सभी भारतीय जीवन की विविध

---

1 द्रष्टव्य -- 'राज्यश्री', पृ०७२

विभूतियों की साक्षात् प्रतिमाएं हैं[1] । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार यह प्रमाणित किया जा सकता है कि 'मनुष्य, मनुष्य पहले है, पीछे कुछ और[2]' । उपरोक्त सभी पात्रों में भारतीय संस्कृति का आदर्श स्थापित कर 'प्रसाद' ने यह बताने की चेष्टा की कि यह आदर्श जीवन में सच्चे आनन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है । इसके विपरीत अनादर्श और विकृत पात्रों को प्रस्तुत कर उसकी जीवन दशा का दयनीय उल्लेख भी उन्होंने किया । जैसे मागन्धी[3], शान्ति भिक्षु[4] आदि । विवेकानन्द, राजारामभोहनराय, तिलक, और गांधी के आदर्शों में यदि यथार्थता है तो 'प्रसाद' के आदर्श पात्रों की यथार्थता में सन्देह क्यों किया जाय ? आदर्श जीवन की सर्वोत्तम और सर्वोच्च स्थिति है, उसको प्राप्त करना भले ही सहज न हो, परन्तु असम्भव नहीं है । कुछ भी हो 'प्रसाद' के नारी-पात्रों में यह आदर्श पूरी तरह निखर कर सामने आता है । उनके नाटकों की कुछ नारियों का जीवन आदर्श की पराकाष्ठा को छू जाता है । फिर भी उनमें अस्वाभाविकता का सन्देह नहीं होता, जैसे 'चन्द्रगुप्त' की मालविका हल्के से स्नेह-सम्बन्ध पर बड़े-से-बड़ा बलिदान करने को प्रस्तुत होती है और चुपचाप वह प्रेम की सत्ता पर जीवन की सत्ता का भावनामय समर्पण कर देती है । उसकी रिक्तता का आभास चन्द्रगुप्त को भी होता है और पाठक को भी । आदर्श की स्थापना के लिए 'प्रसाद' ने मालविका के द्वारा सबसे बड़ा बलिदान कराया है । इसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा भी शकराज से अलौकिक प्रेम करते हुए उसके शव के साथ जलकर समाप्त हो जाती है । 'प्रसाद' के नाटकों में भारतीय संस्कृति का आदर्श तत्व नारी-पात्रों के रूप में अधिक मुखर हो उठा है । राज्यश्री, देवसेना, चन्द्रलेखा, कोमा, मालविका, वासवी आदि सभी पात्र किसी-न-किसी

---

1 डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : '२० वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य' ? नये संदर्भ, प्रयाग, १९६६, पृ० २५१ ।

2 वही ; पृ० २५१

3 'अजातशत्रु'

4 '[illegible]'

रूप में महान् आदर्शों के प्रतीक हैं ।

भारत अपनी विशेषताओं के कारण सदैव ही विदेशियों के आकर्षण का केन्द्र रहा है । उनमें से अनेक इस देश पर विजय प्राप्त करने के लिए आए । उनमें से कुछ आक्रान्ताओं ने यहां की संस्कृति को नष्ट करके नई संस्कृति की स्थापना का प्रयास किया, परन्तु आज तक भारत में आने वाले प्रत्येक ऐसे आक्रामक को खाली निराश वापस लौट जाना पड़ा । या फिर इस देश की संस्कृति को स्वीकार करना पड़ा । अगर गहराई से विचार किया जाय तो यह बहुत बड़ा प्रश्न है कि भारत में ऐसा क्या है जो अनेक विदेशी प्रभावों के पश्चात् भी स्थिर और शाश्वत है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'प्रसाद' ने अपनी साहित्यिक उदारता के माध्यम से दिया है । उन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि भारतीय संस्कृति गंगा का पवित्र एवं निरन्तर प्रवाह है, जिसमें हर नदी, नाले का पानी मिलकर गंगाजल बन जाता है । इसी प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रवाह भी बाहर और अन्दर के अनेक विरोधों को अपनी उदारता में समेट कर बह रहा है 'प्रसाद' ने भारतीय संस्कृति के समन्वयता को पहिचाना था, इसीलिए तो मानवतावादी दृष्टिकोण सदैव उनके नाटकों में मिलता है । किसी भी संस्कृति के महान एवं उपयोगी गुण (तत्व) को भारतीय संस्कृति ग्रहण करके अपना अंग बना लेती है । जिस संस्कृति में ऐसी समन्वय की भावना नहीं होगी वह अनेक युगों की जीवन्त संस्कृति नहीं बन सकती है । किसी भी संस्कृति का समन्वयता उसकी शाश्वता का आधार होता है । भारतीय संस्कृति ने शक, हूण, यवन, मुगल, अंग्रेज सभी के विश्वासों का खुले मन से स्वागत किया । इसीलिए 'प्रसाद' के नाटकों में कार्नेलिया[1] भी भारतीय है और सुवासिनी[2] भी । यह समन्वय एक ओर जहां दो भिन्न संस्कृतियों

के सम्बन्धों को सुदृढ़ करता है तो दूसरी ओर सत्य,असत्य,दया-क्रूरता,भोग-त्याग,क्षमा और क्रूरता में भी समन्वय करता है । भारतीय संस्कृति सदैव असत् से सत् की ओर अग्रसर होती है । इसीलिए 'प्रसाद' के नाटकों के बड़े भारी विद्रोही क्रूर,नृशंस,हत्यारे,दस्यु,भोगी पात्र अन्त तक परिवर्तन-चक्र में पड़कर शुद्ध हो जाते हैं[1] । 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में दो भिन्न जातियों को(संस्कृतियों) मिलाकर 'प्रसाद' ने यह सिद्ध किया कि यदि हृदय उदार है तो मानव-जाति की समस्त [illegible] निर्मूल हैं[2] ।

'प्रसाद' ने भारतीय संस्कृति में अपनी परम आस्था का [illegible] दिया । इस कर्तव्य की पूर्ति करने के लिए उन्होंने भारतीय संस्कृति की नवीन व्याख्या की । इस युग में संस्कृति के उस संकुचित अर्थ को समाप्त करना आवश्यक था, जिसमें बंधकर भारतीय संस्कृति जातिवाद,पर्दा प्रथा, बहुदेववाद, बाह्याडम्बर आदि कमजोरियों का संग्रह मात्र रह गयी थी । उन्होंने जातिवाद[3] के प्रति अपनी आवाज उठाते हुए अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन कराया । वह संस्कृति के अनेक सन्दर्भों को नवीन समस्याओं के हल के लिए प्रयोग करते हैं । उन्होंने '[illegible]स्वामिनी' नाटक में धर्म और संस्कृति के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नारी का जीवन भी जीवन है । पुरुष की तरह उसकी अपनी इच्छाएं,अपने स्वप्न और अपनी धारणाएं होती हैं । [illegible]स्वामिनी, रामगुप्त जैसे पाषाण से बांधकर अपना जीवन पानी में डुबा देना नहीं चाहती[4] । इसीलिए वह धर्म और धर्म [illegible] से मुक्ति की दुहाई करती है । कुछ लोगों ने 'प्रसाद' की इस नवीन दृष्टि को [illegible] विकृति का जिम्मेदार बताया है,परन्तु वे भूल जाते हैं कि संस्कृति जीवनयापन का साधन है और साधनों की आवश्[illegible] और युग के अनुसार

---

१ द्रष्टव्य — '[illegible]', '[illegible]', '[illegible] का नाग यज्ञ'

२ सरमा — मणिमाला, तुम सौभाग्यवती हो । इस अवसर पर तुम्हीं प्रेम-
 शृंखला बनकर इन दोनों क्षुद्र जातियों को प्रेम-सूत्र में बांध दो ।'
 '[illegible] का नाग यज्ञ', पृ०६५

३ '[illegible] का नाग यज्ञ'

४ 'ध्रुवस्वामिनी'

परिवर्तित हो जाना चाहिए । अत: संस्कृति को ठोस और अपरिवर्तनशील नियमों के रूप में न मानने वाले विद्वान् संस्कृति का अर्थ ही नहीं समझते । परन्तु 'प्रसाद' ने संस्कृति की प्रकृति समझकर उसकी व्याख्या की है । परिवर्तन उसकी विकृति नहीं प्रकृति है, जिसके बिना संस्कृति या तो विगलित हो जाती है या सीमित हो जाती है । यहाँ तक कि 'प्रसाद' की राष्ट्रीय संस्कृति भी, मानवता के एक बहुत बड़े भाग की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए थी न कि एकराष्ट्र की संकुचित लाभ-भावना के लिए ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' का सांस्कृतिक दृष्टिकोण न तो संकुचित ही था और न पारम्परिक ही । उन्होंने नितान्त स्वतन्त्र रूपमें इस बात का चिन्तन किया कि संस्कृति क्या है ? उसका उपयोग मानव जीवन के लिए किस रूप में हो सकता है ? 'प्रसाद' के इस [illegible] का एक ठोस कारण था उनका युग । उस समय हमारा देश, देश की जनता मूख,हीनता,आतंक,अत्याचार,कुशासन से पीड़ित थी । स्वतंत्रता की आवश्यकता के साथ एक प्रश्न चिन्ह लगा था कैसे ? इसका उत्तर था जागरण के बिना स्वतन्त्रता का स्वप्न देखना निराधार है और जागरण कैसे आ सकता है ? जब तक देश की जनता अपने इतिहास और अपनी संस्कृति को नहीं समझेगी, तब तक संस्कृति स्वतन्त्रता के विषय में सोचना भी व्यर्थ और निर्मूल है । संस्कृति एक ऐसा तत्व है जो मरी हुई जाति में प्राण फूंक सकता है । अत:'प्रसाद' ने एक और भारतीय जन-जीवन को जगाने के लिए दूसरे अंग्रेजों को भारतीयसंस्कृति की उदारता के दर्शन कराने के लिए अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति के समस्त तत्वों का तर्क संगत प्रयोग किया । इसी सन्दर्भ में डा० दशरथ ओझा ने कहा है —' निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दु जी का लक्ष्य है देश-[illegible], किन्तु 'प्रसाद' जी का आदर्श है भारतीय संस्कृति की महत्ता की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित करना ।'[1]

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास',दिल्ली ,१९७०, पृ०२१२

सांस्कृतिक-दृष्टिकोण : राय

द्विजेन्द्र के नाटकों में उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । उनकी मान सी (मेवाड़-पतन) छाया(चन्द्रगुप्त), गौतम (पाषाणी) ,दुर्गादास(दुर्गादास) ,व्यास(भीष्म),सीता (सीता), आदि चारित्रिक अवतारणाएं इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि राय को भारतीय संस्कृति से अपार स्नेह था ।

अध्यात्मवाद भारतीय संस्कृति का प्रथम एवं महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है । भारतीय चिन्ता में परम पिता परमेश्वर को सृष्टि का [illegible] माना जाता है,उसे परम आत्मा का नाम दिया गया है । उसी का प्रसार जीव के रूप में साकार होता है, अत: संसार के सभी जीवों में एक अंगी के अंग होने का शाश्वत सम्बन्ध है । इसी तथ्य को पहिचानना ही अध्यात्म ज्ञान कहलाता है । इस ज्ञान को आत्मा से स्वीकार कर लेना ही "अध्यात्म" है । बहुत दिनों की जड़ता के कारण भारतीय संस्कृति के इस उदात्त तत्व का अर्थ-संकुचन हो गया था । पूजा-पाठ करना " योगी होना, सन्यास ले लेना मात्र ही अध्यात्मवाद का पर्याय हो चला था । राय ने अपने नाटकों में इस जड़ता को दूर कर अध्यात्मतत्व का आदर्श रूप हमारे सामने रखा । उनके अनुसार इस तत्व का अर्थ सृष्टि के सब जीवों से आत्म-प्रेम करना । इसलिए उनके प षाणी नाटक का गौतम अपराधी इन्द्र को मुक्त हृदय से क्षमा कर देता है[1] । 'मेवाड़-पतन' की मानसी केवल - ष्यजाति के लिए अर्पित है न हिन्दू के लिए और न मुसलमान के लिए । यहां तक कि वह अजय के प्रणय-निवेदन को भी मानवता की सेवा के समक्ष ठुकरा देती है । वह संसार के उद्धार की कामना करती है[2] ।

---

१ 'पाषाणी' (द्विजेन्द्र नाट्यावली ,पृ०११

२ 'मेवाड़-पतन' (" ,, पृ०१२६

राय का यह सक्रिय अध्यात्मवाद संसार त्याग, या उदासीनता में नहीं है, वरन् इसमें मानवतावाद का वह उदार भाव है जो मानव को अधिक सक्रिय और कार्य-कुशल बना देता है, इसीलिए 'भीष्म' का वेदव्यास, 'बंगनारी' का सदानन्द, 'परपारे' की सरयू, दुर्गादास, 'शाहजहां' का दिलदार, 'भीष्म के गान्धारी' भीष्म आदि पात्र किसी एकान्त की खोज में नहीं भीड़ की शान्ति के लिए क्रियाशील हैं। इस प्रकार राय के नाटक भारतीय अध्यात्मवाद की नई व्याख्या करते हैं। सारा विश्व उसकी सीमाओं में घिर आता है, इस परिधि में न कोई जाति है, न वर्ण न कोई बड़ा है न छोटा, बस सब एक ही अंशी के अंश हैं इसलिए सभी सहानुभुति के पात्र हैं।

अध्यात्मवाद और मानवतावाद के पश्चात् भारतीय संस्कृति का प्रमुख तत्व समन्वयवाद है। आर्यावर्त का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि इसके आधार के रूप में एक शक्तिशाली संस्कृति है, जिसे आज तक अनेक संस्कृतियों का टकराव भी बदल नहीं सका। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतभुमि पर अनेक आक्रान्ता आए, उनके साथ उनकी सं[illegible]-परम्पराएं भी आयीं, परन्तु भारतीय संस्कृति अपने प्रवाह में अक्षुण्ण रही। इसका कारण यही है कि इस संस्कृति में समन्वय की अपार शक्ति है। हर आने वाले सुदृढ़ विचार, संस्कृत-परम्परा, और उपयोगी अनुभव को भारतीय संस्कृति आत्मसात् कर लेती है। इसीलिए आज भी यह संस्कृति भारतीय है, जब कि इसमें अनेक विदेशी तत्व हैं[1]। राय ने भारतीय संस्कृति के इस तत्व को पहिचाना और समन्वय की धारणा को अपने नाटकों के माध्यम से व्यक्त किया। उन्होंने चन्द्रगुप्त और हेलन को विवाह-सूत्र में बांधकर भारतीय संस्कृति में यूनानी संस्कृति के समन्वय को दर्शाया है। इसी प्रकार "मेवाड़-पतन" में महाबत खाँ और कल्याणी के अटूट सम्बन्ध

---

१ रामधारी सिंह "दिनकर" : "संस्कृति के चार अध्याय", दिल्ली, १९५६, पृ०४९

में 'दुर्गादास' नाटक के कासिम की स्वामिभक्ति में 'दुर्गादास' और दिलेर खाँ के प्रयासों में इस समन्वयवाद की विचारणा ही निहित है । संस्कृति कोई नियम या प्रतिबद्धता नहीं, वरन् एक उन्मुक्त जीवन -पद्धति है । इसी विचार को दृष्टि-पथ में रखकर राय ने अपने नाटकों में जातियों, धर्मों और विश्वासों के समन्वय का प्रयास किया है ।

एकेश्वरवाद भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है । इसको हम पहले भी कह चुके हैं कि भारतीय धर्मों में ईश्वर या देवताओं के अनेक रूपों की पूजा होती है, परन्तु उन सब में एक परम शक्तिमान् , अपरम्पार, ईश्वर को माना जाता है । रूपों और धर्मों की भिन्नता भक्ति-पद्धतियों की भिन्नता है, ईश्वर की सत्ता के विषय में विचारों की विभिन्नता नहीं । भारतीय जन-जीवन में एक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है । यह एक ऐसा तत्व है जो भारतीयों की विभिन्नता को एकता के सूत्र में बांध देता है । भारतीय संस्कृति में पला हुआ कोई भी व्यक्ति न केवल हिन्दू धर्म में ही वरन् अन्य अहिन्दू धर्मों में भी उसी ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है । इसीलिए एक सच्चा हिन्दू अन्य धर्मी व्यक्तियों से भी प्रेम करता है । राय के नाटकों में पग-पग पर इस उदारता के दर्शन होते हैं । राणा प्रताप अपने चिर बैरी अकबर की कन्या की रक्षा करता है[1] । दुर्गादास शाहजादा अकबर के परिवार को सुरक्षित लौटा देता है[2] । यहाँ तक कि भारत-भूमि पर पले अहिन्दू पात्र भी भारतीय संस्कृति के इस तत्व को स्वीकार करते हैं --

मेहर० -- सम्राट ! किसेर जान्य ए तो तार्क, एतो युक्ति, ए तो आलोचाना, बुझिना ! धार्मि एको ! ईश्वर एको ! नीति एको[3] ।

---

१ द्रष्टव्य -- 'राणा प्रताप सिंह ': राय

२ ,, -- 'दुर्गादास ' : राय

३ 'राणा प्रताप सिंह ' : 'द्विजेन्द्र -नाटावली' १, पृ०१३२

भारतीय संस्कृति के आदर्शवाद का भी राय के नाटकों में कलात्मक प्रदर्शन है । उन्होंने अनेक ऐसे पात्रों की सृष्टि की जो अपने आदर्शों के लिए मर जाते हैं, जैसे 'परपारे' की सरयू, 'बंगनारी' का देवेन्द्र राणा प्रताप सिंह, दुर्गादास, कासिम, जोशी बाई, गोविन्द सिंह, सत्यवती, मानसी, लीला आदि । इनमें अधिकतर आदर्श भारतीय नारियों का है जो अपने आदर्शों के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने को तत्पर रहती हैं । जोशीबाई इसलिए मर जाती है कि नौरोजा मेले में अकबर ने उसे कुदृष्टि से छू दिया था[1] । उसका आदर्श एक ओर राष्ट्र के लिए है, दूसरी ओर पति के लिए । राणा प्रताप सिंह का आदर्श इतिहासप्रसिद्ध ही है । राय का गोविन्द सिंह 'राणा प्रतापसिंह' और 'मेवाड़-पतन' दोनों नाटकों में अवतरित हुआ है । वह केवल लड़ना जानता है, देश के लिए । दुर्गादास का स्वामी-भक्ति का आदर्श और कासिम का कर्तव्य-परायणता का आदर्श अपने-आप में महान है । राय ने अपने नाटकों को इस आदर्श की भाव-भूमि पर खड़ा करके यह प्रमाणित कर दिया कि उन्हें आदर्श के महान भाव से अत्यधिक लगाव था । स्वयं उनका जीवन आदर्श का एक अच्छा उदाहरण है । अल्प अवस्था में ही पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने जीवन भर दूसरी शादी नहीं की और कठोर आदर्श का पालन किया । वास्तव में यह आदर्श असम्भव नहीं, वरन् कठिन साध्य भी है । 'परपारे' की सरयू महिमारंजन के लिए सब कुछ सहन करती है और अवसर आने पर मरने के लिए भी तैयार हो जाती है । यह भारतीय संस्कृति का ही प्रभाव है ।

भारतीय संस्कृति के अनुसार नारी को पूज्य माना जाता है । राय के नाटकों में स्थान-स्थान पर नारी के सम्मान को आवश्यक बताया गया है[2] । नारी (मुरा) का अपमान करने वाला नन्द समाप्त हो जाता है ।

---

१ द्रष्टव्य -- 'राणा प्रताप सिंह'

२ ,, -- 'च[illegible]'

राणा प्रताप सिंह जो भारतीय संस्कृति का प्रतीक है । अपने शत्रु अकबर की पुत्री मेहर को सम्मान सहित अकबर के पास पहुंचा देता है[1]। महावत खाँ गजसिंह को इसलिए दुत्कारता है कि वह नारी जाति के प्रति छिछले भाव रखता है[2]। राय के अनुसार नारी ईश्वर की वह कोमल रचना है जो सृष्टि का सन्तुलन करती है । अत: उसकी कोमलता को निष्ठा की दृष्टि से देखा जाना चाहिए । इसी धारणा के आधार पर उन्होंने नारी को अत्यधिक सम्मान दिया है ।

उपरोक्त मुख्य तत्वों के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के अनुसार सेवा, परोपकार, प्रेम, सहिष्णुता, त्याग, बलिदान आदि सद्भावों का महत्व भी स्वीकार किया गया है । राय के नाटकों में उक्त उदार भावों की यथास्थान अवतारणा हुई है । उनके नाटकों के अनेक पात्र अपने लिए न जी कर दूसरों के लिए, देश के लिए, दुखियों के लिए और मानवता के लिए जीते हैं । मानसी, सदानन्द, केदार, जोशीबाई, भीष्म, व्यास, कासिम, दुर्गादास, राणा, चाणक्य, गोविन्दसिंह, आदि ऐसे ही पात्र हैं, जिनमें सद्गुणों की उदात्त भावनाएं भरी हुई हैं ।

यद्यपि राय के कई नाटक शुद्ध चारित्रिक-विकास का आधार लेकर रचे गए हैं--'नूरजहां', 'शाहजहां' और 'परपारे' इसी कोटि में आते हैं, लेकिन मूलरूप से उनके नाटकों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति का विकसित रूप प्रस्तुत करना है । भारतीय संस्कृति में एक लम्बे समय से जो प्रवाह-हीनता आ गई थी, उसके कारण ही यह देश संसार के मानचित्र से मिट गया था । अत: आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीयता का नया अर्थ सब के समक्ष प्रस्तुत किया जाय । राय ने भारतीय संस्कृति की स्थापना के लिए इस आवश्यकता को अनुभव किया । उन्होंने [illegible] के अर्थ को समझा

---

१ द्रष्टव्य -- 'राणा प्रताप सिंह'

२ ,, -- 'मेवाड़-पतन'

और अपने नाटकों के माध्यम से उसे समझाने का प्रयास किया । प्राचीनता को ढोना, खोखले आदर्शों में जीना, परम्परा से बंधकर चलना,धर्म के संकोच को आदर्श मानना संस्कृति नहीं । जो ऐसा समझता है, वह सच्चा भारतीय नहीं ।' राय ने बड़े प्रबल तर्कों से अपने चरित्रों और घटनाओं के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया कि युग के साथ ही संस्कृति के सन्दर्भों में भी परिवर्तन हो जाता है । यही संस्कृति का प्रवाह है और यही युगीन-उपादेयता । जो संस्कृति युग-चेतना को अस्वीकार करके चलती है, वह टूट जाती है । इन्हीं विचारणाओं के आधार पर राय ने भारतीय संस्कृति को अंगीकार किया है ।

निष्कर्ष रूप में राय के भारतीय संस्कृति के प्रति विचारों पर तर्क की आवश्यकता नहीं ।उसकी कला केवल कला नहीं है,वरन् उसमें सत्य, शिव और सुन्दर का उचित सामंजस्य है मानवीय धरातल पर हुआ है । उन्होंने अपनी रचनाओं की सृष्टि करते समय सदैव इस बात का ध्यानरखा कि उससे जन-जीवन में एक चेतना का अंकुर फूटे । उनका 'राणा प्रताप सिंह' एक इतिहास का दस्तावेज नहीं,वरन् जीवन के संघर्ष की सशक्त कहानी है । पग-पग पर आदर्श की कुमक भोगने वाला राणा प्रताप सिंह हमारे लिए कोरा आदर्श नहीं, वरन् एक उदाहरण भी है । आत्म-त्याग की भूमि पर खड़ी मानसी हमें मानवतावाद का उदात्त विचार बांटती है । दुर्गादास राष्ट्रीय-एकता का प्रतीक है,जोशी पा[illegible] का आदर्श है । [illegible] स्वामिभक्ति का उपदेश है । अर्थात् उपरोक्त समस्त पात्र किसी-न-किसी महानता का सन्देश बनकर आए हैं । राय ने अपने नाटकों की घटनाओं में चरित्रों में तथा प्रतीकों में सर्वत्र भारतीय संस्कृति के आदर्श की कहानी कही है । अतः उन्हें भारतीय संस्कृति के एक सशक्त व्याख्याता के रूप में माना जा सकता है ।

राष्ट्रीयता : 'प्रसाद'

यह सच है कि 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य का मूल स्वर मानवतावाद का है, लेकिन उनकी उग्र राष्ट्रीयता के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उनके नाटकों से यदि राष्ट्रीय-चेतना को निकाल दिया जाय तो उनमें न तो कलात्मक सौन्दर्य बचेगा और न ही गतिशीलता। कहने का तात्पर्य है कि 'प्रसाद' के नाटकों की सक्रियता का आधार उनकी राष्ट्रीयता ही है। यद्यपि उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास को अपने नाटकों का आधार बनाया है लेकिन अपने युग को 'प्रसाद' नहीं छोड़ सके। कोई भी जागरूक कलाकार अपने युग की ओर से आँखें नहीं मूंद सकता है। चूंकि कलाकार युगीन चेतना का [illegible] होता है, प्रभाव और प्रतिक्रिया के रूप में वह अपने युग को झेलता है। अतः उसकी अभिव्यक्त चिन्ता मूल रूप से युगीन ही होती है। इस सन्दर्भ में 'प्रसाद' कोई अपवाद नहीं हैं। यदि उनकी जागरूकता में सन्देह नहीं तो फिर उनकी राष्ट्रीयता में भी कोई सन्देह नहीं रह जाना चाहिए। राय के विषय में भी यह तथ्य है कि उन्होंने इतिहास के माध्यम से अपने युग को नाटकों में उतारा है। इसी प्रकार 'प्रसाद' भी अपने युग की राष्ट्रीय-चेतना से अछूते न रह सके। उनके ऐतिहासिक-नाटकों में भारतीय-राष्ट्र की एक उदात्त कल्पना देखी जा सकती है। 'अजातशत्रु' नाटक यद्यपि किसी स्पष्ट राष्ट्रीय भावना का पोषण नहीं करता, परन्तु उसमें 'प्रसाद' कालीन राष्ट्रीय-संघर्ष की व्याप्ति देखी जा सकती है। चारों ओर घोर झंझावात, संघर्ष, स्थापनाएं, विस्थापनाएं आदि युगीन जीवन का प्रतिरूप हैं। चन्द्रगुप्त शुद्ध राष्ट्रीय नाटक है। इसकी रचनात्मक पृष्ठभूमि में एक सुदृढ़ एवं संगठित राष्ट्र की कल्पना निहित है। बौद्धिक स्तर पर (चाणक्य) भौतिक स्तर पर (चन्द्रगुप्त), [illegible], अलका) भावनात्मक स्तर पर (मालविका, हेलन), आध्यात्मिक स्तर पर (दाण्ड्यायन)

राष्ट्र-एकता का प्रयास ही इस रचना का उद्देश्य है । चाणक्य इसलिए आत्मत्याग का उदाहरण प्रस्तुत करता है कि राष्ट्र नन्द जैसे अयोग्य व्यक्ति के शासन में है । वाह्य आक्रमणों से राष्ट्र को बचाने के लिए उसकी आन्तरिक स्थिति का सुदृढ़ होना आवश्यक है,इसीलिए उक्त सभी स्तरों पर चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के प्रयास किए जाते हैं । आम्भीक जैसे व्यक्तियों का होना कोई आश्चर्य नहीं,परन्तु उसकी असफलता के पीछे उसी की अनुजा अलका कीराष्ट्र-प्रेम की गरिमा है । कहने का तात्पर्य यह है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक मौर्य साम्राज्य की स्थापना का इतिहास होते हुए भी राष्ट्रीय भावनाओं से भरा पड़ा है । चन्द्रगुप्त की यह राष्ट्रीयता युगीन चेतना का ही प्रति फल है ।

इसी प्रकार'प्रसाद' के अन्य नाटकों में भी उनका राष्ट्र-प्रेम देखा जा सकता है ।'राज्यश्री' का हर्ष विजय का दम्भ नहीं राष्ट्रीय एकता चाहता है --

पुल० -- क्यों ? युद्ध से विश्राम क्यों ?

हर्ष -- मुझे साम्राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है ।........... मुझे तो उत्तरापथ के द्वार की रक्षा करनी है ।

पुल० -- नहीं,नहीं, बातों से काम नहीं चलेगा सम्राट । आज मुझे क्षात्र धर्म की परीक्षा देनी है-- युद्ध होगा ।

हर्ष -- कभी नहीं ।.... हम लोग साम्राज्य नहीं स्थापित किया चाहते थे, मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूं । यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक, एक व्यवस्थित राष्ट्र हो गया । मुझे और न चाहिए । यदि इतने ही प्रजाओं को सुखी कर सकूं-- राज-धर्म का पालन कर सकूं, तो कृत-कृत्य हो जाऊंगा[1] ।

---

1 'राज्यश्री', पृ०७८

हर्ष का यह राष्ट्रवादी स्वर एक और हमारे उदार इतिहास की प्रस्तुति करता है, दूसरी ओर हमें एक राष्ट्रीय-स्नेह की गौरवपूर्ण भावना देता है। भारतीय की जातीय रूढ़ि को लेकर लिखा गया 'प्रसाद' का 'जनमेजय का नाग यज्ञ' नाटक भी राष्ट्रीय एकता के क्षेत्र में स्तुत्य प्रयास है। 'ध्रुवस्वामिनी' में नारी-जागरण का सन्देश दिया गया है। ध्रुवस्वामिनी नारी जागरूकता का प्रतीक भी है, और मांग भी। कोमा अपनी भावुकता और प्राचीनता के कारण समाप्त हो जाती है।

'प्रसाद' की राष्ट्रीयता के विषय में असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि वे राष्ट्रीयता को [illegible] के मार्ग को प्रथम आवश्यक पड़ाव मानते हैं। यद्यपि कई अर्थों में [illegible] मानवतावाद के मार्ग का बहुत बड़ा अवरोध है। लेकिन 'प्रसाद' ने इस संकुचित परिधि को तोड़कर एक नया दायरा निर्मित किया है, जिसमें राष्ट्रीयता और मानवीयता एक साथ समाहित हो सकती है। उनका राष्ट्र, उनकी राष्ट्रीयता किसी भौगोलिक सीमा में निबद्ध नहीं, वरन् वह निःसीम है। जिसमें हर्ष की मनुष्यों को सुखी करने की अभिलाषा निहित है। एक व्यक्ति राष्ट्र के

हित की चिन्ता करते हुए भी विश्व-मानव से प्रेम कर सकता है। अवरोध वहीं खड़ा होता है, जहां मनुष्य मनुष्य को बैरी, बंधु, विजित-विजेता, शासक-शासित में बांट कर जीना [illegible] है। 'प्रसाद' की कार्नेलिया और [illegible]एल्यांग विदेशी होते हुए भी भारत की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उन्हें भारत में कुछ भी पराया नहीं लगता। राष्ट्र वही सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण कहा जा सकता है जिसमें मानवता के हित की धारणा सक्रिय हो। और [illegible]ता वही सच्ची मानवता है, जिसका लक्ष्य किसी सुसंयमित राष्ट्र के अन्तर्गत हो। 'प्रसाद' ने इसी लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर राष्ट्रीयता की व्याख्या की है। अतः यह कहा जा सकता है कि उनकी राष्ट्रीयता मानवीय-विस्तार की संयमित [illegible] है।

राष्ट्रीयता : राय

द्विजेन्द्रलाल राय की राष्ट्रीयता का जो स्वरूप हमें उनके ऐतिहासिक नाटकों में उपलब्ध होता है, वह उसकी युगीन-चेतना का ही प्रतिफल है। यद्यपि उन्होंने मुगल-कालीन इतिहास से अपनी रचनाओं के कथानक लिए हैं, लेकिन उसमें सम-सामयिकता का इतना गहरा दबाव है कि उनके नाटक राष्ट्रीय नाटक बनकर रह गए। उनके महाराणा प्रताप सिंह का जीवन एक राष्ट्रीय -संघर्ष के वीर सेनानी का जीवन-वृत्त है। इस संघर्ष का परिणाम कुछ भी हो, इसकी चिन्ता किए बिना राणा-प्रताप सिंह इसमें संलग्न हैं। राणा प्रताप सिंह एक ओर स्वाभिमान की रक्षा का प्रश्न सामने रखता है, दूसरी ओर जन्म-भूमि के उद्धार की चिन्ता करता है। 'राणा प्रताप सिंह' नाटक में ही कुछ अराष्ट्रीय तत्वों का संयोजन करके राय ने यह बताया कि हमें राष्ट्रीय संघर्ष में एक निष्ठा से लगे रहना है। चाहे किसी भी प्रकार का अवरोध सामने आए। जीवन के बड़े-बड़े प्रलोभन और सम्बन्धों के भावुक सन्दर्भ इस संघर्ष के मार्ग में बाधा बनकर आ सकते हैं परन्तु राणा व की तरह हमें उन सब को समझना है। राय के 'मेवाड़पतन' को राष्ट्रीय चेतना का एक सशक्त नाटक कहा जायगा, क्योंकि जिन कारणों से मेवाड़-पतन होता है, उनका उन्मूलन मेवाड़-उत्थान के लिए आवश्यक है। गोविन्द सिंह की वीरता संकुचित परम्पराओं और सीमित विचारों में बंधकर अर्थहीन हो जाती है। [illegible]द, वर्ण व्यवस्था, और आपसी विरोध में जकड़ी हुई वीर राजपूत जाति मेवाड़ की रक्षा करने में असमर्थ है। हिन्दू की संकुचनशीलता की यही सीमा है कि गोविन्द सिंह अपनी पुत्री कल्याणी को घर से बाहर निकाल देते हैं क्योंकि वह अपने पति महाबत खां के प्रति पूज्य भाव रखती है। वास्तव में यह भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता के विरुद्ध है कि विचारों में समन्वय के लिए कोई स्थान ही न हो। इसीलिए मेवाड़ अपने [illegible] समाप्त हो जाता है। मानसी के रूप में लेखक

जन-जीवन में चेतना का स्वर फूंकने का प्रयास करता है । अत: इस नाटक में दो स्तर पर राष्ट्रीय उत्थान की बात उठाई गई है-- एक तो संकुचित दायरों को तोड़ना, दूसरे विकसित विचारों को ग्रहण करना । इसी प्रकार दुर्गादास एक ऐसा चरित्र हमारे सामने आता है जो मराठों की वीरता और क्रियाशीलता का समन्वय राजपूतों की संयमित शक्ति में करके एक सुदृढ़ राष्ट्र का स्वप्न देखता है । लेकिन उसे निराश होना पड़ता है ।

अत: हम कह सकते हैं कि राय की रचनाओं में अनेक रूपों में राष्ट्र-हित ,राष्ट्र-उद्धार ,देश उत्थान की भावना निहित है । जिससे यह कहा जा सकता है कि राय एक राष्ट्रवादी लेखक थे ।

इतिहास एवं कल्पना : विभिन्न विचार

विश्व-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग विश्व-इतिहास का आधार लेकर रचा गया है । इतिहास और साहित्य का यह सम्बन्ध जितना पुराना है,उतना ही महत्व[illegible] भी[1] । हमेशा ही इतिहास ने मानव-मन को आकर्षित किया और सदा ही मानव-मन ने इतिहास के वृत्त को कला और [illegible]ओं से सजा-संवार कर [illegible] का रूप दिया है । इतिहास घटित-सत्य है और साहित्य एक काल्पनिक सत्य । फिर स्वभावत: इन दोनों के सम्बन्ध से अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं । इतिहास का कल्पना से क्या सम्बन्ध है ? [illegible] -[illegible]नाओं का साहित्य में प्रयोग करते समय साहित्यकार स्वतन्त्र है या घटित सत्य की रक्षा के बन्धन से बंधा रहता है ? इतिहास में कल्पना की छूट कहां तक रहती है ? साहित्यका[illegible] की कल्पना, साहित्य में प्रयुक्त इतिहास को कहां तक रक्षित करती है ? और कहां आघात पहुंचाती है ? आदि ऐसे ही अनेक प्रश्न हैं,जिनके ऊपर विचार किए बिना हम इतिहास और कल्पना के [illegible] को समझ नहीं सकते । इन प्रश्नों को लेकर पूर्व और

---

१ डा०रामचन्द्र [illegible] : "जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला" ,दिल्ली, १९५८,पृ०३४० ।

पश्चिम के विद्वानों ने अपने अपने ढंग से सोचा है और अपने -अपने मत स्थापित किए हैं ।

इतिहास और कल्पनाओं की सीमाओं का निर्धारण करते हुए प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं ।नाटक के लिए यदि ऐतिहासिक वृत्त का चयन किया गया है तो रचनाकार का उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह इतिहास की रक्षा का ध्यान रखे । इतिहास एक ऐसा सत्य है, जिसका विकल्प नहीं होता । यह ठीक है कि इतिहास में केवल घटना, नाम, तिथि, काल का ही उल्लेख होता है । साथ ही उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध का भी निर्देश रहता है । परन्तु इसके अतिरिक्त ऐसा कोई तत्व नहीं होता जो कलात्मक हो । इसीलिए इतिहासकार एक कोरा कथाकार होता है और नाटककार कथाकार भी होता है साथ ही कलाकार भी । वह अपनी कला से इतिहास को सजीव बनाता है । उसके पात्रों को रूप और संचरण देकर इनको मंच का सजीव व्यक्तित्व प्रदान करता है[1]। ऐसी स्थिति में इतिहास की रक्षा के अतिरिक्त नाटककार को ऐसी कल्पना करने की आवश्यकता पड़ती है, जिससे शुष्क-कथा में रस का संचरण हो सके[2] और कथा के चरित्र भी चलते-फिरते, पात्रों के रूप में सामाजिकों को प्रभावित कर सकें । इस सन्दर्भ में भारतीय विद्वानों ने अनेक मत स्थापित किए, फिर भी वह इस विषय पर एक मत है कि कल्पना की एक सीमा होनी चाहिए जिससे इतिहास सत्य का हनन न हो और इतिहास का भी नाटक में इतना ही प्रयोग होना चाहिए कि जिससे रचना की कला का सौन्दर्य कथा के साथ मिलकर रसात्मक रूप में व्यक्त हो सके ।

---

१ डा० [illegible] खण्डेलवाल : 'जयशंकर प्रसाद' : वस्तु और कला,' दिल्ली, १९६८, पृ० ३३१

२ ,, ,, ,, ,, पृ० ३३१

भारतीय काव्य-शास्त्र में नाटक की कथावस्तु तीन प्रकार की हो सकती है--`प्रख्यात`,`उत्पाद्य` और `मिश्र`। इनमें प्रख्यात और मिश्र कथानकों में इतिहास का पर्याप्त प्रयोग होता है। प्रख्यात कथावस्तु को लेकर रचना करने वाले नाटककार को चाहिए कि वह कल्पना का ऐसा प्रयोग न करे जिससे उसका प्रभाव नष्ट न हो जाय। लेकिन यहां एक और विशेष बात ध्यान देने योग्य है, भारतीय-विचारधारा के अनुसार यदि नायक को आदर्श रूप में ~~प्रस्तुत करने में इतिहास आदर्श रूप में~~ प्रस्तुत करने में इतिहास की कोई घटना अड़चन बनती हो तो उसे हटाया जा सकता है। ऐतिहासिकता की रक्षा के लिए कल्पना का प्रयोग और काल्पनिक-सत्य की प्रस्तुति के लिए इतिहास की कथा का प्रयोग करना ही साहित्य के सृजन का आधार है।

अरस्तू ने सर्वप्रथम इस बात का अनुभव किया कि इतिहास एक घटित सत्य है, अत: वह विश्वसनीय है। यही कारण है कि कवि (नाटककार) उसका आधार लेकर एक विश्वसनीय-रचना प्रस्तुत करना चाहता है। इससे आगे उसने यह भी कहा कि कल्पना की एक सीमा होती है। अर्थात् कल्पना का अर्थ ऐसी स्थितियों का सृजन नहीं जो `असम्भाव्य` हो। जो घटना घटी नहीं,लेकिन घट सकती है, साहित्यिक कल्पना के लिए प्रस्तुत की जा सकती है। अरस्तू के इस सन्दर्भ में जो विचार हैं,उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने सृजक (नाटककार,कवि)को सम्भावित सत्य की सीमा तक कल्पना करने की छूट दी है। इतिहास के परिवर्तन की बात उपरोक्त कथन में भी निहित है। कभी-कभी एक ऐतिहासिक पात्र को लेकर कोई रचना की जाती है। उसके चरित्र-निरूपण के लिए अन्य पात्रों और घटनाओं की कल्पना की जाती है। ऐसी कल्पना आवश्यक एवं उचित मानी जाती है,क्योंकि उससे इतिहास को बल मिलता है।

इतिहास और कल्पना के सम्बन्ध को लेकर पश्चिम में एक और मत प्रचलित है, इस मत के अनुसार इतिहास की एक धुंधला-सा आधार बनाकर एक साफ-सुन्दर रचना का सृजन किया जाना चाहिए। साथ ही लोक-विश्वास और परम्पराओं के अनुसार इतिहास में परिवर्तन किया जा सकता है। इस मत के अनुसार घटित सत्य को कल्पना के आधार पर शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत करना ही रचनाकार का धर्म है। परन्तु पश्चिम के ही एक विद्वान् (स्कैलिगर) ने ज्ञात ऐतिहासिकता में परिवर्तन की आवश्यकता का निषेध करते हुए बताया कि इस प्रकार का कार्य रचना के प्रभाव की हत्या कर देता है, क्योंकि वह कल्पना जो जन-जीवन के विश्वास के दायरों से बाहर रहती है, [illegible] नहीं हो सकती और अविश्वसनीय स्मृति प्रभावहीन होती है। यह मत भारतीय-[illegible] से मिलता है। पश्चिम के विद्वानों को इससन्दर्भ में दो मार्गों में बांटा जा सकता है-- एक वह जो इतिहास को महत्व देते हैं और किसी भी परिस्थिति में कल्पना की सीमा को इतिहास सत्य से आगे नहीं मानते। दूसरे वे जो कला के क्षेत्र में इतिहास को गौण और कल्पना को मुख्य मानते हैं। परन्तु कुछ विद्वानों ने बीच का रास्ता अपना कर दोनों के सन्तुलन पर बल दिया।

इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के विद्वान् [illegible] के विचारों का उल्लेख भी आवश्यक होगा। उन्होंने इतिहास, नाटकीय सम्भाव्यता और कलात्मकता के समन्वय पर बल देते हुए यह सिद्ध किया है कि इन तीनों का उचित [illegible] ही रचना में विश्वास, सफलता और रस की सिद्धि कर सकता है। इतिहास के अज्ञात और गोपनीय स्थल को लेकर रचना करने की बात इसलिए कही जाती है कि ऐसी स्थिति में इतिहास की सीमा संकुचित हो जाती है, जिससे सृजक को अपनी कला के सृजन का अधिक अवसर मिल जाता है। अर्थात् उसका जो एक अज्ञात भाग होता है वह उसे रचना के रूप में प्रस्तुत करने में अधिक स्वतन्त्र हो जाता है, जैसा एक [illegible] विद्वानों ने

इस बात पर बल दिया कि स्वच्छन्द मुक्त कल्पना ही वास्तव में साहित्य का मूल आधार है[1]।

इतिहास और कल्पना के विषय में भारतीय एवं पश्चिमी ~~मतोंई-में-कोई-अन्तर-नहीं~~ मतों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों मतों के अनुसार इतिहास और कल्पना की अपनी-अपनी सीमाएं हैं और दोनों के उचित संयोग से ही रचना के सुन्दर सृजन का प्रश्न जुड़ा हुआ है। जहां भी यह सु सन्तुलन बिगड़ता है, वहीं रचना या तो इतिहास रह जाती है या फिर आकाशीय हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास में कल्पना और काल्पनिक इतिहास, रचना की जीवन्तता के साधन हैं।

इतिहास एवं कल्पना : 'प्रसाद'

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में 'प्रसाद' प्रथम ऐसे रचनाकार हैं, जिनमें इतिहास और कल्पना का कलात्मक स्तर पर समुचित और समीचीन समन्वय मिलता है। यह निश्चित है कि 'प्रसाद' से पूर्व जिन ऐतिहासिक नाटकों का अवतरण हिन्दी साहित्य में हुआ इनमें या तो इतिहास प्रमुख हो गया[2]। या फिर कला की रक्षा के लिए इतिहास की अवहेलना दीख पड़ती है[3]। पौर्वात्य और पाश्चात्य मतों के अनुसार इतिहास घटित-सत्यों का अंकन है, जिसमें कार्य-कारण सम्बन्धों के आधार पर तत्कालिक सन्दर्भों की कल्पना की जाती है। सम्भाव्यता की सीमा तक इतिहास में कल्पना का सम्मिश्रण उचित माना जाता है। 'प्रसाद' ने इसी तथ्य को दृष्टि-पथ में रखकर इतिहास की नींवपर अपने रसात्मक नाट्य-

---

1 डा० [illegible] : 'जयशंकर 'प्रसाद' : वस्तु और कला', दिल्ली १९६८, पृ०३३० ।

2 डा० जगदीशचन्द्र जोशी : 'प्रसाद' के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, दिल्ली, १९७०, पृ०६१ ।

3 ,, ,, ,, ,, पृ०६२

प्रासाद का निर्माण किया ।

'प्रसाद' से पूर्व 'नील देवी', 'हठी हमीर', 'संयोगिता स्वयंवर', 'महारानी पद्मावती', 'अमर सिंह राठौर' आदि अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे गये । परन्तु ध्यान से देखने पर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक इससे भिन्न प्रकार के हैं । उपरोक्त नाटकों की रचना सीधे उन कथानकों, पात्रों एवं घटनाओं ब को लेकर हुई, जिनको इतिहास प्रामाणिक रूप से स्वीकार करता है और जो जन साधारण में प्रसिद्ध हैं । परन्तु 'प्रसाद' ने इतिहास को एक उत्सुक कलाकार की दृष्टि से देखा है, अत: उन्होंने उन्हीं पात्रों और घटनाओं को अपने नाटकों का आधार बनाया जो या तो प्रख्यात होने के साथ-साथ अनेक दृष्टियों से आकर्षक थे या फिर जिनके विषय में इतिहास मौन है । कहने का तात्पर्य यह कि 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में हमारे देश का आ[illegible]क तथा लुप्त इतिहास प्राप्त होता है ।[1] इस प्रकार प्रसाद ने इतिहासकार होने का गुरुतर भार भी सम्हाला । इस प्रकार के पात्रों और घटनाओं को रचनात्मक स्वरूप देने के लिए 'प्रसाद' की अप्रतिम कल्पना-शक्ति और संवेदनशीलता ने अद्वितीय कार्य किया है । किसी भी ऐतिहासिक नाटक की संरचना में कथानक, पात्र और वातावरण की सृष्टि का महत्वपूर्ण स्थान होता है । अत: इतिहास और कल्पना के सन्दर्भ में उनकी रचनाओं पर विचार करने के लिए उनके इन्हीं तीन पहलुओं पर विचार करना आवश्यक होगा ।

'प्रसाद' ने अपने ऐ[illegible] नाटकों के लिए जिन कथानकों को चुना है, उनमें कहाँ तक इतिहास-सत्य का और कहाँ तक कल्पना-सत्य का ~~और कहाँ तक~~ प्रयोग हुआ है ? इस प्रश्न पर विचार करते समय हम उनके समस्त ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों पर दृष्टिपात करेंगे । इन नाटकों में कुछ नाटक शुद्ध ऐतिहासिक हैं अर्थात् उनका कथानक इतिहास सम्मत है, जैसे

---

1 'नाटककार प्रसाद ने इतिहास से जो सामग्री ली है, वह सामान्यत: [illegible] ऐतिहासिक ग्रन्थों से ली है ।'

—डा० [illegible] जोशी : 'प्रसाद' के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन', दिल्ली, १९७०, पृ०६५

'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' । इन सब के कथानक प्रामाणिक हैं । 'राज्यश्री' वर्धन युग की ऐतिहासिक घटनाओं और हर्ष तथा राज्य श्री जैसे ऐतिहासिक पात्रों को हमारे सामने प्रस्तुत करता है । 'राज्यश्री' नाटक के सभी पात्र (विकटघोष और सुरमा को छोड़कर) ऐतिहासिक हैं । 'प्रसाद' ने इस नाटक की भूमिका में कहा है कि 'विकटघोष और सुरमा, यद्यपि ऐतिहासिक पात्र नहीं हैं, परन्तु चीनी-यात्री का एक डाकू से पकड़े जाने का उल्लेख मिलता है'[1]। यहां एक बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि 'प्रसाद' ने उन स्थलों के लिए जहां इतिहास में कोई उल्लेख नहीं या फिर किसी पात्र का केवल उल्लेखमात्र है किंवदन्ती, लोकमत, पुराण आदि इतिहास के उत्सों का स्वतन्त्र प्रयोग किया है ।
'राज्यश्री' नाटक की घटनाएं ऐतिहासिक हैं, फिर भी 'प्रसाद' ने उन्हें इस प्रकार से संयोजित किया कि राज्यश्री की महानता, उदारता, पति-परायणता, क्षमा-शीलता, दानप्रियता और त्याग-भावना मुखरित हो सके । साथ ही इस महान चरित्र के विकास के लिए 'प्रसाद' ने घटनाओं के संयोजन में अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग भी किया । प्रथम अंक में 'प्रसाद' मुख्य [illegible] के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते हैं, जो उनकी कल्पना-शक्ति का ही [illegible] है । प्रथम अंक में बड़े नाटकीय ढंग से एक ऐतिहासिक घटना घटती है— गृहवर्मा की मृत्यु और देवगुप्त मालव-नरेश का छद्म वेश में दुर्ग में प्रवेश तथा राज्यश्री को कैद करना ।

दूसरे अंक में ऐतिहासिक आधार पर कथानक आगे बढ़ता है। 'राज्यश्री बन्दी बनाई जाती है तथा राज्यवर्द्धन की धोखे से हत्या की जाती है और देवगुप्त की मृत्यु हो जाती है । तीसरे अंक में राज्यश्री को बचाने के लिए और अपने भाई की हत्या का बदला लेने के लिए हर्षवर्द्धन उधर से आता है । वह समस्त विघ्नबाधाओं को अपने बल और शौर्य से शान्त करके राज्यश्री को मृत्यु से बचाता है । दूसरी तरफ नाटक में हर्ष और चालुक्य राजा

---

1 द्रष्टव्य— 'राज्यश्री (भूमिका)', पृष्ठ

पुलकेशिन की ऐतिहासिक मैत्री को कल्पना के आधार पर बड़ा सुन्दर राष्ट्रीय रूप प्रदान करता है । हर्ष राष्ट्रीय कमजोरियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है, शक्तिशाली राजाओं से उसका विरोध नहीं । अन्तिम अर्थात् चतुर्थ अंक में 'राज्यश्री' नाटक का कथानक उसी अध्यात्मिकता और अमरता की ओर जाता है, जिसे 'प्रसादान्त' कहते हैं । इस अंक में हर्ष और विशेषकर राज्यश्री की विख्यात दानशीलता और उदारता का वर्णन है । प्रयाग का महादान होता है और हर्ष धर्मराज्य की स्थापना होता है ।

'अजातशत्रु' नाटक के लिए 'प्रसाद' को अधिक कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी । अजातशत्रु इतिहास-काल का प्रथम भारतीय सम्राट हुआ है । इसी महान सम्राट के जीवन की अनोखी स्थिति ने लेखक को आकर्षित किया । अजात अपनी कठोरता और कट्टरता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध था । उसके चरित्र का विकास धीरे-धीरे उस परिवर्तन तक होता जो उसके अन्दर प्रेम, सेवा, सहानुभूति और त्याग के भावों को संचार के कारण होता है । इस नाटक की कच्ची सामग्री बौद्ध साहित्य, कथासरित्सागर और उस युग से सम्बन्धित साहित्य से ली गई है । इन सब प्रकार के साधनों में अनेक [illegible]एं पाई जाती हैं । बौद्धों ने उन [illegible] को कठोर और नीच दिखाने का प्रयास किया जो बौद्ध-धर्म विरोधी थे । साथ ही जो व्यक्ति बौद्ध धर्मी थे, उनका अतिरंजित वर्णन किया है । उसी प्रकार की विषमताएं अन्य [illegible]नाओं में भी मिलती हैं । नामों के विषय में भी इसी प्रकार की विभिन्नताएं हैं । 'प्रसाद' ने कच्ची सामग्री का सम्पूर्ण प्रयोग किया है । इस नाटक का कथानक बहुत कुछ इस बात पर केन्द्रित हो जाता है कि अजातशत्रु जैसा [illegible] हृदयहीन व्यक्ति भी संघर्ष और परिस्थितियों के वश परिवर्तित हो सकता है । इस नाटक में युगीन [illegible]स्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन कियागया है तब बौद्ध धर्म और उसके विरोधियों में किस प्रकार की खींचा-तानी चल रही थी । इसका वर्णन करा कर 'प्रसाद' ने नाटक की ऐतिहासिकता को और भी गहरा कर दिया है । वास्तव में स्थिति यह है कि उनके नाटक

इतिहास की अवहेलना नहीं करते, बल्कि कल्पना का सौन्दर्य ही उन्हें इतिहास के शुद्ध अस्तित्व से साहित्य की सरस-विधा के क्षेत्र में ले आता है। अजात और बाजिरा का प्रेम-भाव और उन दोनों का सरस मिलन कल्पना-प्रसूत होते हुए भी अत्यन्त शक्तिशाली और ऐतिहासिक लगता है।

इसी प्रकार 'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों के कथानकों में भी इतिहास और कल्पना का सम्बल उपस्थित किया है। ऐतिहासिक कथा साज-सज्जा के लिए कल्पना की पच्चीकारी और रंगों का प्रयोग करके 'प्रसाद' ने कलात्मक नाट्य-कृतियां प्रस्तुत की हैं। 'चन्द्रगुप्त' में जहां एक ओर 'प्रसाद' ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वह एक महान् सेनापति का सुयोग्य, वीर पुत्र था वहां कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के स्नेह सम्बन्ध से उस चरित्र के आन्तरिक कोणों में भी झांका है। इसी प्रकार स्कन्द और देवसेना, चन्द्रगुप्त और मालविका, चाणक्य और ~~स्वामिनी~~ सुवासिनी, कोमा और शकराज, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रणय सम्बन्धों को दिखाकर उन्होंने अपनी उर्वर कल्पना की शक्ति और सीमा का प्रमाण दिया है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक कथानकों में जो कल्पनाएं की हैं, उनसे या तो इतिहास को बल मिलता है या फिर इतिहास में प्राणों का संचरण होता है। जैसे शकटार की काल्पनिक कथा का संयोजन नन्द की कुपात्रता के प्रदर्शन के लिए महत्वपूर्ण है। अतः इसे इतिहास की सम्भाव्यता से सम्मत कल्पना कहा जायगा। 'ध्रुवस्वामिनी' की मन्दाकिनी एक सशक्त राष्ट्रीय चरित्र है जब कि इतिहास इस पात्र की इस अपूर्व शक्ति के विषय में मौन है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रसाद' ने यथा सम्भव इतिहास की रक्षा की। अतः कल्पना का प्रयोग उन सीमित दायरों में बद्ध होकर किया जिनके बाहर जाने पर इतिहास की हत्या भी हो सकती थी।

हम देख चुके हैं कि 'प्रसाद' ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों में काल्पनिक अंशों का प्रयोग किया । उनकी कल्पना इतिहास के सत्य को सौन्दर्य देने का महत्वपूर्ण कार्य करती है । मानवीय भावों, परिस्थितियों एवं विचारणाओं के आधार पर खड़ी उनकी कल्पना ऐतिहासिक सम्भाव्यता की सीमा में रहती है । उसी प्रकार नाटकों के पात्रों की रचना भी प्रसाद ने कल्पना के आधार पर की है । हम उनके नाटकों की भूमिका में एक सचेत अन्वेषक की तर्कशीलता देखते हैं । उसी के आधार पर 'प्रसाद' ने ने ऐतिहासिक-पात्रों का चयन कर उन्हें अपनी रचनाओं में स्थान दिया । उनके स्वभाव, संस्कार और परिस्थितियों के आधार पर उनकी स्वाभाविक व्याख्या की है, परन्तु कभी-कभी कथानक और पात्र के ऐतिहासिक सत्य को प्रस्तुत करने के लिए उन्हें काल्पनिक पात्रों की अवतारणा भी करनी पड़ी है, जैसे राज्यश्री की उदारता को प्रमाणित करने के लिए विकटघोष और ध्रुवस्वामिनी की जागरूकता को बल देने के लिए कोमा की । उनके सभी ऐतिहासिक नाटकों में अधिकतर ऐतिहासिक पात्र ही हैं । फिर भी 'अजातशत्रु' का विदूषक, 'चन्द्रगुप्त' की मालविका, 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना, विजया, 'चन्द्रगुप्त' का दाण्डायन, सुवासिनी आदि अनेक चरित्र काल्पनिक हैं । इन चरित्रों की सृष्टि में 'प्रसाद' की कल्पना का लक्ष्य यही रहा कि उससे या तो किसी ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन हो या भावनात्मक सौन्दर्य का विकास हो अथवा कथा का विकास हो, इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि 'प्रसाद' ने इतिहास को हमारे सामने प्रस्तुत करने के लिए अनेक सुन्दर चरित्रों एवं घटनाओं की कल्पनाएं की हैं ।

जहाँ एक ओर 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में अनेक पात्रों की सृष्टि अपनी स्वतन्त्र कल्पना के आधार पर की वहीं दूसरी ओर ऐतिहासिक पात्रों की प्रस्तुति में भी अपनी स्वतन्त्र [illegible] का प्रयोग किया। जैसे [illegible] के क्रूर जीवन को 'प्रसाद' की कोमलता ने मानवीय गुणों से वंचित नहीं होने दिया । समय आने पर वह परिवर्तित होकर

पूर्ण मानव बन जाता है । इसी प्रकार उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' के इतिहास प्रसिद्ध चाणक्य को कोरा पत्थर और अतिमानव होने से बचा लिया, उसमें अनुराग और वैराग्य की भावनाओं का रंग भर उसे सजीव पुरुष बना दिया । जिसमें हृदय और बुद्धि दोनों का समन्वय है । 'प्रसाद' का हृदय विशाल था । उनका करुणा और क्षमा में गहरा विश्वास था । अतः उनके कठोर से कठोर चरित्र भी मानवीय सम्भावनाओं के दायरे में रहते हैं । उनके पात्र कभी-कभी एकान्त में बड़ा मार्मिक आत्मविश्लेषण करते हैं । 'प्रसाद' की चरित्र (पात्र) सम्बन्धी धारणा यह भी है कि वे कभी-कभी ऐतिहासिक नामों के स्थानपर काल्पनिक नाम देकर इतिहास-पात्रों की प्रस्तुति करते हैं, जैसे सिल्यूकस की दुहिता का उल्लेख इतिहास में मिलता है, उसकी शादी चन्द्रगुप्त से हुई, यह भी इतिहाससत्य है, परन्तु उसका कार्नेलिया नाम 'प्रसाद' का है । इसी प्रकार नन्द की दुहिता का उल्लेख भी मिलता है, लेकिन उसका नाम कल्याणी 'प्रसाद' की कल्पना का परिणाम है । ऐसे स्थानों पर नामों की उचित कल्पना लेखक की महानता है, जिसका निर्वाह 'प्रसाद' ने भली प्रकार किया है ।

कल्पना-प्रसूत पात्रों में अलका, सिंहरण, मालविका, देवसेना, कोमा, सुवासिनी, जयमाला, विजया आदि प्रमुख हैं । ये सभी पात्र अपने-अपने चारित्रिक गुणों के कारण पाठकों के हृदय-पटल पर सदा सर्वदा के लिए अंकित हो जाते हैं । मालविका का मूक प्रणय और सहज बलिदान जीवन की उत्कृष्टतम स्थिति का द्योतन करता है । इसी प्रकार अलका का राष्ट्र-प्रेम, सिंहरण का आदर्श-वीरत्व, देवसेना का त्यागमय अनुराग भाव कोमा का आदर्श-प्रेम, आदि अपने आप में विशेष जीवन्त कल्पनाएं हैं । इन काल्पनिक-चरित्रों का निर्माण 'प्रसाद' के विशाल हृदय की ही देन है । 'प्रसाद' के हृदय में मानव-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम की त्रिवेणी बहती थी, उसी त्रिवेणी की कुछ छलकी हुई बूंदें इन पात्रों के रूप में दिखाई देती हैं । इन पात्रों का कभी नाटक के ऐतिहासिक पात्रों को मार्ग दिखाना,

उन्हें सन्तुलित करना और उनके लिए आदर्श उपस्थित करना है । यही 'प्रसाद' की चरित्र सम्बन्धी ऐतिहासिकता और कल्पना है । इनके ऐतिहासिक पात्र जहाँ इतिहास की सत्ता का आभास कराते हैं, वहाँ जीवन की आस्थाओं की रक्षा भी करते हैं । और उनके काल्पनिक चरित्र जहाँ आदर्श की स्थितियाँ प्रस्तुत करते हैं, वहाँ भौतिक सत्यताओं का महत्व भी दर्शाते हैं । उनके नाटकों के चरित्रों में ऐतिहासिक चरित्र तथा कल्पना और काल्पनिक चरित्र तथा इ इतिहास का सुन्दर समन्वय पाया जाता है ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' की कल्पना, इतिहास के अन्तराल को भरने के लिए तथा उनका इतिहास काल्पनिक चित्रों को विश्वसनीय बनाने के लिए क्रियाशील हैं । उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना का संयमित समन्वय देखने को मिलता है ।

इतिहास एवं कल्पना : राय

लेखक हमारे समक्ष तथ्य का विवरण मात्र प्रस्तुत नहीं करता, वरन् अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी करता है । इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि इतिहासकार और साहित्यकार में बहुत बड़ा अन्तराल होता है । इतिहासकार तथ्यों और तर्कों के आधार पर घटना का काल-क्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करता है, यद्यपि उसे भी अपनी स्वतन्त्र चिन्ता का सहारा लेना पड़ता है, लेकिन वह किसी तथ्य को स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता । उसका चिन्तन छिपी छूटे हुए अंश या संदिग्ध स्थलों को खोजने का प्रयास होता है । वह व्यापक नहीं हो सकता । साहित्यकार जहाँ एक ओर इतिहास का शोध कर सकता है, वहाँ दूसरी ओर वह इतिहास के अभाव में स्वतन्त्र कल्पना का आश्रय ले सकता है । प्रश्न उठता है कि कल्पना की यह स्वतन्त्रता क्या साहित्यकार को किसी सीमा में बाँधती है ? इस विषय में दो मत हो सकते हैं--' एक तो यह कि इतिहास को आधार मानकर चलने वाले लेखक को इ [illegible] के घटित सत्य की रक्षा करनी चाहिए, अतः उसकी [illegible] का क्षेत्र इतिहास की

सीमाओं में निबद्ध होना चाहिए, ऐसी स्थिति में लेखक की स्वतन्त्र सत्ता पर इतिहास के अंकुश को स्वीकार किया जाता है । दूसरा विचार यह है कि रचना लेखक की भावनाओं का प्रतिरूप होती है, अतः इतिहास को उस कल्पना के समक्ष गौण समझा जाना चाहिए जो लेखक की भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन है । उक्त दोनों ही विचारों में दोष है । इस विषय में पहले ही कहा जा चुका है । एक के अनुसार कल्पना को अत्यधिक महत्व दिया गया है, जिससे रचना में इतिहास-दोष आ जायगा। दूसरी विचारधारा के अनुसार इतिहास को इतना अधिक महत्वपूर्ण मानागया कि रचना की कलात्मकता का उसके समक्ष कोई अर्थ ही नहीं रह जाता । ऐसी स्थिति में असन्तुलित रचना न साहित्य होगी और न इतिहास । अतः विद्वानों ने इतिहास और कल्पना के उचित सामंजस्य पर आधारित रचना को ही उत्तम माना है ।

ऐतिहासिक [illegible]नाकार को सृजन के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसकी कृति में कम-से-कम इतिहास की मुख्य घटनाएं एवं पात्र अवश्य रहने चाहिए । यदि ऐसा नहीं होगा तो रचना अपना प्रभाव खो देगी । क्योंकि इतिहास एक घटित सत्य है, उससे सभी परिचित होते हैं । इस घटित सत्य में टूट फूट की गुंजाइश नहीं होती । जो इसमें परिवर्तन

करता है वह [illegible]नाकार अपनी कृति को प्रभावहीन बनाता है । राय के नाटकों का आधार भारत का [illegible]लकालीन इतिहास है । इसके विषय में हमें प्रामाणिक ब्यौरा प्राप्त है । अतः इसमें कल्पना का अधिक अवसर नहीं । राय के नाटकों में जो घटनाएं और पात्र अवतरित हुए हैं, वे लगभग सभी [illegible]माणिक हैं । राय इस तथ्य को समझते थे कि इतिहास में उलट-फेर करके रचना प्रस्तुत करने का कोई अर्थ नहीं । अतः उन्होंने 'राणा प्रताप सिंह' 'नूरजहां', '[illegible]', 'मेवाड़-पतन', [illegible] नाटकों को [illegible]लकालीन इतिहास के आधार पर प्रस्तुत किया । 'भीष्म', '[illegible]', 'सीता' के विषय में व इतिहास कुछ नहीं कहता, लेकिन ये नाटक [illegible] में प्रसिद्ध

पात्रों--भीष्म, अहिल्या, सीता पर आधारित हैं । इन पात्रों के लोक-प्रचलित रूप को इतिहास से भी अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए, क्योंकि इनके विषय में किसी स्वतन्त्र धारणा को स्थान नहीं है । अतः राय के सभी ऐतिहासिक नाटक (पौराणिक भी) शुद्ध ऐतिहासिक हैं ।

उपरोक्त विवरण के आधार पर राय के नाटकों को साहित्य कहना उचित न होगा, क्योंकि वे शुद्ध ऐतिहासिक हैं । परन्तु शुद्ध ऐतिहासिक होते हुए भी राय के नाटकों में कलाकृतियाँ हैं । कला की सीमा को इतिहास कभी नहीं बाँध सका । वह मुक्त होती है । अपनी अभिव्यक्ति में कला पूर्ण स्वतन्त्र होती है, परम्पराओं, ऐतिहासिक तथ्यों और विचार-धाराओं के बन्धन उसकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के साधन होते हैं । एक ऐतिहासिक रचना रचनाकार की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है । इतिहास तो उस अभिव्यक्ति का साधन मात्र है । इसी प्रकार राय की रचनाओं के विषय में भी कहा जा सकता है । उनमें इतिहास का कठोर बन्धन इसलिए है कि उससे अभिव्यक्ति अधिक प्रभावकारी हो सके । राय ने अपनी रचनाओं में इतिहास की शुद्धता की रक्षा अवश्य की लेकिन फिर भी उनमें कल्पना का पर्याप्त प्रयोग हुआ है ।

इतिहास और कल्पना के कलात्मक संयोजन में सम्भाव्यता को महत्वपूर्ण माना जाता है । इतिहास कुछ [illegible]नाओं, नामों एवं स्थानों का उल्लेख मात्र करता है इसके बाहर उसका क्षेत्र नहीं । अतः उसमें प्राणवत्ता का नितान्त अभाव होता है । इतिहास की इस जीवन-[illegible] को साहित्यकार अपनी कल्पना से प्राण देता है । जो घटित है, उसके का[illegible] की संभावना जो अस्पष्ट है, उसकी स्थिति की सम्भावना तथा जो अप्राप्य है उसकी पूर्णता की सम्भावना कलाकार कर सकता है । साधारण जीवन में जब हमें कोई अधूरी बात मिलती है तो हम उसकी पूर्णता के लिए अन्दाज लगाते हैं यह यही सम्भावना है । जिसका प्रयोग करने की स्वतन्त्रता कलाकार को होती है । वह अपने अनुमानों के आधार पर इतिहास के घटित सत्य को प्रस्तुत कर सकता है । कार्य कारण सम्बन्ध पर आधारित सत्य ही इतिहास है ।

इतिहास सत्य बताता है और कार्य-कारण का सम्बन्ध कलाकार । सम्भावना का अर्थ यही है कि सामाजिक को नाटकों की घटनाओं में अनौचित्य न लगे नहीं तो रचना प्रभावहीन हो जायगी । जहाँ इतिहास चुप रहता है वहाँ, उसके छोड़ हुए सत्य की सम्भावना की जाती है । राय ने इस प्रकार की सम्भावना के आधार पर अनेक स्वतन्त्र कल्पनाएं कीं जैसे 'राणा प्रताप सिंह' में भावनात्मक प्रणय की विशालता और उदात्तता को प्रदर्शित करने के लिए मेहरउन्निसा का शक्ति से स्नेह । इसी प्रकार 'मेवाड़ पतन' में मानसी की कल्पना विश्व-प्रेम के प्रतीक रूप में की गई है । पाषाणी और इन्द्र के सम्बन्ध को नए रूप में प्रस्तुत करके लेखक ने अपनी कल्पना-शक्ति की सीमा स्थापित कर दी है । औरंगजेब का ऐतिहासिक चरित्र गुलनार की छाया में दबकर नया रूप धारण करता है[1] । जहाँगीर के चरित्र की भी लेखक ने नवीन कल्पना की है[2] । इस प्रकार अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर इतिहास-चरित्रों और घटनाओं को लेखक ने बदल डाला । ऐसा करने में उन्हें इतिहास की अवहेलना नहीं करनी पड़ी, वरन् घटनाओं का संयोजन कुछ इस प्रकार हुआ कि पात्रों के नए रूप उभर कर हमारे सामने आए । महावत खाँ, शक्ति सिंह, नूरजहाँ, शाहजहाँ औरंगजेब आदि कुछ ऐसे पात्र हैं, जिनके विषय में एक नई दृष्टि प्राप्त होती है । यह राय की कल्पना का ही परिणाम है ।

कथा-संयोजन में भी राय ने कई स्थानों पर ऐसी कल्पनाएं की हैं, जिससे कथा में कुतूहल बना रहे । ऐसा करने के लिए उन्होंने अप्रत्याशित कथा-अंशों की कल्पना की है, जैसे 'सिंहल' नाटक में युवराज अजित सिंह की रक्षा का भार कासिम को दिया जाता है । प्रेक्षक बड़ी उत्सुकता से यह देखता रहता है । मुसलमान होकर कासिम मुसलमान बादशाह के विरुद्ध

---

१ द्रष्टव्य — 'शाहजहाँ'

२ ,, — 'नूरजहाँ'

यह उत्तरदायित्व पूरा करता है या नहीं । सिंहल-विजय में रानी का विजय की हत्या का षड्यन्त्र भी कथा में औत्सुक्य तत्व भरता है । इस प्रकार की कल्पना से इतिहास की मुख्य कथा पर कोई आघात नहीं पहुंचाता, वरन् उसकी सक्रियता को और तीव्र कर देता है ।

रस की दृष्टि से मीराय के इतिहास में काल्पनिक तत्वों का समावेश हुआ । मुख्य कथा की अति गम्भीरता को सन्तुलित करने के लिए उन्होंने कुछ हास्य-प्रधान कथा प्रसंगों की कल्पना की है । जैसे शाहजहाँ में जुम्मा और पियारा ; सिंह-विजय में उत्पल वर्ण "भीष्म" में धीवर राज ; "राणा प्रताप" में चिरंजीव आदि के कथा-प्रसंग ऐसे ही हैं । इस प्रकार की कल्पना में राय ने जीवन के गूढ़ रहस्यों का विश्लेषण किया है ।

राय एक भावुक कवि थे । अतः इतिहास की घटनाओं को अपने नाटकों का आधार बनाकर उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उनकी भावनाओं को इतिहास के सत्य से सम्प्रेषणीयता नहीं मिल सकती है । अतः उनके नाटकों में कुछ ऐसे पात्रों की सृष्टि की गई है जो लेखक की कोमल भावनाओं के प्रतीक हैं, जैसे इरा, मेहरुन्निसा, दौलतउन्निसा (राणा प्रतापसिंह) छाया, हेलन (चन्द्रगुप्त) मानसी (मेवाड़-पतन) लैला, शहरयार, सादिया (नूरजहाँ) कुवेणी (सिंह-विजय) आदि । ये पात्र अनन्त कोमल भावनाओं से भरे हैं जो विकृत संघर्षों में भावनात्मक सन्तुलन का प्रयास करते हैं । ये पात्र लेखक की आन्तरिक संवेदना के प्रति रूप भी हैं । इन सब की दृष्टि सौन्दर्यवादी है इसीलिए ये प्रायः स्वगतोक्तियों में बोलते हैं[१] ।

[illegible] : हम यह देखते हैं कि राय ने [illegible] के अधिकार का बड़ी सावधानी से उपयोग किया । ऐतिहासिकता में कल्पना

---

१ '[illegible]' : '[illegible] [illegible]', पृ० १०४

'राणा प्रताप सिंह' : ,, १, पृ० ८१

और कल्पना में ऐतिहासिकता का समुचित मिश्रण करके उन्होंने ऐसी रचनाओं की प्रस्तुति की जो ऐतिहासिक भी हैं और काल्पनिक भी । सम्भाव्यता के आधार पर उन्होंने अपने इतिहास में अनेक सम-सामयिक प्रसंगों को अभिव्यक्त किया । उनकी कल्पना इतिहास पर आघात न करके और उसे अधिक गहरा बना देती है और उनका इतिहास अनुभूत सत्य को न दबा कर अभिव्यक्ति देता है । राय के नाटक इतिहास और कल्पना के कलात्मक संकलन हैं । अगले परिच्छेदों में इस तथ्य पर अधिक विस्तार से विचार किया गया है ।

-o-

परिच्छेद • ४ •

रंगमंच : गीत : भाषा : 'प्रसाद' और राय

- रंगमंच : 'प्रसाद' और राय
- गीत : 'प्रसाद' और राय
- भाषा : 'प्रसाद' और राय

'रंगमंच की परिकल्पना समस्त नाट्य-विधा के मूल में निहित है ।'

परिच्छेद -- ४

रंगमंच : गीत : भाषा : 'प्रसाद' और राय

रंगमंच : 'प्रसाद' और राय

रंगमंच की परिकल्पना समस्त नाट्य-विधा के मूल में निहित है । अत: नाट्य-शिल्प और नाट्य-अंगों की समस्त स्थापनाएं रंगमंच को ध्यान में रखकर की जाती रही हैं । साहित्य की अन्य विधाएं उपन्यास,कहानी,निबंध, संस्मरण आदि जहां पठ्य हैं,वहां नाटक इन सबसे भिन्न है । रंगमंच की मर्यादाओं सीमाओं और स्थितियों से उसका सीधा सम्बन्ध है । रंगमंच के महत्व को रेखांकित करने की आवश्यकता न समझते हुए यह कह देना ही पर्याप्त होगा कि नाटक का मूल्यांकन उसकी रंगमंचीय सफलता-असफलता पर आधारित है । अत: किसी भी नाटककार की कृतियों का विश्लेषण और मूल्यांकन रंगमंच के सन्दर्भ के बिना सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता । 'प्रसाद' और राय दोनों लेखक ही अपने-अपने क्षेत्रों में सफल एवं प्रभावशाली नाटककार माने जाते हैं । अत: दोनों के नाट्य साहित्य को रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में देखना भी समीचीन जान पड़ता है ।

युग-चेतना के साथ-साथ रंगमंच का रूप और स्वभाव भी परिवर्तित होता रहता है । निम्नलिखित तथ्यों पर इस बात को और भी स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है । रंगमंच की परिकल्पना प्रत्येक युग के स्तर,उसकी चेतना,उसके परिवेश से सम्बन्धित रहती है । अत: उसकी सफलता-असफलता भी युगीन संदर्भ ही कहा जायगा । भारत के संस्कृत साहित्य में प्रेक्षागृह की संरचना और रंग-निर्देशों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, इस सम्बन्ध में भरत के मत का

उल्लेख करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास ने कहा कि उनके अनुसार तीन प्रकार की रंगशालाएं होती थीं-- विकृष्ट,चतुरस्र और त्र्यस्र । इनकी विभिन्नता का सम्बन्ध इनकी निर्माण-शैली से है । समय-समय पर भारतीय रंगमंच विदेशी प्रभाव भी ग्रहण करता रहा है । इस प्रकार इनके युगीन परिवर्तन के अनेक स्वरूपों को देखा जा सकता है । लौकिक जीवन में यद्यपि रंगशालाओं का वैज्ञानिक पद्धति का अभाव है, लेकिन रंगमंच के अनेक रूप वहां देखे जा सकते हैं। जैसे स्थायी,अस्थायी रंगमंच । स्थाई रंगमंच प्राय: मन्दिरों में निर्मित किए जाते थे,जिनपर धार्मिक प्रस्तुतियां की जाती थीं । लेकिन अस्थाई रंगमंच का निर्माण समय और स्थान के अनुसार कर लिया जाता रहा है । आज भी लौकिक जीवन में दशहरे के अवसर पर रामलीला और जन्माष्टमी के अवसर पर रास लीलाओं की प्रस्तुति के लिए अस्थाई रंगमंचों की स्थापना की जाती है । इसी तरह बंगाल में 'यात्रा', हरयाणा में 'स्वांग' और गुजरात में 'भवाई' लोक-नाट्य-शैलियों का सम्बन्ध भी अस्थाई रंगमंच से ही है । आधुनिककाल में पारसी रंगमंच की स्थापना भारतीय नाट्य-इतिहास में एक नवीन घटना है । मानव-रुचि की विकृत सम्भावनाओं को प्रश्रय देने वाले इस रंगमंच को अस्थाई-लोक-रंगमंच ही कहना उचित होगा,क्योंकि इस रंगमंच का सम्बन्ध किसी एक स्थान से नहीं होता । 'इन्दर सभा' की परम्परा के रूप में पारसी-रंगमंच का उल्लेख हम पिछले परिच्छेदों में कर चुके हैं । यह रंगमंच जन-जीवन में नाट्य-रुचि जगाने का उत्तरदायित्व का निर्वाह तो कर रहा था,परन्तु इससे जन-मानस की पारम्परिक भावनाओं को ठेस पहुंचती थी,क्योंकि इसका उद्देश्य विकृत स्थितियों को प्रस्तुत करके आकर्षक नाट्य-अवतारणा करना था । धनोपार्जन इसका प्रथम और अन्तिम उद्देश्य था । यद्यपि इस परम्परा के दोषों के कारण बहुत बार इसका विरोध हुआ,लेकिन अपने युगीन प्रभावों के कारण इसकी व्याप्ति किसी नवीन परम्परा में नहीं पाई । बंगाल में 'यात्रा' का प्रभाव अत्यधिक था । खुले मैदान में खुले मंच पर 'यात्रा' लोक नाटक की प्रस्तुति की जाती थी । गीति-प्रधान नाट्य होने के कारण इसमें अपना विशेष

आकर्षण था । बंगाल में अंग्रेजी रंगमंच के प्रभाव से स्थापित बंगला-रंगमंच के ऊपर भी बहुत दिनों तक 'यात्रा' का प्रभाव देखा जा सकता है । 'तर्करत्न' मित्र और घोष के नाटकों पर 'यात्रा' का स्पष्ट प्रभाव है । उनके नाटकों में काव्यात्मक संवादों तथा भावनात्मक स्थलों का अत्यधिक प्रयोग हुवा है । इस प्रकार बंगला में एक ओर अत्यधिक संघर्ष और दूसरी ओर अत्यधिक शिथिल भावुकता के दर्शन होते हैं । अभी तक इस प्रदेश के नाटकों में घटना का अधिक महत्व स्पष्ट देखा जा सकता था । परन्तु डी०एल० राय ने बंगला रंगमंच को एक नवीन जीवन और शक्ति दी । उनके नाटकों का शिल्प-विधान अत्यन्त रंगमंचीय और गठीला होता है तथा नाटकों में द्वन्द्वात्मकता का जीवंत चित्रण रहता है[1] । उनके नाटकों की रंगमंचीय सफलता के कारण ही उनका प्रसार अन्य भाषी प्रदेशों में भी हो गया था । विशेषरूप से राय के नाटकों का प्रचार हिन्दी प्रदेश में हुवा । कालक्रम की दृष्टि से बंगला रंगमंच का प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर पड़ा, क्योंकि हिन्दी का रंगमंच अस्थाई और अव्यवस्थित होने के कारण बंगला के प्रभाव में ही पलता रहा । 'प्रसाद' ने हिन्दी रंगमंच की परम्परा में कोई विशेष योगदान नहीं दिया, लेकिन फिर भी उन्होंने ऐसे नाटक अवश्य दिए जो प्रत्येक दृष्टि से उच्च कहे जा सकते हैं । विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से इन नाटकों का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्व है[2] ।

'प्रसाद' के नाटकों को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मत-वैभिन्न्य है । कुछ विद्वानों ने स्पष्टरूप से कहा है कि उनके नाटक रंगमंच के लिए नहीं, पढ़ने के लिए हैं । वास्तव में यह कोई आरोप नहीं है । हमें इस सत्यता का सामना करना होगा कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के एक महान् संरक्षक 'प्रसाद' का रंगमंच से तनिक भी सम्पर्क नहीं था । रंगमंच के अनुभव के अभाव में 'प्रसाद'

---

१ सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : "भारत और भारतीय नाट्य-कला", दिल्ली, १९७०, पृ०४९५
२ ,, : ,, ,, ,, पृ०४९८

के नाटक कुछ ऐसी अवांछनीय सामग्री से भर गया है, जिससे वे जटिल एवं दुरूह हो गए हैं। राय के नाटकों का 'प्रसाद' पर पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु न जाने क्यों, उन्होंने राय की रचनाओं से रंगमंच की स्थितियों का प्रभाव ग्रहण नहीं किया। राय के नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी 'प्रसाद' की तरह अनेक घटनाओं और अनेक पात्रों की भीड़ से बचे हुए हैं। इसका कारण यह है कि राय का सम्बन्ध रंगमंच से था, अत: व्यावहारिक रूप से वे इस बात को समझते थे कि नाटकों की घटनात्मक जटिलता उसको प्रभावहीन बना देती है। 'प्रसाद' के नाटकों में अनेक घटनाओं का जमघट रहता है। उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अनेकों कथाएं साथ-साथ चलती हैं, जैसे सिकन्दर-सैल्युकस सम्बन्धी, अलका, सिंहरण सम्बन्धी, चन्द्रगुप्त-मालविका सम्बन्धी, नन्द सम्बन्धी, पर्वतेश्वर सम्बन्धी, अनेक आकर्षक घटनाएं। इन सभी घटनाओं में नाटक की सम्पूर्णता का अंश निहित है, अत: इनको छांटा भी नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं होता कि किसी कथा को उसमें से निकाला जा सके और सब घटनाओं के कारण रस-निष्पत्ति में बाधा पड़ती है। राय के नाटकों में इस प्रकार का दोष नहीं है। उन्होंने सदैव इस बात का ध्यान रखा कि मुख्य कथा सीधी और स्पष्ट होनी चाहिए, जिससे समाज उसको सरलता से ग्रहण कर सके। उनके 'चन्द्रगुप्त' - 'राणाप्रताप सिंह', 'नूरजहां', 'शाहजहां' आदि नाटकों में एक प्रमुख कथा-प्रवाह रहता है। प्रासंगिक रूप से जो कथाएं आदि हैं, उनसे मुख्य कथा के प्रवाह में व्यवधान नहीं पड़ता। 'प्रसाद' के कथानकों में यह उलझन इसलिए खड़ी हुई कि उनका इतिहास से बेहद लगाव था। वे इतिहास का अन्वेषण करना चाहते थे। अत: एक युग की अनेक सम्बन्धित घटनाओं को वे छोड़ न सके। दूसरे अपनी भावुकता और कल्पना के कारण उन्होंने काल्पनिक घटनाओं और[1] पात्रों की योजना भी कर डाली, जैसे सुरमा और विकट घोष सम्बन्धी घटनाएं और देवसेना तथा विजया की चारित्रिक कल्पनाएं[2]। उनके अन्य नाटकों में भी ऐतिहासिक सत्य और

---

१ द्रष्टव्य : 'राज्यश्री'

२ ,, : 'स्कन्दगुप्त'

काल्पनिक सत्य की अभिव्यक्ति के लोभ के कारण घटनाओं की अधिकता हो गई है । इस सन्दर्भ में राय को अधिक सफल कलाकार कहा जायगा ।

चरित्र-योजना का रंगमंच से गहरा सम्बन्ध है । चूंकि रसात्मक सम्प्रेषणीयता का प्रश्न चरित्रों से जुड़ा हुआ है । अतः चरित्रों की प्रस्तुति के लिए लेखक को सावधानी से काम लेना चाहिए । जो लेखक पात्र-योजना के प्रति उदासीन हो जाता है, उसके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते हैं । नाटक में यथासम्भव कम पात्र होने चाहिए, क्योंकि पात्रों की भीड़ में सामाजिक की एकाग्रता बंटकर खो जाती है । 'प्रसाद' रंगमंच से दूर होने के कारण इस दोष से भी नहीं बच सके । उनके नाटकों में कहीं-कहीं तो पात्रों का अच्छा खासा मेला लग जाता है । बीस से तीस की संख्या में पात्रों की अवतारणा करके 'प्रसाद' ने अपने नाटकों को रंगमंच के लिए असफल बना दिया[1] । यद्यपि 'प्रसाद' के नाटकों में एक मुख्य पात्र रहता है जो कथा का केन्द्र होता है । परन्तु अन्य पात्र भी कम महत्व-पूर्ण नहीं होते । जैसे 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्द से भी आकर्षक पात्र देवसेना हो गई है । ऐसी स्थिति में प्रेक्षकों का रागात्मक सम्बन्ध किसी एक पात्र में प्रश्रय न पाकर रसहीनता की दशा को पहुंच जाता है । राय के नाटकों का बंगला के पारम्परिक रंगमंच से सीधा सम्बन्ध था, अतः उन्होंने नाटक के इतिहास को रंगमंच की सफलता के लिए तराश संवार कर प्रस्तुत किया है । उनके नाटकों में बहुत कम पात्रों की योजना की गई है । उनके नाटकों में आठ या दस से अधिक जो भी पात्र होते हैं, उनके अस्तित्व का नाटक की कथा से सम्बन्ध नहीं के बराबर होता है, चाहे तो उन्हें निकाल भी सकते हैं[2] । दूसरी विशेषता यह है कि उनमें एक मुख्य पात्र रहता है । उसकी प्रधानता में ही

---

१ दृष्टव्य : '[illegible]', 'अजातशत्रु'

२ ,, : '[illegible]', '[illegible]', 'सीता', 'भीष्म'

समस्त रसात्मकता निहित रहती है । इस प्रकार राय जहां इस दृष्टि से रंगमंच पर पूर्ण सफल हैं, वहां 'प्रसाद' को लगभग असफल ही कहा जायगा । कुछ विशेष संस्थानों और अत्यधिक उच्च शैक्षणिक संस्थाओं में भले ही 'प्रसाद' की प्रस्तुतियां सफल हो जायं, लेकिन कुल मिलाकर उन्हें असफल ही कहा जायगा।

नाट्य-शास्त्र में रंगमंच की दृष्टि से कुछ वर्जनाओं का उल्लेख किया गया है--जैसे मंच पर हत्या का दृश्य उपस्थित नहीं किया जाना चाहिए। नाटक में दस से अधिक अंक नहीं होने चाहिए । कुछ[1] ऐसी जैसे सेतुबंध की घटनाएं मंच पर प्रस्तुत करने की योजना नहीं होनी चाहिए । इन सभी वर्जनाओं का सम्बन्ध किसी जड़ परम्परा से न होकर रंगमंच के प्रयोगिक अनुभवों से है । भरत ने इन वर्जनाओं का उल्लेख करते हुए स्पष्ट निर्देश[2] किया कि इनका उल्लंघन करने से नाटक के रसात्मक प्रवाह में बाधा पहुंचती है । इन्हीं तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में 'प्रसाद' और राय के नाटकों का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि दोनों ही लेखकों ने अपने नाटकों में ऐसे दृश्य उपस्थित किए,जिनका निषेध किया गया है । 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' में कात्यायन नन्द का बध करता है और मंच पर युद्ध की अवतारणा भी की जाती है । इसी प्रकार राय के 'शाहजहां' में दारा की हत्या की गई है । कहने का तात्पर्य यह कि दोनों नाटककारों की रचनाओं में शास्त्रीय निर्देशों की अवहेलना की प्रवृत्ति दीख पड़ती है । प्रश्न यह है कि ऐसे प्रयोगों से इन लेखकों के नाटकों पर क्या प्रभाव पड़ा है ? इस प्रकार दृश्य उपस्थित करने में एक ओर तो टैकनिकल परेशानी होती है,दूसरे इनसे वीभत्स रस के कारण रसाभास की स्थिति आने की सम्भावना बढ़ जाती है । परन्तु देखा यह गया है कि किसी पात्र अथवा घटना के स्पष्ट उद्भव के लिए कभी-कभी ऐसी घटनाओं का दृश्य आवश्यक हो जाता है । जैसे'हरिश्चन्द्र' में रोहिताश्व की

----

1 सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : 'भरत और भारतीय नाट्य-कला', दिल्ली, १९७०, पृ० १२९
2 ,, : ,, ,, पृ० १३०

मृत्यु दिखाना नाटकीय सम्पूर्णता के लिए आवश्यक हो जाता है । 'प्रसाद' और राय ने ऐसे दृश्यों का विधान किया अवश्य है, परन्तु जबरदस्ती नहीं, वरन् नाटक के स्वाभाविक विकास के लिए ।

'प्रसाद' के नाटकों पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि उनके कथानक अनावश्यक रूप से लम्बे हैं[1]। उनमें कथोपकथन भी लम्बे हैं, जिनमें अनेक दार्शनिक विचारों की भरमार है । गीतों की विस्तृति में नाटकीय प्रवाह में बाधक है । डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने विद्वानों के 'प्रसाद' सम्बन्धी आरोपों को संकलित करते हुए उल्लेख किया है कि उनके नाटकों में उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त काव्यात्मकता ऐसा दोष है कि जो उनके नाटक को अग्रेवदनीय बना देता है[2]। रस और संवेदना के स्तर पर 'प्रसाद' का अंकन करके हम कह सकते हैं कि उसके लिए एक विशिष्ट वर्ग चाहिए, साधारण व्यक्तियों की पहुंच से परे उनके नाटक जनसाधारण में कोई संवेदना नहीं जगा सकते हैं । जहां तक नाटकों की विस्तृति का प्रश्न है, डा० जगन्नाथ शर्मा ने इस विषय में कहा है कि 'वस्तु-विस्तार कम हो सकता है, संवाद भी लघु कर लिए जा सकते हैं, गान की दो-एक कड़ियां गाई जा सकती हैं, काव्यात्मक स्थल या तो हटाए जा सकते हैं या भाषा की अभिव्यंजना व्यावहारिक कर दी जा सकती है और दृश्य-विभाजन का क्रम अपनी आवश्यकता के अनुकूल कर लिया जा सकता है[3]।' लेकिन इस तथ्य से एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि 'प्रसाद' के नाटकों को मंच पर उतारने के लिए उन्हें तराशना पड़ता है, अन्यथा वे रंगमंच पर सफल नहीं हो सकते । इसके विरुद्ध राय के नाटकों के विषय में कहा जा

---

१ 'पहली बात तो यह है कि नाटक बहुत बड़े हैं । इनके लिए पांच छः घंटे भी यथेष्ठ नहीं हैं ।'
—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : 'प्रसाद' के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', वाराणसी, १९५६, पृ० २७५

२ ,, ,, ,, ,, पृ० २७६

३ द्रष्टव्य ६ ,, ,, ,, ,, पृ० २७७

सकता है कि रंगमंच के अनुसार उनका विस्तार, दृश्य-विभाजन उचित है, हाँ भावुकता के दबाव के कारण तथा काव्यात्मक स्थलों के आधिक्य के कारण कुछ नाटकों में उन्होंने विस्तृत संवादों और गीतों का प्रयोग किया है[1]। राय के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उन्हें रंगमंच का समुचित अनुभव था जिसका उपयोग उन्होंने अपने नाटकों में किया।

निष्कर्ष रूप से हम देखते हैं कि 'प्रसाद' और राय की रंगमंचीय सफलता और असफलता कुछ तात्कालिक परिस्थितियों पर आधारित है। हिन्दी के पास न कभी अपना कोई रंगमंच रहा है और न ही कोई सफल नाट्य-कृति ही हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत की जा सकी, क्योंकि हिन्दी का नाटककार रंगमंच की व्यावहारिकता से अनभिज्ञ रहा है। जब कि बंगाल में आधुनिक रंगमंच की एक सुनियोजित परम्परा रही है, जिसके प्रभाव में राय के नाटक रंगमंच की उस व्यावहारिकता से तराशे गए हैं, जो नाट्य-सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

गीत : 'प्रसाद' और राय

नाटकों में गीतों का प्रयोग एक प्राचीन परम्परा का अवशेष है। हमारे शास्त्रों में गीति-नाट्य का स्वतन्त्र रूपक शैली के रूप में अस्तित्व माना जाता है। भारतेन्दु काल में भी नाटकों में गीतों का प्रयोग बहुत होता रहा है। किसी भी भावात्मक स्थल पर किसी भावपूर्ण गीत की योजना नाटक का अनिवार्य गुण समझा जाता था। 'प्रसाद' और राय के नाटकों में गीतों का प्रयोग इसी भाव-धारा के अन्तर्गत हुआ है। रंगमंच पर जब कोई भावुकता की सघन स्थिति उपस्थित होती है तो 'प्रसाद' और राय भावपूर्ण गीत के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। प्रश्न यह है कि

---

1 द्रष्टव्य : 'पाषाणी', 'सीता', 'तबेहा'

आधुनिक काल में इस प्रकार की गीति-योजना नाट्य-प्रस्तुति पर क्या प्रभाव डालती है, नाटक में आज सबसे महत्वपूर्ण तत्व उसके प्रवाह को माना जाता है । यह प्रभाव नाटक की समस्त सत्ता में व्याप्त होता है । यदि कहीं किसी भी कारण इस प्रवाह में व्यवधान पड़ता है, तो नाटक की प्रभावात्मकता नष्ट होती है । परन्तु यदि नाटक में गीत-योजना है तो उसमें प्रवाह-हीनता आने की सम्भावना हो जाती है,क्योंकि गीत के लिए पात्रों को घटनाहीन स्थिति में पड़ना पड़ता है । अत: नाटक का समस्त कार्य-व्यापार एक स्थल पर रुक जाता है । इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि गीत नाटक की तटस्थता से सम्बन्धित न होकर उसके आन्तरिक संघर्ष से सम्बन्धित होता है । पात्र की मानसिक चिन्ता उसमें निहित रहती है । अत: उसे नाटक के प्रवाह से अलग नहीं समझा जा सकता । इन दो विपरीत विचारों के बीच एक सन्तुलित मार्ग यह हो सकता है कि नाटक में गीति-योजना इतनी सीमित होनी चाहिए कि उससे नाट्य प्रवाह को ठेस न पहुंचे ।'प्रसाद' और राय ने अपने नाटकों में गीतों की योजना आवश्यकता से कुछ अधिक की है । अपने युग के प्रभाव के कारण वे इस दोष से नहीं बच सके । उस युग तक गीतों को नाटकों का अनिवार्य अंग माना जाता था । राधेश्याम'कथावाचक','बेताब'आदि के हिन्दी-नाटकों में तथा गिरिश घोष के बंगला नाटकों में गीतों का बहुत अधिक प्रयोग होता था, परन्तु'प्रसाद' और राय ने गद्य को अधिक महत्व दिया । फिर भी उनके नाटकों में इस योजना के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविकता आ गई है, जैसे'प्रसाद' का प्रत्येक पात्र गीत गाता हुआ मंच पर आता है[१] । राय के नाटकों में भी इस प्रकार का प्रयोग है । उनके प्रत्येक नाटक में लगभग सभी मुख्य स्त्री गीत गाती हुई दीख पड़ती है । नाटकों में गीतों का प्रयोग यदि किसी अनिवार्य और उपयुक्त स्थिति पर किया जाय तो वह प्रस्तुति की सफलता का साधन बन सकता है,परन्तु यदि इस संतुलन का ध्यान न रखा जाय तो नाटक का प्रभाव समाप्त हो जायगा । 'प्रसाद' और

---

१ डा०जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन',वाराणसी, १९६६,पृ०२७४ ।

राय ने अपनी काव्य-प्रधान चेतना के कारण इस प्रकार के दोषपूर्ण प्रयोग किए, जिससे उनके नाटकों का प्रवाह रुक जाता है। इन दोनों लेखकों के प्रत्येक नाटक के प्रत्येक अंक में अनेक गीतों की योजना अनिवार्यरूप से हुई जो एक नाटकीय दोष ही कहा जायगा। 'प्रसाद' के नाटकों में गीतों की अधिकता को एक बहुत बड़ा दोष मानते हुए डा० जगन्नाथ प्रसादशर्मा ने कहा है -- 'चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में मालविका तीन बार गाती है। इन तीनों गानों में चालीस मिनट से कम नहीं लगेंगे। रंगमंच के विचार को छोड़कर भी यह स्थिति बुद्धि-ग्राह्य नहीं- कला-कौशल की तो बात ही दूर है।'[1] राय के नाटकों में इस प्रकार दोष प्राय: पाया जाता है।

'प्रसाद' और 'राय' के नाटकों में गीतों की योजना का आधार क्या है, इस प्रश्न पर विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। 'प्रसाद' ने प्राय: ऐसे स्थलों पर गीतों की योजना की, जहां कोई पात्र अपनी आन्तरिक गहराइयों में खोया रहता है, इसका कारण या तो कोई घटना रहती है या कोई प्राकृतिक व्यापार। राय के नाटकों में भी भावात्मक स्थिति का आधार लेकर ही गीतों की योजना की गई है। 'प्रसाद' के गीत प्राय: व्यक्तिगत हैं, उनमें किसी एक पात्र की आन्तरिकता का सम्प्रेषण रहता है। जब कि राय ने राष्ट्रीय भावना अथवा जातीय गौरव को व्यक्त करने के लिए गीतों का सहारा लिया है। 'प्रसाद' के गीतों के विषयों का उल्लेख करते हुए डा० दशरथ ओझा ने कहा है--' इन गीति काव्यों में विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त नारी का मत्त प्रलाप, असफल व्यक्ति का हृदयोद्गार, श्रद्धालु का दृढ़ विश्वास, सन्यासी का अचल वैराग्य, प्रेम-पिपासु का अनुनय-विनय, नारी का आत्मसमर्पण, [illegible] का ममत्व, देश प्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोह-अवरोह,

---

1 डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद' के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' वाराणसी, १९६६, पृ० २७४।

अध्यात्म का चिन्तन आदि लौकिक-पारलौकिक अनेक भावों और विचारों का एक स्थल पर सम्मिलन दिखाई पड़ता है[1]। उपरोक्त तथ्य पर दृष्टिपात करते हुए हम देखते हैं कि 'प्रसाद' के गीत प्राय: व्यक्तिगत अनुभूति से संबंधित हैं। राय के गीतों के विषय इस प्रकार हैं,जैसे देश-प्रेम,जाति-प्रेम,आन्तरिक पीड़ा, वात्सल्य,वैराग्य, दर्शन आदि।

अत्याधुनिक नाटकों में गीत-योजना की निरर्थकता सिद्ध है,लेकिन राय और 'प्रसाद' के युग में इस योजना का अपना महत्व था। अत: 'प्रसाद' और राय की गीत योजना को काल-सापेक्षता के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। जहां गद्य किसी भावात्मक अभिव्यक्ति में असमर्थ रह जाता है वहां काव्य का आधार लेना आवश्यक हो जाता है। अत: 'प्रसाद' और राय के गीत उनके नाटकों की सूक्ष्म अनुभूतियों के साधन हैं। यदि स्वतन्त्र रूप से 'प्रसाद' और राय के गीतों का संकलन किया जाय तो वे भारतीय साहित्य की अमर निधि माने जायेंगे।

माषा : 'प्रसाद' और राय

किसी भी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए किसी ठोस माध्यम की आवश्यकता होती है। कला को रूपायित करने के साधन के रूप में इस माध्यम का अत्यन्त महत्व है। साहित्य में भाषा को इसीलिए महत्वपूर्ण तत्वमाना जाता है,क्योंकि उसकी सम्प्रेषणीयता का आधार भाषा ही है। उपन्यास,कहानी,संस्मरण और नाटक — इन सभी साहित्यिक विधाओं में नाटक की भाषा एक जटिल विषय है,क्योंकि नाटक रंगमंच पर अवतरित वह सृष्टि है,जिसमें प्रेक्षक को पूर्ण विश्वास होना चाहिए। यदि कोई नाट्य कृति इस उत्तरदायित्व को पूर्ण नहीं करती तो वह सफल नहीं कही जा सकती। उपन्यास,कहानी आदि में लेखक अपने मन की अनुभूति को अपनी भाषा में प्रस्तुत कर सकता है, लेकिन नाटक में पात्र को अपनी भाषा में बात कहनी होती है।

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ० २७०

अत: नाटक में भाषा का बड़ा टेढ़ा प्रश्न है । भाषा पात्रानुकूल, विषयानुकूल, समयानुकूल होनी चाहिए । यदि ऐसा नहीं होता तो नाटक की सहजता खंडित हो जायगी ।

भाषा के इस सन्दर्भ में 'प्रसाद' और राय दोनों ही चर्चा के विषय रहे हैं । 'प्रसाद' के नाटकों की भाषा को लेकर हिन्दी जगत् में काफी चर्चा रही है । इस विषय में चर्चा करते हुए डा० दशरथ ओझा ने उन आलोचकों के आरोप को खण्डित किया जो यह कहते हैं कि 'प्रसाद' के सभी पात्रों की भाषा में प्राय: एकवाक्यता एवं एकात्मकता है, विविधता नहीं । उन्होंने कहा, " उनके सभी पात्र खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी भाषा में परिवर्तन विषय की गहनता के कारण होता है, प्रान्त की विभिन्नता के कारण नहीं[1] ।" इसी सन्दर्भ में यह कह देना भी उचित होगा कि पात्रों के स्तर पर भाषा का वैभिन्न्य 'प्रसाद' को उचित नहीं जान पड़ता था । इस विषय में डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने 'प्रसाद' का विचार स्पष्ट करते हुए कहा है कि नाटक में अनेक अंचलों के अनेक पात्र होते हैं यदि वे सभी अपनी-अपनी भाषा बोलें तो रंगमंच की प्रस्तुति एक तमाशा बनकर रह जायगी, साथ ही प्रेक्षागृह में बैठे सामाजिकों से भी यह आशा नहीं की जा सकती कि उनमें से प्रत्येक अनेक भाषा बोलता और समझता होगा[2] । ऐसी स्थिति में स्पष्टरूप से 'प्रसाद' ने एक निश्चित मार्ग का अनुसरण किया । अत: उनकी भाषा (खड़ी बोली) साहित्यिक हिन्दी है । ठीक इसी प्रकार बंगला के प्रसिद्ध कलाकार राय ने भी नाटकों में सरल बंगला भाषा का प्रयोग किया । यद्यपि मुगल काल के इतिहास का परिवेश प्रस्तुत करने के लिए राय उर्दू प्रधान बंगला का प्रयोग कर सकते थे, परन्तु ऐसा करने में उनके समक्ष कठिनाई थी, क्योंकि उनका सम्बन्ध बंगला रंगमंच से था, अत: नाटकीय अभिव्यक्ति में पात्रों की सहजता से भी अधिक उनका ध्यान प्रेक्षागृह में बैठे हुए लोगों पर था

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ० २५८

२ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', वाराणसी, १९६६, पृ० २०२

और वे लोग जिस भाषा को जानते,समझते थे, उसका प्रयोग आवश्यक था । अत: राय ने सरल,प्रवाहपूर्ण,एवं प्रभावपूर्ण बंगला का प्रयोग किया । अत: उनके मुसलमान पात्र भी भाषा के स्तर पर हिन्दू पात्रों से बहुत अलग दिखाई नहीं पड़ते । शाहजहां की भाषा द्रष्टव्य है--

'शाहजहां -- सॉत्त बोले हो कान्ना-पिता साब...'[1]

तथा जसवंत सिंह की भाषा का रूप इस प्रकार है--

'जसवंत --'स्तॅब्ध होल्यो मीरजुमला'।'[2]

बंगला के साहित्यिक शब्दों का सम्प्रेषणीयता के स्तर पर प्रयोग करके राय ने भाषा की सफलता को स्वीकार किया है । वास्तव में कलाकार के समक्ष सबसे बड़ी समस्या सम्प्रेषणीयता की होती है ।क्योंकि यदि कलाकार अपने-आपको स्पष्ट नहीं कर पाता तो उसे आत्मिक कष्ट होता है ।'प्रसाद' और राय दोनों ने भाषा को महत्वपूर्ण मानकर भी केवल माध्यम रूप में स्वीकार किया है । अत: उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति में भाषा नाटक का माध्यम बनकर आई है साध्य नहीं । आज के युग में जब कि मानवीय जीवन अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार में बिखर गया है,हमारे लिए भाषा की विविधता की रक्षा करना सम्भव नहीं रह गया ।'प्रसाद' और राय के नाटकों में इतने-भाषा-प्रान्तों के पात्रों का आगमन हुआ कि उन सब की भाषा का ज्ञान एक व्यक्ति से सम्भव नहीं हो सकता । अत: भाषा को पात्रानुकूल प्रस्तुत करना न तो वैज्ञानिक ही था और न सम्भव ही । सिकन्दर और चन्द्रगुप्त की भाषा के वैभिन्य की कल्पना कीजिए । यूनानी भाषा में बोलने वाले सिकन्दर को सहज रूप में हिन्दी या बंगला रंगमंच पर उतारना नितान्त अवैज्ञानिक दृष्टि होती ।

यद्यपि 'प्रसाद' और राय के नाटकों में एक भाषा को स्वीकार किया गया है,फिर भी पात्रों के स्तर और स्वभाव के अनुसार

---

१ 'शाहजहाँ' : 'द्विजेन्द्र ग्रन्थावली' १,पृ० २८७

२ ,, : ,, पृ० २५६

भाषा के स्तर में भी अन्तर होना चाहिए था । राय ने बहुत कुछ इस बात का ध्यान रखा कि दुर्गादास, राणा प्रताप सिंह और दिलदार, पियारा अलग-अलग स्तर की भाषा का प्रयोग करें । इस क्षेत्र में वे बहुत कुछ सफल भी हुए । उनके विदूषक और गम्भीर पात्र भाषा के स्तर पर अन्तराल उपस्थित करते हैं । परन्तु 'प्रसाद' अपने नाटकों को इस दोष से नहीं बचा सके । उनका प्रत्येक पात्र दार्शनिक, कवि और चिन्तक प्रतीत होता है । राय और 'प्रसाद' ने भाषा की एकरूपता को स्वीकार करके यह सिद्ध किया है कि भाषा प्रेक्षागृह में बैठे लोगों की वस्तु है न कि रंगमंच पर अवतरित पात्रों की ।

काल-सापेक्ष्य भाषा के सम्बन्ध में इसी प्रकार का विवाद खड़ा होता है । 'प्रसाद' ने जिस ऐतिहासिक युग की अवतारणा ~~के-लिए-उस~~ अपने ~~युग-की-भाषा-का-प्रयोग~~ नाटकों में की, उसके परिवेश को उपस्थित करने के लिए उस युग की भाषा का प्रयोग आवश्यक है । 'प्रसाद' ने यद्यपि इस तथ्य को स्वीकार किया है कि भाषा का युग की अवतारणा में बहुत कुछ हाथ हो सकता है, इसीलिए उनके नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ हो गई है । भारतीय संस्कृति की अर्थवत्ता को वहन करने के लिए जिस सांगर्भिक भाषा की आवश्यकता थी, 'प्रसाद' ने उसी का प्रयोग किया है । राय के नाटकों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनके रचना-युग का परिवेश हिन्दी-उर्दू मिश्रित था, जिसको प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने भाषा को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया । उनके नाटकों में सहज वातावरण उपस्थित करने के लिए दो जातियों की भिन्नता को प्रस्तुत किया गया है । राणा प्रताप और अकबर के कार्य एक स्पष्ट अन्तराल उपस्थित करते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि भाषा के माध्यम से नाटकीय सहजता को प्रदर्शित न करके उन्होंने घटनाओं के आधार पर उसकी प्रस्तुति की है ।

'प्रसाद' की भाषा पर दुरूहता का आरोप भी लगाया जाता है । किसी सीमा तक यह आरोप सत्य भी है । अभी हिन्दी जगत इस स्तर पर नहीं पहुँचा कि प्रेक्षा-गृह में बैठकर 'प्रसाद' की भाषा के माध्यम से

उनकी उद्भावनाओं को ग्रहण कर सके । यही कारण है कि उनके नाटक जन-जीवन के लिए अभी तक उपर्युक्त नहीं हैं । आने वाले युग में यह आशा की जाती है कि 'प्रसाद' के नाटकों की भाषा के विषय में बहुत विवाद नहीं रह जायगा ।

अरस्तु के अनुसार नाटक की भाषा असाधारण होते हुए भी सुगम एवं सम्प्रेषणीय होनी चाहिए और सरल होते हुए भी चमत्कारपूर्ण एवं सारगर्भित होनी चाहिए[1] । इसका अर्थ यही है कि साहित्य के और बोल-चाल की भाषा में जो अन्तर होता है, उसका ध्यान नाटककार को सदैव होना चाहिए । 'प्रसाद' और राय के नाटकों में साहित्यिक, सारगर्भित, सुनिश्चित, प्रभावपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है । उनके नाटकों में भाषा की असाधारणता तथा सुगमता का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है ।

अन्त में 'प्रसाद' और राय के नाटकों की भाषा के विषय में कहा जा सकता है कि दोनों लेखक भाषा सम्बन्धी सभी तथ्यों से अवगत थे । संस्कृत में पात्रानुकूल भाषा प्रयोग के निर्देश और पश्चिम के चमत्कारपूर्ण भाषा-प्रयोग का ज्ञान दोनों को था । दोनों लेखकों ने बड़ी सूझ-समझ से भाषा के रूप को अपनी रचनाओं में स्वीकार किया है । 'प्रसाद' के नाटकों में उपरोक्त कुछ दोष अवश्य पाए जाते हैं, फिर भी उनकी भाषा में एक अनोखा प्रवाह, आकर्षण और प्रभाव है । राय की भाषा रंगमंच की मर्यादाओं में बंधी हुई सुगम, भावशाली एवं प्रवाहपूर्ण है ।

-0-

---

१ डा० नगेन्द्र : 'अरस्तु का काव्य-शास्त्र', प्रयाग, १९४८ ।

परिच्छेद ० ५ ०

कथावस्तु

० शास्त्रीय विवेचन

० कथावस्तु : 'प्रसाद'

० कथावस्तु : 'राय

० निष्कर्ष

'कथावस्तु का अर्थ है कथा का कलात्मक संयोजन ।'

परिच्छेद -- ५

कथावस्तु

शास्त्रीय विवेचन

पूर्व और पश्चिम के विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि वस्तु नाटक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है । वस्तु को नाटक का शरीर माना जाता है । जैसे बिना शरीर के मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना वस्तु के नाटक की रचना नहीं हो सकती । 'कथानक' का अर्थ है -- कथा का कलात्मक संयोजन । कथा के किस अंश को स्वीकार किया जाय और किस अंश को त्याग दिया जाय, यह प्रश्न रचना के कलात्मक सौन्दर्य का आधार है । नाटककार जीवन की घटित और सम्भावित घटनाओं को अपने कथानक का आधार बना सकता है । अत: कथानक की कोई क्षेत्र-सीमा भी निर्धारित नहीं की जा सकती । जीवन के किसी भी क्षेत्र से कथानक को लेकर पात्रों और घटनाओं के माध्यम से कलात्मक नाट्य-सृजन किया जा सकता है । भारतीय आचार्यों ने कथानक को असीम बताया है, परन्तु औचित्य के अंकुश को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है । कथानक में विश्वसनीयता का होना अत्यन्त आवश्यक है । रचना में कलात्मकता का उचित प्रभाव उसी अवस्था में पड़ सकता है, जब कि उसमें घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध निर्धारित हो । अत: कथा के कार्य-कारण सम्बन्ध के समन्वित रूप को ही कथानक कहते हैं । कथा काल-क्रमानुसार घटनाओं का संकलन है, तो कथानक काल-क्रमानुसार घटनाओं का विकास । कोई भी कथानक रचना के फलागम पर समाप्त होता है,

इस फलागम तक पहुंचने के लिए कथा को अनेक पड़ाव पार करने होते हैं । इन्हीं पड़ावों को नाट्य अवस्थाएं कहते हैं[1] । भारतीय दृष्टि से कथानक को पांच अवस्थाओं में विभाजित किया गया है । भारतीय नाट्य शास्त्र में घटनाओं का बाह्य व्यापार नायक का हेतु है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जाता है । चूंकि फल की प्राप्ति नायक को होती है, अत: मार्ग की समस्त अवस्थाएं नायक के विकास की अवस्थाएं मानी जाती हैं । ये अवस्थाएं इस प्रकार हैं-- (१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति, (५) फलागम ।

कथानक में पांच अवस्थाओं के अतिरिक्त पांच अर्थ प्रकृतियां भी मानी गई हैं । अर्थ से तात्पर्य फल से है और प्रकृति से तात्पर्य उपाय से । अर्थात् फल प्राप्ति के उपाय । उपरोक्त पांच अवस्थाएं एक प्रकार से अलग-अलग पड़ाव हैं, जिनपर पहुंचने के लिए नायक को कुछ उपाय करने पड़ते हैं, इन्हीं उपायों को (१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी, (५) कार्य नाम की पांच अर्थ प्रकृतियां में विभाजित किया गया है ।

पांच अवस्थाओं और पांच अर्थ प्रकृतियों को समन्वित करने वाली पांच सन्धियों की भी कल्पना आवश्यक थी, अत: (१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श, (५) निर्वहण इन पांच सन्धियों की कल्पना भी नाट्य शास्त्र में की गई ।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार कथानक का संक्षिप्त परिचय देने के पश्चात् पाश्चात्य दृष्टि से भी कथानक पर विचार कर लेना उचित होगा। पश्चिम में प्राय: कथानक और प्लाट (अंग्रेज़ी) को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है । प्लाट का वास्तविक अर्थ है कोई छलयुक्त प्रयोजन, जिसके अनुसार किसी रचना का कथानक सत्य की [illegible] न होकर एक नियोजित सम्भाव्य कल्पना होता है । इसमें 'छल' शब्द का केवल छाया अर्थ निहित होता है, यानी कि

---

१ डा० श्यामसुन्दरदास : 'रूपक रहस्य', १९६७, प्रयाग, पृ० ४४

इसके अन्तर्गत नाटककार इस ढंग से कथानक का संघटन करता है कि वह संघटन काल्पनिक होता हुआ भी वास्तविक सत्य-सा आभासित होता है । प्राय: इसी बात को ध्यान में रखकर नाटककार को सिद्ध मिथ्यावादी कहा जाता है । लेकिन स्मरण रहे कि उसकी यह मिथ्यावादिता औचित्य की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती । पश्चिम में कथानक के संघटन में पर विशेष बल दिया जाता है । अरस्तू ने स्पष्ट कहा है कि कथानक ही नाट्य विधा का मूल है । उसमें उतार-चढ़ाव,गतिशीलता और संघर्ष का यथोचित सन्वय होना चाहिए ।

पाश्चात्य विद्वानों ने औत्सुक्य तत्व को भी कथानक की विशेष आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया है । कथानक कला का एक साधन है । उसे सत्य की ठीक-ठीक प्रतिकृति मान लेने पर वह एक दस्तावेज या इतिहास हो जायगा । यह कलात्मकता जो कथानक को इतिहास से साहित्य की सीमा में लाती है, कलाकार की स्वतन्त्र शक्ति होती है । कलाकार को चाहिए कि कथानक में आकस्मिकता और [illegible] की उचित स्थितियां रहें ताकि रचना(नाटक) में [illegible] की जिज्ञासा बनी रहे । असाधारण का सामंजस्य ही नाटक की सफलता का रहस्य है । जहां [illegible] तत्व समाप्त हो जायगा,वहीं कला अपना आकर्षण और आग्रह लो देगी । अरस्तू ने बहुत पहले कथानक के विन्यास पर विचार करते हुए इस बात की आवश्यकता अनुभव की थी कि कथानक में कार्य-व्यापार की एकता (अन्विति) स्वयं अपने में परिपूर्णता है । उसमें स्पष्टरूप से आरम्भ,मध्य और अन्त का निर्वाह होना चाहिए । कार्य-व्यापार की भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है जो [illegible]न्विति के लिए आवश्यक है । कथानक का प्रारम्भ, मध्य और अन्त वाला विभाजन बड़ा स्पष्ट एवं उपयुक्त है । भारतीय दृष्टि में प्रारम्भ और फलागम दोनों ही अवस्थाएं निर्जीव और अचेतन मानी गई हैं,क्योंकि कार्य से पूर्व कार्य का [illegible] नियताप्ति के पश्चात् फल का मिलना, इन दोनों अवस्थाओं में कथानक शिथिल रहता है । शेष तीन अवस्थाओं को यदि कथानक का प्रारम्भ ,मध्य और अन्त माना जाय तो [illegible] और पाश्चात्य मत में कोई

मूल भूत अन्तर नहीं रह जाता । परन्तु कथानक के उद्देश्य के सम्बन्ध में दोनों मतों में स्पष्ट अन्तर है । भारतीय विद्वान् कला का ध्येय रसात्मक-बोध में केन्द्रित करते हैं , जब कि पाश्चात्य विद्वान् संघर्ष तथा औत्सुक्य को प्रस्तुत करने में ही नाटक के उद्देश्य की पूर्ति मानते हैं[1] ।

वस्तु-योजना : 'प्रसाद'

'प्रसाद' के नाटकों का अध्ययन करने पर इस बात को स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने नाटक के कथानक को महत्वपूर्ण माना है । यद्यपि 'प्रसाद' ने प्रतीकात्मक नाटकों--'एक घूंट', 'कामना' आदि की रचना भी की है, लेकिन उनकी प्रतिभा का समुचित विकास उनके ऐतिहासिक नाटकों में ही हुआ है । इन्हीं नाटकों के आधार पर हम 'प्रसाद' का यह अध्ययन प्रस्तुत करेंगे ।

अपने नाटकों के लिए 'प्रसाद' ने ऐतिहासिक कथानक ही क्यों चुनें, इसका कारण यह था कि जीवन के शाश्वत मूल्यों को इतिहास के घटित सत्य में पाकर उनका वैचारिक-परिवेश नाटकों के रूप में मूर्त हो उठा । जब उन्होंने भारत की खोई हुई संस्कृति की खोज की तो उनकी दृष्टि इतिहास के कुछ विशिष्ट स्थलों पर पड़ी । जब भी भारत के इतिहास में कोई नया संघर्ष आया अथवा जब भी कोई नया मोड़ उपस्थित हुआ तो तभी इतिहास में एक तीव्र आकर्षण पैदा हुआ । 'प्रसाद' भी इस आकर्षण से नहीं बच सके । 'प्रसाद' एक कलाकार होते हुए भी इतिहास के जागरूक विद्यार्थी थे, अतः उनकी रचनाएं एक ओर साहित्य की सरस कृतियां हैं तो दूसरी ओर इतिहास की गवेषणाएं हैं । यह सच है कि इतिहास केवल एक लेखा जोखा है, इससे अधिक उसकी सीमा नहीं, परन्तु ऐतिहासिक रचनाएं मात्र दस्तावेज न होकर प्राणवान इतिहास हैं । अतः 'प्रसाद' के नाटक 'अजातशत्रु' से लेकर 'हर्ष' तक के इतिहास की सजीव

---

1 डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', १९६६, काशी, पृ० २५३ ।

प्रस्तुति है । 'प्रसाद' क ने भरसक यह प्रयास किया है कि उनकी रचनाओं में इतिहास की पूर्ण रक्षा हो सके । इसका अर्थ यह नहीं है कि वे ऐतिहासिक घटना को ठीक ऐतिहासिक रूप में नाटक का कथानक मान लेने के पक्ष में थे । यदि ऐसा होता तो उनके नाटक, नाटक न होकर इतिहास के शुष्क ग्रन्थ बन जाते । 'प्रसाद' ने इतिहास को कथानक के रूप में स्वीकार करते समय अपने साहित्यकार के अधिकार को कभी नहीं छोड़ा । इतिहास जिन घटनाओं, स्थानों एवं पात्रों का उल्लेख करता है, साहित्यकार कल्पना की सजीवता से उसमें प्राण फूंक देता है । पात्रों का जीवन-दर्शन,स्वभाव, संस्कार आदि घटनाओं के नियामक तत्व होते हैं और घटनाएं पात्रों के जीवन-दर्शन को निर्मित करती हैं । इस प्रकार कथानक में कार्य-कारण का सम्बन्ध उसके प्रवाह के लिए वांछनीय है ।'प्रसाद' के नाटकों में इस विचार से घटनाओं और पात्रों के सम्बन्धों की कल्पना की गई है और उनमें औचित्य के आधार पर सम्बन्ध स्थापित किए गए हैं । इतिहास इस कार्य में मौन रहता है । यह कार्य साहित्यकार का है, जिसका निर्वाह 'प्रसाद' ने भली प्रकार किया । उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि मुख्यत: इतिहास के घटित सत्य में उलट-फेर नहीं होना चाहिए । फिर भी अनेक पात्रों और घटनाओं की कल्पना उनके कथानकों में मिलेगी , जैसे 'राजश्री' में विकट घोष और सुरमा की,'चन्द्रगुप्त' में शकटार की । लेकिन इस कल्पना को उन्होंने इतिहास के घटित सत्य की अवहेलना के रूप में प्रस्तुत न करके उसके सत्य को सजीव रूप में मुखरित करने के लिए किया है । अर्थात् प्रसाद की यह कल्पना-सृष्टि इतिहास के मार्ग में बाधक न होकर उसे सहायता और प्रवाह देती है । 'प्रसाद' के नाटकों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनके कथानकों का विकास न तो शास्त्रीय बन्धन को [illegible] रूप से स्वीकार करके हुआ और न ही पूर्ण स्वतन्त्रता के आधार पर ।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार कथानक की पांच अवस्थाओं, पांच अर्थ प्रकृतियों और पांच सन्धियों का प्रयोग अनिवार्यरूप से उनकी किसी भी रचना में नहीं मिलता । शास्त्रीय दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' एक संगठित रचना मानी

जाती है । उसके पांच अंकों में किसी सीमा तक भारतीय नाट्य-रीतियों का निर्वाह दिखाई देता है, जैसे प्रथम और द्वितीय अंक में आरम्भ और प्रयत्न का निर्वाह है । तृतीय अंक में प्राप्त्याशा है । चतुर्थ अंक में नियताप्ति अवस्था दृष्टिगोचर होती है, जब नायक के 'शान्त हो' कहने पर विजया कहती है--'शान्ति कहां ? उनपर झूठा अभियोग लगाकर नीच हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी । अब उसका फल मिला ।'[1] तो उसका विरोध का स्वर पश्चाताप की तरलता में बदला हुआ दीख पड़ता है । इसी अंक के दूसरे दृश्य में विरोधी भटार्क के अन्दर भी परिवर्तन देखा जाता है --

भटार्क —'मां, क्षमा करो । आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया । मैं इस संघर्ष से अलग हूं, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुंचाऊंगा । (तलवार डाल देता है।)'[2]

इस प्रकार एक-के-बाद-एक विरोधों का शमन स्कन्दगुप्त को फलागम की ओर ले जाता है । अत: चतुर्थ अंक को और पांचवें अंक में स्कन्दगुप्त जब पुरगुप्त को राजतिलक करके युवराज घोषित करता है, तो फलागम की अन्तिम नाट्य अवस्था कही जा सकती है ।

वैसे तो 'ध्रुवस्वामिनी' में भी पंच अवस्थाओं और पंच-प्रकृतियों को संधियों सहित देखा जा सकता है और खींचतान करने पर अन्य नाटकों में भी, परन्तु 'प्रसाद' इस सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र पथ पर चले हैं । उनके नाटकों में नान्दी पाठ, सूत्रधार, नटी, नट आदि का कुछ प्रयोग नहीं है व शास्त्रीय पद्धति का भी निर्वाह नहीं है, फिर भी उन्होंने सर्वथा शास्त्र की अवहेलना नहीं की । उन्होंने इस बात को गहराई से समझा कि शास्त्र केवल

---

१ 'स्कन्दगुप्त', पृ० ११०
२ ,, पृ० १०६

बन्धन न होकर प्रायोगिक अनुभवों का संकलन होता है । रीतियां आदर्श होती हैं । उनके संयम से रचना में बिखराव नहीं आता । इसी विचार को दृष्टि-पथ में रखकर 'प्रसाद' ने यथासम्भव भारतीय-शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह करने का प्रयास किया । साथ ही युग-प्रभाव के कारण पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र का भी प्रयोग उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है । भारतीय शास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र,कथानक के सन्दर्भ में अधिक स्पष्ट एवं ग्राह्य है । उसके अनुसार कथावस्तु में वैचित्र्य को प्रधानता दी जाती है[१]। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में 'स्कन्द गुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' को लियाजा सकता है । उनके कथानक सीधे-सपाट न होकर ऐसी घटनाओं के संघटन से निर्मित हुए जिनके प्रति सामाजिक जिज्ञासा से भरा रहता है । प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से युवराज स्कन्द एक महत्त्वपूर्ण युद्ध के लिए तत्पर हैं,जिसके परिणाम के साथ उसका भविष्य जुड़ा हुआ है । ध्रुवस्वामिनी के प्रथम अंक में ही चन्द्रगुप्त शक-दुर्ग में जाने का संकल्प करता है । सामाजिक इस संकल्प-पूर्ति को शीघ्र देखने के लिए उत्सुक रहता है । 'प्रसाद' के नाटकों में कहीं-कहीं प दैवी संकेतों का प्रयोग भी किया गया है,जैसे 'राज्यश्री' में दैवअट्टहास[२],'ध्रुवस्वामिनी' में धूमकेतु दर्शन[३]। कथा-विकास के विषय में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है । भारतीय मत के अनुसार पश्चिम में कथा को तीन-- आदि,मध्य और अन्त स्पष्ट स्थितियों में विभाजित किया गया है जो भारतीय मत के अनुरूप ही है ।'प्रसाद' के नाटकों में इन तीनों स्थितियों का स्पष्ट निर्वाह हुआ है । जैसे 'ध्रुवस्वामिनी' में तो तीन अंकों का विभाजन भी लगभग इन्हीं के अनुसार हुआ है । 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', 'विशाख'

---

१ डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', १९६६, वाराणसी,पृ० २४६ ।

२ 'राज्यश्री', पृ० २३

३ 'ध्रुवस्वामिनी', पृ० ४६

आदि नाटकों में पांच अंकों का विभाजन कथा को लगभग उक्त तीन स्थितियों में बांट देता है । 'राज्यश्री' के प्रथम अंक में समस्त घटनाएं बड़े प्रवाह से राज्यश्री के चरित्र का विकास व करती हुई देवगुप्त की विजय और गृह वर्मा की मृत्यु पर समाप्त हो जाती है । दूसरे अंक में अनेक संघर्षों के पश्चात् देवगुप्त मारा जाता है । तीसरे अंक में राज्यवर्द्धन के साथ-साथ उसका हत्यारा नरेन्द्रगुप्त भी समाप्त हो जाता है यही नाटक का मध्य (चरम) है, फिर समस्त घटनाएं बड़े वेग से हर्ष और राज्यश्री का महादान में समाप्ति हो जाती हैं । यहीं नाटक का अन्त है । ठीक यही स्थिति अन्य नाटकों में भी देखी जा सकती है । अत: हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' ने कथानक के सन्दर्भ में पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों नाट्य-दृष्टियों का स्वतन्त्र धरातल पर समन्वय किया है । उनके कथानकों का चयन रस और संघर्ष दोनों दृष्टियों से हुआ है । अत: उनका 'स्कन्दगुप्त' अगर हमें रस की भाव-धारा में बहा ले जाता है,तो अजातशत्रु संघर्ष की कठोर और ऊबड़खाबड़ भूमि पर ला छोड़ता है ।

'प्रसाद' के सामने एक विशाल देश का विस्तृत इतिहास था । परन्तु उस विस्तार के अन्दर कुछ विशेष मोड़ों को ही 'प्रसाद' ने देखा । और अपने नाटकों के कथानक उसके आधार पर निर्मित किए ।कोई भी कलाकार अपने युग की देन होता है, इस दृष्टि से यह भी स्पष्ट है कि चाहे वह इतिहास के अंचल में कितनी भी दूर भ्रमण करे, परन्तु उसकी दृष्टि अपने जन्म की वीथियों को नहीं भूलती । 'प्रसाद' ने इतिहास से अपने नाटकों के कथानक अवश्य चुने, परन्तु उनके इतिहास में वर्तमान को स्पष्टरूप से देखा जा सकता क है । उनके [illegible] नाटकों में तो जो काल्पनिक कथानक हैं, वर्तमान और इतिहास के विभाजन की समस्या ही नहीं है । उनके 'राज्यश्री' में भारत की एकता का जो स्वप्न देखा गया है,वह प्रसाद-युगीन भारतीय स्वतन्त्रता की आवश्यकता थीं । अत: उनका हर्षवर्द्धन [illegible] से लड़ने को इन्कार कर देता है,क्योंकि अपने ही देश के एक मित्र के अपने भाई से युद्ध करना व्यर्थ है । राज्यश्री का युद्ध

राज्यलिप्सा या दर्पपूर्ति के लिए नहीं, वरन् यह नारी-उद्धार और देश की अखण्डता का साधन है[1]। 'हर्ष-- हम लोग साम्राज्य नहीं स्थापित किया चाहते थे,... मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूं। यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक काश्मीर से लेकर रेवा तक, एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न चाहिए[2]।' 'ध्रुवस्वामिनी' में भी एक सामयिक नारी-समस्या को उठाया गया है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटकों में उनका वर्तमान सजीव हो उठा है। 'ध्रुवस्वामिनी' के ये कथन वर्तमान युग की नारी के कथन लगते हैं--' ! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं ? (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी[3]।' 'कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूं कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो[4]।'

'अजातशत्रु' में जो विरोधमूलक स्वर सुनाई पड़ता है, जो संघर्ष उसमें निहित है, वह देश की तात्कालिक संघर्ष की स्थिति का ही प्रतिरूप है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भी एक राष्ट्रीय नायक को प्रस्तुत किया गया है। प्रेम और बलिदान की उच्च भूमियों का निदर्शन करना भी इस नाटक का उद्देश्य है। नारी की महानता को भी इस नाटक में दर्शाया गया है। डा० दशरथ ओझा के अनुसार --' इस नाटक में नारी-पात्रों का विशेष महत्त्व है। इसमें पुरुष की पथ-प्रदर्शिका प्रायः नारी है। रामा सर्वनाग को, कमला भटार्क को सत्पथ दिखाती है। देवसेना स्कन्दगुप्त को मानसिक दुर्बलता से ऊपर

---

1 द्रष्टव्य : 'राज्यश्री', तृतीय अंक

2 'राज्यश्री', पृ०७८

3 'ध्रुवस्वामिनी', पृ० २८

4 ,, पृ० २९

उठाते हैं[1]। 'चन्द्रगुप्त' में प्रथम बार देश की बाह्य शक्तियों से रक्षा करने और उसको एकसूत्र में बांधने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक 'प्रसाद' कालीन भारत जब तक एक उद्देश्य के लिए एक नहीं हो जाता, तब तक मगध साम्राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता का स्वप्न राष्ट्रीय एकता की धारणा अर्थहीन है। चन्द्रगुप्त इतिहास के संदर्भ में इसी वर्तमान सत्य की पुष्टि करता है। उनके सभी नाटकों में राष्ट्र-प्रेम, मानवतावाद, नारी-उद्धार, बलिदान आदि का कलात्मक संयोजन है। 'प्रसाद' व्यक्ति और राष्ट्र दोनों स्तरों पर सम-सामयिक संदर्भों से जुड़े हुए हैं। एक ओर वे अपने देशवासियों में प्रेम और त्याग की भावना का उदात्त आरोपण कर देना चाहते हैं, दूसरी ओर राष्ट्रीय स्तर पर उन सभी तत्वों को निर्मूल कर देना चाहते हैं जो हमारी स्वतन्त्रता-प्राप्ति में बाधक हैं। इस प्रकार उनके कथा-संयोजन में सम-सामयिकता का गहरा दबाव अनुभव किया जा सकता है। डा० जगदीशचन्द्र जोशी के शब्दों में -- 'उनका विषय प्राचीन हो सकता है, पर आत्मा नाटककार के युग की है[2]।' 'प्रसाद' के नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण और वर्तमान जागृति को एक साथ देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में नाटकों का असन्तुलित हो जाना सम्भव था, लेकिन उन्होंने अपनी कुशल प्रज्ञा तथा अभूतपूर्व विवेक-क्षमता द्वारा प्राचीन इतिहास तथा नवीन जागरण -युग का एक सफल एवं उदाहरणीय सामन्जस्य उपस्थित कर दिखाया है। और यह सामंजस्य ही 'प्रसाद' के नाटकों के सघन तथा संगठित शिल्प का मुख्य आधार है, जिसका बल प्राप्त कर शिथिल शिल्प के नाटक भी अपने स्थापत्य में काफी सघन और संघटित हो गए हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' के नाटक एक ओर तो इतिहास का ठोस आधार लेकर खड़े हुए हैं तो दूसरी ओर इतिहास के

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली, १९६८, पृ० २३६।

२ डा० जगदीशचन्द्र जोशी : 'प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन', १९७०, दिल्ली, पृ० ५८।

अभाव में दन्तकथाओं, किम्वदन्तियों साहित्यिक-रचनाओं पर आधारित हैं।
'चन्द्रगुप्त' में शकटार की कथा, 'अजातशत्रु' में आम्रपाली और मातृगुप्त की कथा
ऐसी ही हैं। इस प्रकार की घटनाओं का संयोजन इतिहास की मुख्य घटना के
विकास में बाधक नहीं, इनका संयोजन स्वतन्त्र रूप में हुआ है। सम्भावना के
आधार पर जो कल्पनाएं 'प्रसाद' के नाटकों में हुई हैंउनसे भी इतिहास के सत्य
पर कोई आघात नहीं होता। उनके नाटकों में प्राय: दो कथाएं साथ-साथ
चलती हैं, उनमें से एक मुख्य कथा होती है, जिसका सीधा सम्बन्ध इतिहास से
होता है, जैसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य[1], स्कन्दगुप्त और भटार्क[2], राज्यश्री और
हर्षवर्द्धन[3], ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त[4] की कथाएं। एक दूसरी कथा भी नाटकों
में रहती है, जैसे सिंहरण और अलका, स्कन्द और देवसेना, सुरमा और विकटघोष
की कथाएं। अपनी कोमल अनुभूतियों को मूर्त करने के लिए ही 'प्रसाद' ने इन
दूसरी प्रकार की कोमल कथाओं का संयोजन किया है। कथानक में सरसता और
आकर्षण भरने के लिए 'प्रसाद' का यह कलात्मक प्रयास स्तुत्य है। ये काल्पनिक
कथाएं एक ओर स्वतन्त्र प्रेम और बलिदान का मूल्य स्थापित करती हैं तो दूसरी
ओर मुख्य कथा को सरस प्रवाह भी प्रदान करती हैं। निष्पक्ष भाव से हमें
इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि कोमल भावनाओं पर आधारित काल्पनिक
घटनाओं के मोह में फंसकर उनके कथानक प्राय: जटिल और विस्तृत हो गए हैं।
'चन्द्रगुप्त' में लगभग छ: घटनाएं एक साथ चलती हैं[5]। अत: यह रचना भानमती का
पिटारा बनकर रह गई है। रंगमंच की दृष्टि से नाटक में इस प्रकार की अनेक

---

१ द्रष्टव्य : चन्द्रगुप्त

२ ,, ,,

३ ,, राज्यश्री

४ ,, ध्रुवस्वामिनी

५ (१) चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया, (२) सिंहरण-अलका, (३) चाणक्य-सुवासिनी (राक्षस)
(४) पर्वतेश्वर - [illegible], (५) कल्याणी- चन्द्रगुप्त, (६) चन्द्रगुप्त-
मालविका।

घटनाओं का संयोजन अवैज्ञानिक माना जाता है । 'अजातशत्रु' में चार राज्यों-- मगध, कौशाम्बी, कौशल और वत्स की चार कथाएं साथ-साथ चलती हैं।[1] इससे नाटक की प्रभावान्विति में बाधा पड़ती है । वास्तव में 'प्रसाद' का इतिहास-मोह बड़ा प्रबल है । अत: उनके कथानक अनावश्यक रूप से विस्तृत और जटिल हो जाते हैं । नाटकों के माध्यम से इतिहास का प्रसादीय अन्वेषण कुछ कलाहीन हो जाता है, जो उन्हें तत्ववेत्ता तो बना सकता है, लेकिन इससे उनकी कला को जगह-जगह हानि ही उठानी पड़ी है ।

'प्रसाद' के कथानकों के विस्तार का दूसरा कारण यह है कि उन्होंने तात्कालीन राष्ट्रीय संघर्ष को अपनी रचनाओं में सजीव करने का प्रयास किया । भारतीय स्वतन्त्रता का राष्ट्रीय संघर्ष, और उस संघर्ष के अनेक वीर अनायास ही उनके नाटकों में आ गए हैं । राष्ट्रीय संघर्ष के विस्तार के आधार पर यदि उनके कथानक भी कुछ विस्तृत हो गए हैं तो आश्चर्य नहीं । फिर भी यह उनकी महानता ही है कि एक आधिकारिक कथा-प्रवाह में उनके सब कथा-स्रोत विलीन हो जाते हैं ।

कथानक - तत्वकी महानता को स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' ने पहली बार इतिहास का नाटकों में सच्चे अर्थों में कलात्मक प्रयोग किया । 'प्रसाद ने स्वच्छन्द कल्पनाओं का आश्रय नहीं लिया है, उनकी [illegible] ने सर्वत्र या तो कारण-कार्य परम्परा से रहित इतिहास की किसी घटना में उक्त परम्परा को भरने का प्रयत्न किया है अथवा इतिहास के कठपुतली में प्राण फूंकने का ।'[2] अन्त में हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' के नाटक इतिहास का [illegible] रूप प्रस्तुत करते हैं और उनकी कला इतिहास का आधार लेकर सजीव हो उठी है । 'प्रसाद' के ऐतिहासिक कथानकों में भारतीय संस्कृति का प्रदर्शन कोरा

1 'अजातशत्रु' : भूमि(भूमिका)

2 डा० जगदीशचन्द्र जोशी : 'प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन', 1970, दिल्ली, पृ० 47 ।

इतिहास नहीं है, वरन् वर्तमान और इतिहास का ऐसा सामंजस्य है जो मनुष्य के शाश्वत मूल्यों का महत्व स्थापित करता है तथा प्रगति का पथ भी निर्दिष्ट करता है ।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' के कथा-संयोजन का आधार भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का स[illegible] रूप है । उन्होंने नान्दी पाठ, पूर्वरंग, सूत्रधार आदि का प्रयोग नहीं किया । पंच अवस्थाओं, पंच अर्थ प्रकृतियों और पंच सन्धियों का स्पष्ट निर्वाह नहीं किया, फिर भी कथा का विकास इनके आधार पर ही हुआ है । साथ ही संघर्ष, औत्सुक्य, प्रभावान्विति को भी कथानकों में समुचित स्थान दिया गया है ।

वस्तु-योजना : राय

कथानक की दृष्टि से [illegible] राय के नाटकों को तीन भागों में बांटा जा सकता है-- प्रथम वर्ग ऐति[illegible] नाटकों का है, जिसके अन्तर्गत उनकी लगभग सभी अनुपम कृतियां आ जाती हैं, जैसे 'चन्द्रगुप्त', 'राणा प्रताप सिंह', 'मेवाड़-पतन', 'नूरजहां', '[illegible]', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि । दूसरा वर्ग पौराणिक नाटकों का है, जिसके अंतर्गत 'सीता', 'भीष्म', '[illegible]णी' नाटक आते हैं । इसके अतिरिक्त तीसरे वर्ग में 'बंग नारी', 'परपारे' सामाजिक नाटक आते हैं ।

राय के ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों का आधार मुग़ल-कालीन इतिहास है । इसयुग का इतिहास भारत पर विदेशी सत्ता का इतिहास है । यह एक ऐसा तथ्य है जिसको दृष्टि-पथ में रखकर हम कह सकते हैं कि कि राय ने भारत की जिन विकृत परिस्थितियों में अपना रचना-कार्य प्रारम्भ किया, उन्हें मूर्त करने के लिए मुग़लकाल को आधार बनाना समीचीन था । 'अकबर' से औरंगजेब के काल तक का भारत, मुगलों के उत्थान-पतन की कहानी है । साथही हिन्दुओं के दासत्व और पराभव की गाथा भी । इन

दोनों तथ्यों के आधार पर राय ने राणा प्रताप सिंह से लेकर दुर्गादास तक अपने नाटकों में इन दो जातियों के स्वभावों,परम्पराओं और मर्यादाओं का इतिहास प्रस्तुत किया है । अकबर ने भारत की बिखरी हुई शक्ति को प्रगाढ़-शासन-सूत्र में बांधकर भारत पर अनेक वर्षों तक शासन किया, परन्तु हिन्दुत्व के धूमिल आकाश में चमकते हुए एक प्रदीप्त सितारे की प्रखरता ने अकबर को कभी यह नहीं सोचने दिया कि वह भारत का एकछत्र शासक है । इसके साथ-साथ महाराणा एक महान शक्ति के रूप में अवतरित होकर भी प्राचीन मर्यादाओं के दायरेमें बंधकर एक धूमकेतु की तरह धरा को चकाचौंध कर दिशाहीन हो गया ।'राणा प्रताप सिंह' नाटक का कथानक इन दो महान् सत्ताओं की कहानी है,जिसमें एक ओर है अकबर और दूसरी ओर प्रताप सिंह हैं । मेवाड़-पतन के कथानक का आधार जहांगीर-कालीन हिन्दुओं के पराक्रम और पतन की कहानी है । य इस नाटक को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इसकी कथा जातीय और मानवीय शाश्वतता को छूकर चलती है-- मानसी का चरित्र-विश्व-प्रेम के प्रतीक के रूप में अवतरित हुआ है ।[1] 'मेवाड़पतन' में राणा प्रताप सिंह की मृत्यु के पश्चात् के राजस्थान की राजनीतिक परिस्थितियों का आधार लिया गया है । साथही इसमें तत्कालिक हिन्दुत्व की परिभाषा भी दी गई है । हिन्दु-धर्म की संकुचनशीलता का प्रमाण भी इससे मिलता है । महावतखां एक ऐसा मुसलमान वीर है जो हिन्दुओं के मूल्यों में आस्था रखता है । वह बहुत उदारता से हिन्दुओं का थोड़ा-सा स्नेह चाहता है,परन्तु हिन्दु उसे नापाक और अछूत और गद्दार मानकर ठुकरा देते हैं । अत: वह नृशंसता से हिन्दुओं का कत्लेआम करता है वह कहता है--'ए ई आमार उदार- आत्युदार हिन्दु धार्मे पिता ।--मुसोलमानेर प्राति तार एत घृना, एक तार दम्भ,एत तार दम्भ, एतखार [illegible]-विद्वेष, जो कल्याणीर पॉति भावतीर पुरस्कार [illegible] ।[2] ।.... एक दिन बेहि- [illegible] हिसाब, सेई पापेर प्रायश्चित करबो ।'

---

1 'मेवाड़पतन'
2 'मेवाड़-पतन' : द्विजेन्द्र [illegible] 1, पृ०325

हिन्दू शक्तिशाली थे, वीर थे, लेकिन संकुचित थे, जिसके कारण मेवाड़ का ऐसा भयंकर पतन हुआ । इस नाटक की रचना की पृष्ठभूमि में लेखक के हृदय का वह मर्मान्तक दर्द अवश्य आभासित होता है, जो हिन्दू जाति की सीमाओं का परिणाम है । इस कथानक को चुनने का कारण केवल राणा अमर सिंह, जहांगीर, और महावत खां के इतिहास का आकर्षण नहीं है, वरन् इसमें राय का अपना युग, अपने युग का पराभव, अपने युग के संकुचित दायरों का स्पष्ट निरूपण हुआ है । इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए शान्ति-कुमारदास गुप्त ने कहा है -- 'मेवाड़-पतन नाटक हिन्दुत्वेर ए ई कुसंस्कारे ग्रस्त क्षुद्र तार स्वरूप द्विजेन्द्रलाल उद्घाटन करिया छेन एवं उहार परिनाम जे कि हाई या छे ताहाओ बुझाईया दिया छेन ।'[1]

मेवाड़-पतन के पश्चात् हम राय के 'नूरजहां' नाटक को लेते हैं । इस नाटक की भूमिका में लेखक ने स्वयं स्वीकार करते हुए कहा है कि उन्होंने इस नाटक में एक चरित्र की आन्तरिक और बाह्य प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयास किया । इसमें किसी आदर्श-चरित्र की अवतारणा का प्रयास नहीं, वरन् एक विशिष्ट नारी का चित्र है। यदि इस दृष्टि से नाटक के कथानक पर विचार किया जाए तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह एक चरित्र-प्रधान नाटक है । नूरजहां का नाम हमारे इतिहास में अनेक कारणों से प्रसिद्ध है-- वह एक अत्यन्त सुन्दर, वीर, नीति-कुशल, स्त्री थी । इसके साथ-साथ यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि नूरजहां अनेक अभिलाषाओं से भरी हुई थी '[2] उसका सारा जीवन महत्वाकांक्षा की सिद्धि तथा प्रभुत्व में बीता था ।' इस नाटक में लेखक ने इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों का अपनी कलात्मक शक्ति से नाटकीय प्रयोग किया है । नूरजहां कालीन भारत का एक अनोखा इतिहास है ।

---

१ 'मेवाड़ पतनेर भूमिका': श्री शान्तिकुमारदास गुप्त, कलकत्ता, १९५८, पृ० २

२ डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : 'मुगलकालीन भारत', आगरा, १९६८, पृ० २८३

इस नाटक में उस इतिहास की झलक स्पष्ट दिखाई देती है । नाटक की सभी मुख्य घटनाएं ऐतिहासिक हैं । नाटककार ने नूरजहां और युवराज सलीम के पूर्वानुराग को स्वीकार किया है यद्यपि डा० बेनीप्रसाद ने इस तथ्य को निराधार बताया है । लेकिन डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने डा० ईश्वरीप्रसाद तथा तत्कालीन डच लेखक 'डी लायट' के मतों से सहमत होते हुए कहा है कि 'जहांगीर का नूरजहां के अनुपम सौन्दर्य पर आसक्त हो जाना कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि उसका चरित्र कामुक भावनाओं से भरा हुआ था[1] । वह प्रारम्भ से मद्यप और कामुक व्यक्ति था । पूर्वानुराग का एक भयंकर परिणाम तब सामने आया जब जहांगीर एक शक्तिशाली सल्तनत का बादशाह बना । नाटक की प्रथम प्रमुख घटना है शेर अफगन की हत्या है । यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु शेर अफगन की मृत्यु और जहांगीर की मनोरथ-पूर्ति में गहरा सम्बन्ध आभासित होता है, इस सम्भावित सत्य को नाटककार ने अपने कथानक में स्वीकार किया है । नूरजहां के जीवन की और नाटक की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है जहांगीर और नूरजहां का विवाह ।' नाटककार ने नाटक की भूमिका में इस बात को स्वीकार किया है कि यह नाटक देव-चरित्र प्रस्तुत नहीं करता । अत: आदर्श पर आकर जो एक निर्द्वन्द्वता की स्थिति आ जाती है, वह इस नाटक में नहीं । इससे सत्य का प्रस्फुटन तब बड़े रोचक रूप में सामने आता है जब नूरजहां को अपने पति के हत्यारे से विवाह करना पड़ता है । नाटककार ने अपने सम्पूर्ण कथानक में नूरजहां के चरित्र पर केन्द्रित होने का प्रयास किया है । इसका एक मुख्य कारण यह है कि तत्कालीन इतिहास नूरजहां का इतिहास ही है । लेखक के कथानक में वह स्थूलता नहीं आ पायी जो प्राय: ऐतिहासिक नाटकों में आती है । इतिहासकारों से नूरजहां का जो रूप हमें प्राप्त है उसी रूप को कलात्मक ढंग से

---

१ डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : [illegible] भारत, आगरा, १९६८, पृ० २७४

प्रस्तुत करके राय ने इस नाटक में इतिहास की पूर्ण रक्षा की है । नूरजहां की प्रधानता के कारण यह नाटक एक प्रकार से ऐतिहासिक व्यक्तित्व का दर्पण बन गया है । नूरजहां ने अपने समस्त आन्तरिक और बाह्य अवरोधों को जीतकर अपने पति के हत्यारे जहांगीर से विवाह किया, केवल इसीलिए कि वह अपनी असीम अभिलाषाओं के रंग में जी सके । मेवाड़-सन्धि को बड़े सुन्दर रूप में नाटककार ने नूरजहां में प्रस्तुत किया है । राजकुमार कर्ण सिंह से पगड़ी बदलते हुए शाहजादा शाहजहां की आत्मीयता जातीयता के संकुचन को तोड़ देती है ।

'मेवाड़पतन' में [illegible] इतिहास का जैसा स्थूल वर्णन है वैसी स्थूलता से नूरजहां को सप्रयास बचाया गया है फिर भी प्रासंगिकता के कारण वो सारे तथ्य जो उस युग की राजनीति में घटित हुए इस नाटक के कथानक में आ गये हैं । नूरजहां नाटक पर अंगरेज़ी नाटक मैकबेथ का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । यद्यपि कथानक की पर्याप्त भिन्नता के कारण नूरजहां का चरित्र लेडी मैकबेथ जैसा नहीं है, लेकिन फिर भी उसकी अदम्य अभिलाषाएं, ऊहापोह, और पागलपन कुछ वैसे ही हैं ।

'शाहजहां' राय का एक सशक्त और सुन्दर नाटक है । जिस शाहजहां को हमने नूरजहां में एक उत्साही युवक और विद्रोही युवराज के रूप में देखा था, उसी को शाहजहां में एक कैद की बंद कोठरी में आत्म की सम्भावनाओं और घटत्व की [illegible] पर चिन्तित पिता के रूप में देखते हैं । कैद की वह कोठरी शाहजहां के चिन्तन को घेर कर गहरा देती है । इस नाटक का कथानक शाहजहां के पराभव और औरंगजेब के उदय का इतिहास है । कुछ आलोचकों ने इस नाटक पर लांछन लगाते हुए कहा कि शाहजहां के ऐतिहासिक चरित्र की अवहेलना करके यह नाटक लिखा गया है, क्योंकि शाहजहां स्वयं अपने भाइयों और कुटुम्बियों की हत्या करके गद्दी पर बैठा था, जहांगीरकालीन इतिहास पर आधारित नूरजहां नाटक में लेखक ने जिस शाहजहां को हमारे सामने प्रस्तुत किया था, उसी को शाहजहां नाटक में भी प्रस्तुत किया है । परिस्थितियों से ऊबकर एक विकृत व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए उसने विद्रोह किया था । इस बात को इतिहास भी मानता है ।" शाहजहां का

विश्वास था कि उसका पिता नूरजहां का गुलाम बन गया है अत: उसे अपने पिता से न्याय की कोई आशा नहीं रही थी।[1] शायद इसीलिए शाहजहां को बागी होना पड़ा। शाहजहां का जीवनवृत्त प्रस्तुत करते हुए डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव कहते हैं, "(नूर) अपने दामाद शहरयार को उत्तराधिकारी घोषित करना चाहती थी, अत: खुर्रम(शाहजहां) की कीर्ति में उसे अपने लक्ष्य की असफलता का आभास होने लगा, इसीलिए वह उससे द्वेष करने लगी ... जिससे तंग आकर खुर्रम ने विद्रोह कर दिया।[2]" वैसे तो शाहजहां नाटक का कथानक घटित इतिहास के ऊपर आधारित है, जिसके अनुसार औरंगजेब ने अपने पराक्रम और नीति-कुशलता से अपने सभी भाइयों को परास्त करके दिल्ली आगरे की गद्दी हासिल की थी, उसने दारा,मुराद,शुजा को नृशंसता से समाप्त किया था। औरंगजेब की यह नीति [illegible] भावुकता के लिए कितनी कटु हो सकती थी, इस सम्भावना के आधार पर बूढ़े शाहजहां के हृदय के टूटने की आवाज साफ सुनाई देती है। इस नाटक की सभी मुख्य घटनाएं ऐतिहासिक हैं। शाहजहां का कैद होना, औरंगजेब को अपने-आपको दिल्ली में बादशाह घोषित करना तथा बादशाह शाहजहां को किले में बंद करना इतिहास सम्मत घटनाएं हैं। "दिल्ली में उसने अपना राजतिलक कराया और अपने आपको सम्राट घोषित किया। इस प्रकार से शाहजहां का शासन समाप्त हो गया और वह बादशाह से बन्दी बना लिया गया। ... उसका स्वर्ण जटित संगमरमरकक्ष उसका बन्दीगृह बना।[3]"

इस नाटक के कथानक में इन सभी घटनाओं को चुनकर रचनाकार ने उनके घटत्व में अपने स्वतन्त्र अधिकार का प्रयोग किया है। चरित्रों के निर्माण में लेखक ने बहुत स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया, लेकिन फिर भी

---

१ डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : मुगलकालीन भारत,आगरा,१९६८,पृ०२८५
२ ,, ,, ,, ,, ,, पृ०३०४
३ ,, ,, ,, ,, ,, पृ०३३१

पात्रों को परिस्थितियों के हाथों में सौंप कर राय ने उन्हें प्रेक्षकों की सहानुभूति का पात्र बना दिया है । शुजा,मुराद और दारा अपनी-अपनी कमजोरियों के कारण तथा औरंगजेब अपनी सुदृढ़ योजनाओं के कारण अपने अपने परिणामों को प्राप्त हुए । निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि शाहजहाँ नाटक की ऐतिहासिकता निर्विवाद है ।

द्विजेन्द्रलाल राय का दुर्गादास नाटक औरंगजेबकालीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया है । मुगलकालीन इतिहास में औरंगजेब का व्यक्तित्व बड़े विवाद का विषय है । कुछ विद्वानों ने इस शासक को अत्यधिक क्रूर,सन्देही,धर्मान्ध और अदूरदर्शी कहा है । इसकी धर्मान्धता के विषय में डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव कहते हैं, "सम्राट ने सूफी लोगों को उदार धार्मिक विचार रखने तथा विश्वदेवतावाद को मानने के कारण ही दण्ड दिया था[1] औरंगजेब की धर्मान्धता के विषय में बताते हुए डा० श्रीवास्तव ने लिखा है--" औरंगजेब इस्लाम की राजत्व तथा राजसत्ता सम्बन्धी नीति को मानने वाला था । उसके शासनका आधार कुरान था । मुसलमान धर्म के न मानने वाले व्यक्तियों को मुसलमान धर्म में लाना इसका मुख्य उद्देश्य था ।[2]" दुर्गादास नाटक की प्रथम मुख्य घटना है,दुर्गादास द्वारा जसवंत सिंह के पुत्र अजितसिंह और महारानी की रक्षा करना । इस घटना को ऐतिहासिकता के आधार पर प्रस्तुत किया गया है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि .गादास ने रानी जसवंत सिंह और उसके इकलौते पुत्र अजितसिंह की रक्षा की थी "राठौर लोगों के लिए यह बहुत बड़ा अपमान था कि उनके राजा को .सलमान बनाया जा रहा है ..... राठोरों ने मिलकर अपने नन्हें राजा अजितसिंह को कष्ट से बचाने का उपाय सोच निकाला । उन्होंने अपने नेता दुर्गादास के साथ मिलकर रानी के स्थान पर [illegible] और नन्हे

---

१ डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव :"[illegible]कालीन भारत ",आगरा,१९६८,पृ०३४०
२ ,, ,, ,, ,, ,, पृ०३४४

राजा के स्थान पर नौकरानी के पुत्र को रख दिया।....[1] इस प्रकार अजितसिंह मारवाड़ सुरक्षित पहुंच गया।

इस नाटक की दूसरी मुख्य घटना दुर्गादास का बागी शाहजादा अकबर को औरंगजेब के विरुद्ध सहायता करने की दृष्टि से दक्षिण शम्भाजी के दरबार में जाना है। इस घटना को ऐतिहासिक बताते हुए डा० अवधविहारी पाण्डेय लिखते हैं -- 'इसी समय सम्राट का पुत्र राजकुमार अकबर दुर्गादास के साथ शम्भा जी के पास आ गया।'[2] नाटक की मुख्य घटना शम्भा जी की हार और उसका औरंगजेब के द्वारा दुःखद अन्त भी ऐतिहासिक तथ्य हैं, जिन्हें नाटक में अवतरित किया गया है। दुर्गादास का औरंगजेब के प्रति समर्पण नाटक में नहीं दिखाया गया जब कि डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने इसे ऐतिहासिक स्वीकृति दी है। इस बार फिर औरंगजेब को मजबूर होकर अजितसिंह के साथ सन्धि करनी पड़ी। सम्राट ने उसको मेरठा भी जागीर के रूप में दिया। दुर्गादास ने भी थोड़े ही समय बाद आत्मसमर्पण कर दिया। सम्राट ने उसे गुजरात में पुराने पद और नौकरी पर बहाल कर दिया।'[3] नाटक में औरंगजेब और अजितसिंह की सन्धि का भी यथारूप वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दुर्गादास नाटक जहां एक अनुपम साहित्यिक कृति है, वहां एक ऐतिहासिक रचना भी है। लेखक ने उन सभी घटनाओं को जो तत्कालीन इतिहास में दुर्गादास के जीवन से सम्बन्धित हैं,इस रचना में बड़े कलात्मकरूप से संयोजित किया है।

द्विजेन्द्रलाल राय के 'चन्द्रगुप्त' नाटक की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय हमारा ध्यान मूल रचना की भूमिका पर जाता है। लेखक ने स्वीकार किया है कि इसका आधार तत्कालीन वर्ण व्यवस्था है। इसी वर्ण व्यवस्था की निस्सारता को बताने के लिए उन्होंने चन्द्रगुप्त को मुरा नाम

---

१ डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव :' तत्कालीन भारत' ,आगरा, १९६८,पृ०३५०

२ अवधविहारी पाण्डेय : 'उत्तरकालीन भारत' ,इलाहाबाद, १९६५,पृ०२५५

३ डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : 'तत्कालीन भारत' ,आगरा, १९६८,पृ०३५५

को दासी का पुत्र स्वीकार किया है । इस नाटक के कथानक का आधार पुराण और यूनानी इतिहास हैं । इनके अतिरिक्त कुछ प्रचलित तथ्यों का समावेश भी इसमें किया गया है । नाटक की प्रथम मुख्य घटना है सिकन्दर के द्वारा राजा पुरु को पराजित कर उसको पुन: राज्य लौटा देना है' सेल्यूकस से बात करते हुए सिकन्दर इस तथ्य को प्रेक्षकों के सामने रखता है । 'चाणक्य' के अनोखे चरित्र से हम सब परिचित हैं । और इस बात को भी जानते हैं कि नन्द द्वारा अपमानित चाणक्य ने एक भयंकर संकल्प कर डाला था," तोमार रॉक-रॉन्जित हास्ते एई शिखा बाँधिबो, एई प्रतिज्ञा कॉरे गेलाम, माने थाके येन महाराज !... आमि से भिक्षा दिबो ना"[1] ।

'राय' ने चन्द्रगुप्त को नन्द का सौतेला भाई माना है जो मुरा नाम की दासी से पैदा हुवा था । इसी बात को अनेक इतिहासकारों ने अस्वीकार किया है । डा० विमलचन्द्र पाण्डेय ने अनेक प्रमाणों का साक्षी देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि चन्द्रगुप्त क्षत्री था ।[2] परन्तु 'राय' ने अपने इस ऐतिहासिक नाटक के लिए बहुत अधिक ऐतिहासिक खोजबीन की, वरन कथा-सरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, मुद्राराक्षस आदि के आधार पर चन्द्रगुप्त को नंदवंशी मुरा(दासी) से उत्पन्न एक निष्कासित राजकुमार माना है । नाटक के कथानक में उस समय एक भयंकर ~~स्थि~~ संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जब चाणक्य नामक क्रोधी विद्वान् ब्राह्मण को नन्द अपनी विलास-सभा में चोटी पकड़वाकर निकलवा देता है--

नन्द--"हमार कि स्खाने एक उन्मा देर प्रॉलाप शुन्ते वासे छि! - वाचाल एके बार कॉरे दाओ ।

वाचाल -- (चाणक्येर शिखा धारिया टानिया) बेरिये या भिक्षुक !"[3]

1'चन्द्रगुप्त': द्विजेन्द्र ग्रन्थावली 2,पृ०225

2 डा०विमलचन्द्र पाण्डेय : 'प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास',इलाहाबाद,1958,पृ०274

3'चन्द्रगुप्त' : द्विजेन्द्र ग्रन्थावली 2,पृ०225

इतिहास में इस बात के तो प्रमाण मिलते हैं कि आर्यावर्त का एकछत्र सम्राट चन्द्रगुप्त अपने शौर्य और बल से मगध के नन्दवंश का विनाश करके गद्दी पर बैठा था और उसने एक बार समस्त भारत को एकता के सूत्र में बांध दिया था । उसका सहायक चाणक्य ब्राह्मण महा विद्वान् ,महाउद्यमी और महाक्रोधी था । उसने अपनी कूटनीति से चन्द्रगुप्त की वीरता का सदैव पथ-प्रदर्शन किया । परन्तु चन्द्रगुप्त की जाति, वंश एवं जन्म आदि का कोई उचित आधार नहीं मिलता ।' चन्द्रगुप्त के जन्म और प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अभी कोई एक निर्धारित मत उपलब्ध नहीं है, कारण जितने भी साधन इस सम्बन्ध में उपलब्ध हैं वे या तो परस्पर विरोधी हैं या कुछ अनिश्चित हैं । उसके जन्म के सम्बन्ध में भी काफी मतभेद है ।'[1] मौर्यवंश की एकछत्रता और महत्ता में विश्वास करते हुए भी उसके उद्भव की सं[illegible] प्रकट करते हुए डा० विमलचन्द्र पाण्डेय ने कहा है--' चन्द्रगुप्त भारतीय स्वतन्त्रता का जन्मदाता तथा एकछत्र भारतीय साम्राज्य का सर्वप्रथम [illegible] संस्थापक था । परन्तु अभाग्य से ऐसे महान युग-पुरुष की प्रारम्भिक जीवनी के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है ।'[2] इतिहास की इस अनिश्चित स्थिति का लाभ उठाकर लेखक ने अपनी शक्ति का प्रयोग किया । चन्द्रगुप्त को दासी राजपुत्र मानने के पीछे द लेखक का उद्देश्य प्राचीन वर्ण व्यवस्था पर व्यंग्य करना है । एक दासी का पुत्र कभी तथा कथित क्षत्रिय -नन्द को समाप्त करके राजसिंहासन का भागी हो सकता है ।' इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने नाटक की भूमिका में कहा है कि वर्ण भेद को इस नाटक की भित्ति बनाया है-वर्णभेद पर ही इस नाटक को खड़ा किया है ।

इस नाटक की अन्य मुख्य घटनाओं की ऐतिहासिकता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रधान सेनापति

---

१ राधा कृष्ण चौधरी : 'प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास'
पटना, १९६७, पृ० १५२

२ डा० विमलचन्द्र पाण्डेय : 'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक
[illegible]' , इलाहाबाद, १९६८, पृ० ३८७ ।

सैल्युकस उत्तराधिकारी बना । उसने भारत पर आक्रमण किया और वह चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ । एक सन्धि के आधार पर चन्द्रगुप्त का विवाह सैल्युकस की पुत्री से हुआ । डा० विमलचन्द्र पाण्डेय इस सम्बन्ध में लिखते हैं--' यूनानी साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के हेतु सिकन्दर के दो सेनापतियों-- सैल्युकस और [illegible]नस में प्रतिद्वन्द्विता हुई । दीर्घकाल के युद्धों के पश्चात् सैल्युकस विजयी हुआ ।... अतः गृहयुद्ध से अवकाश प्राप्त होते ही उसने भारतवर्ष पर आक्रमण किया ।... परिणामतः इस युद्ध में भारतीय सम्राट के विरुद्ध यूनानी आक्रमणकारी पराजित हुआ ।... विवश होकर सैल्युकस को सन्धि करनी पड़ी, जिसके परिणामस्वरूप उसे अपने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश भारतीय नरेश को देने पड़े... सैल्युकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया ।'[1] सैल्युकस जो आशाएं और अभिलाषाएं लेकर भारत आया था, चन्द्रगुप्त की शक्ति और चाणक्य की कूटनीति ने उन्हें व ध्वस्त कर दिया । उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्य को सभी इतिहासकार असंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हैं, 'उसने (सैल्युकस) भारत पर दुबारा आक्रमण करने की योजना बनायी ।..... यूनानी आक्रमणकारी बुरी तरह पराजित हुआ ।... दोनों के बीच संधि हुई... सैल्युकस और चन्द्रगुप्त के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ और दोनों के बीच का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बना रहा ।'[2] राय के इस नाटक का कथानक ऐतिहासिक है या नहीं ? इस सम्बन्ध में किसी तर्क की आवश्यकता नहीं रहती । क्योंकि जो घटनाएं इतिहास में निर्विवाद हैं उनको उसी रूप में स्वीकार किया गया है ।जहां सन्देह है या विरोध है वहां लेखक ने स्वतन्त्रता से काम लिया है ।

एव राय के अन्य ऐतिहासिक नाटक 'सिंहल विजय', [illegible] रुस्तम [illegible] कहने को ऐतिहासिक हैं परन्तु इनमें इतिहास नाममात्र को ही है । कुछ घटित [illegible]नाओं को लेकर सम्पूर्ण कथानक की कल्पना के आधार पर

---

१ [illegible]

१ डा० वि[illegible] पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृति इतिहास इलाहाबाद, १९६८, पृ० ३९९

२ [illegible] चौधरी : [illegible] पटना, १९६८, पृ० १५७

निर्मित कर प्रत्येक नाटक का सृजन किया गया है । अतः इन नाटकों को इतिहास और कल्पना के बेमेल मिश्रण के रूप में देखा जा सकता है ।ताराबाई, विजयसिंह,सौहराब,रुस्तम आदि चरित्र ऐतिहासिक हैं,परन्तु उनसे सम्बन्धित घटनाएं जिस रूप में नाटकों में प्रस्तुत की गई हैं,उनकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है ।

राय के तीन पौराणिक नाटक हैं-- सीता, पाषाणी, और भीष्म । इनमें पहला नाटक रामायण के प्रसिद्ध चरित्र सीता पर आधारित है । सीता से भारत का बच्चा बच्चा परिचित है । उनका दुःख और पीड़ा से भरी आदर्श-कथा में भारतीय नारी की गरिमा और सीमा दोनों निहित हैं । हमारा समाज कितना कठोर रहा है,नियमों और बन्धनों की मर्यादा के दायरों में बंधकर । इस तथ्य को स्वीकार कर लेखक ने इस (नाट्य-काव्य) गीति-नाट्य का प्रणयन किया है । इस नाटक में राम और सीता के अन्तर की अनुभूतियों का सजीव चित्रण है । यद्यपि रामायण में 'राम' और 'सीता' का चित्रण इस रूप में नहीं लेकिन 'राय' एक अनुभूतिपरक कवि थे, उन्होंने सीता के वनवास की घटना को लेकर राम और सीता को अनेक भावात्मक स्थिति में डालकर जिस रूप में हमारे सामने रखा,वह बड़ा आकर्षण एवं मानवीय है । इसी प्रकार 'पाषाणी' भी एक हृदय-द्रावक गीतिनाटिका है । हम जानते हैं कि जब 'राम' विश्वामित्र के साथ मिथिला के लिए सीता-स्वयंवर में जा रहे थे तो रास्ते में एक पाषाण-शिला का 'राम' ने उद्धार किया था । यह पाषाणी गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या ही थी । अहिल्या और इन्द्र का अवैध सम्बन्ध था । इसी कारण गौतम ने अपनी पत्नी को पत्थर होने का शाप दिया था । कवि ने इस नाटक में प्रचलित कथा का मानवीय स्तर पर प्रयोग किया है । पौराणिक कथा के अनुसार इन्द्र धोखे से गौतम के रूप में अहिल्या के पास आया था । जब कि पाषाणी में काम-विह्वल अहिल्या ने इन्द्र से स्वेच्छित सम्बन्ध स्थापित किया है । इसका कारण गौतम की आयु एवं अहिल्या के यौवन के प्रति उनकी उदासीनता है । ऐसी स्थिति में समस्त नाटक भावना प्रधान हो जाता है । पौराणिक की कथा का आधार लेकर भी लेखक ने कल्पना-प्रसूत इस

नाटक को मानवीय स्वभावकी भूमि पर सृजित किया । नाथूराम प्रेमी ने नाटक के कथानक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए ठीक ही कहा है--'अहिल्या का चरित्र ऐसी स्त्रियों का चरित्र है जो युवावस्था की दुर्दमनीय वासनाओं के फेर में पड़कर चरित्र-भ्रष्ट हो जाती हैं और अन्त में दुःख-दुर्दशाओं में पड़कर पश्चाताप की आग से शुद्ध हुआ करती हैं । इस चरित्र को लिखते हुए कवि ने बेजोड़ विवाह का दुष्परिणाम भी इशारे से बतला दिया है[१] ।'

पौराणिक काल में भीष्म अपने ढंग का अकेला चरित्र है । उसमें संयम ववव त्याग और कर्म का अभूतपूर्व संयोग देखने को मिलता है । इस चरित्र को अधिकतर लोगों ने देवत्व की प्रतिष्ठा में बांधकर अमानवीय बनाया है । इससे इसका प्रभाव कम हो गया है । व लेकिन 'राय' की अपनी विशेषता है कि चारित्रिक निर्माण में स्वाभाविक मनोवृत्तियों का समावेश कराकर वे उसे प्रभावशाली बना देते हैं । हम महान बन सकते हैं, परन्तु निम्नता पर विजय प्राप्त करके हम ऊंचे उठ सकते हैं परन्तु गहराइयों को पाटकर । यही बात भीष्म के चरित्र में भी है वह प्रेम और त्याग की भूमि पर खड़ा होता है, परन्तु कभी-कभी उसका मन नीचे दीख पड़ने वाली गहराइयों पर भी उतर आने को करता है । भीष्म धीरे-धीरे पूर्णता प्राप्त करता है । महाभारत के इस आकर्षक चरित्र को आधार बनाकर ही 'राय' ने भीष्म की रचना की । महाराजा शान्तनु और निम्न जातीय सत्यवती का विवाह, भीष्म के द्वारा अम्बा-हरण, भीष्म और परशुराम युद्ध, महाभारत-युद्ध में भीष्म-पतन आदि घटनाएं पौराणिक हैं । इन्हीं के घटनाओं के माध्यम से भीष्म का महान और उदात्त चरित्र हमारे सामने आता है ।

राय के ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों के कथानकों के पश्चात् उनके सामाजिक नाटकों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है । राय का

---

१ नाथूराम प्रेमी : निवेदन (अहिल्या हिन्दी रूपान्तर), बम्बई, १६४१, पृ०४

उदय ऐसे युग में हुआ जब बंगाल नवजागरण की स्वर्णिम रश्मियों के आलोक में आँखें खोल रहा था । ऐसी स्थिति में एक प्रगतिवादी विचारधारा के लेखक की सामाजिक कृतियाँ समाज के अन्तराल में पनपे वाली विषमताओं को लेकर सामने आईं । उनका बंग-नारी नाटक दहेज प्रथा के दुष्परिणामों और सूदखोरी के घिनौने रिवाज को बड़े प्रभावात्मक ढंग से हमारे समक्ष रखता है । देवेन्द्र दहेज की पीड़ा से घुट-घुट कर मर जाता है । समाज की निर्ममता के रूप में लेखक ने देवेन्द्र के सगे भाई उपेन्द्र को प्रस्तुत किया है । वह इतना निष्ठुर है कि अपने ही भाई की पीड़ा का उसे तनिक भी अनुभव नहीं होता[1] ।

इस नाटक में धन की महत्ता एवं आर्थिक असन्तुलन के कारण पारिवारिक सम्बन्धों के बदलते सन्दर्भ भी महत्वपूर्ण तथ्य हैं । नाटक में दो सगे भाई-- उपेन्द्र और देवेन्द्र किस प्रकार पिता की सम्पत्ति के बटवारे के कारण एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं, किस प्रकार मानवीय संवेदना में परिवर्तन हो जाता है । इन्हीं बातों पर यह सारा नाटक केन्द्रित है । नाटक का कथानक सीधा-सादा है । दो भाइयों में पिता की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति का बटवारा होता है । एक भाई चालाकी से समस्त सम्पत्ति हड़प लेता है । दूसरा भाई समाज में दहेज,कर्ज,सन्तान आदि समस्याओं से जूझता हुआ टूटता रहता है । अन्त में केदार और सदानन्द दो परोपकारी मित्रों की कृपा से बड़े भाई की चालाकी खुल जाती है । इस नाटक में एक और मुख्य बात यह है कि बंगाली ब्राह्मण समाज की झूठी मर्यादाओं और सीमाओं को भी इसमें चित्रित किया गया है । सदानन्द विलायत हो आता है,समाज उससे साथ सम्बन्ध तोड़ लेता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बंग नारी तत्कालीन समाज की जड़ों में लगे हुए कीड़ों की ओर संकेत करता है । तथा समाज-सुधार का सुनियोजित रूप भी प्रस्तुत करता है ।

राय का एक सुन्दर सामाजिक 'परपार' नाटक पारिवारिक समस्या पर आधारित है । वेश्यागमन और उसके भयंकर परिणामों का भी इस

---

1 द्रष्टव्य :'बंगनारी'

नाटक में वर्णन कियागया है । नारी जीवन के दो रूप इस नाटक के कथान के आधार हैं । एक पति परायण नारी का आदर्श रूप है । दूसरा एक वैश्या नारी का कर्तव्य परायणता आदर्श रूप । इस नाटक का कथानक समाज के एक ऐसे व्यक्ति वर्ग का दिग्दर्शन कराता है,जो कुप्रेरणाओं के कारण वैश्या-गमन जैसे भयंकर अपराध में फंस जाता है । मल्मिरंजन ही यह पात्र है । उसकी आदर्श पत्नी सरयू(सरस्वती) जीवन की आस्थाओं को लेकर एक बंधी-बंधायी व्यवस्था में जीने का प्रयास करती है । वैश्या,जो समाज की [illegible] के कारण वैश्या बनती है अन्दर से एक कोमल नारी है जो अपनी पीड़ा लेकर भी दूसरों को शीतलता देती है । इन सभी चरित्रों को यथा आवश्यक प्रस्तुत करके इस नाटक में स्करीक कथानक की सृष्टि की गई है । तत्कालीन बंगला-समाज में जिस प्रकार की दुर्व्यवस्था थी वह इस नाटक के माध्यम से उभर कर हमारे सामने आ जाती है । सब से बड़ी बात यह है कि कथा में आदर्श और अनादर्श का रोचक सामंजस्य है । अन्त तक त्याग,सेवा,प्रेम,वात्सल्य और विश्वास का आदर्श जीवित रहता है । इस नाटक के कुछ पात्र अपने स्थानपर आदर्श हैं और कुछ पात्र उस आदर्श को प्राप्त करने के प्रयास में अपनी बुराइयों को त्याग कर पश्चाताप करते हैं ।

साहित्यकार इतिहासको अपनी रचनाओं का आधार बनाता है लेकिन वह इतिहासकार नहीं होता । इतिहास की एक सीमा होती है,साहित्य किसी भी सीमा में बंधा नहीं होता । साहित्यकार का धर्म है कि वह इतिहास के सत्य की रक्षा करते हुए प्रभावात्मक सृष्टि करे । इतिहास का घटित सत्य स[illegible]र की सीमा होती है और सम्भावित सत्य उसकी शक्ति है । यही शक्ति कल्पना [illegible]जाती है । जहां इतिहास मूक रहता है, वहां साहित्यकार अपनी स्वतन्त्र वाणी में मुखरित होता है । राय ने इस शक्ति का कहां तक प्रयोग किया है, इस प्रश्न पर विचार करते समय हम देखते हैं कि राय के ऐतिहासिक नाटकों में पर्याप्त कल्पना का कलात्मक प्रयोग किया गया है। उन्होंने कथानक

की मुख्य कथा को ऐतिहासिक बनाने के साथही एक काल्पनिक कथा का संयोजन किया है । इस काल्पनिक कथा में अधिकांश भावात्मक कथाएं हैं,जैसे'प्रतापसिंह' में जोशीबाई तथा दौलतउन्निसा तथा ईरा की कथाएं ।'मेवाड़ पतन' में कल्याणी और मानसी की कथाएं । इसी प्रकार'शाहजहां'में पियारा की कथाएं हैं । ये सब काल्पनिक कथाएं इतिहास के कथा-प्रवाह में बाधक न होकर सौन्दर्य वृद्धि के साधन बनती हैं ।

राय ने पश्चिम से प्रभावित होकर अपने कथानकों में कुछ ऐसी घटनाओं की कल्पना की है,जिनकी प्रेक्षक कोकोई आशा नहीं होती । कुतूहल पैदा करने वाली इन घटनाओं में एक अजीब आकर्षण होता है ।'शाहजहां' नाटक में जब औरंगजेब दारा के पुत्र सुलेमान को मौत की सजा सुनाता है तो दारा की छोटी लड़की जो इरतउन्निसा बालक के वेश में बन्दूक लेकर औरंगजेब के सामने आ खड़ी होती है[1]। इसी तरह एक बुर्के वाली स्त्री बादशाह औरंगजेब के दरबार में अचानक आती है[2]। समर भूमि में शक्ति के कैम्प में एक लड़की का आना[3] आदि ऐसी ही घटनाएं हैं । इन घटनाओं से तात्कालिक रंगमंच का गहरा सम्बन्ध है ।

इतिहास के घटित सत्य को नाटक रूप में स्वीकार करके भी राय ने घटना के घटित होने के कारणों की स्वतन्त्र कल्पना की है । नूरजहां , महावतखां,शक्तिसिंह आदि इसी स्वतन्त्र कल्पना के परिणाम हैं । ये सभी पात्र अपने-अपने जीवन में अच्छे नहीं कहे जा सकते, परन्तु घटनाओं का संयोजन कुछ इस प्रकार हुआ कि ये चरित्र प्रेक्षकों की सहानुभूति के पात्र बन जाते हैं । इनके समस्त कार्य-कलापों का आधार नियति है । इस नियति के महानिर्देशको कोई टाल नहीं

१'शाहजहां': 'द्विजेन्द्र रचनावली' १,पृ० २८५
२ ,, ,, पृ० २५६
३'राणाप्रताप सिंह': ,, पृ० ११३

सकता । अनेक ऐसे पात्रों की कल्पना भी राय ने की जो उनके कथानकों में कलात्मक सौन्दर्य भर देते हैं । इनमें मुख्य कासिम(दुर्गादास) पियारा(शाहजहाँ) ईरा मेहर-उन्निस (राणा प्रताप सिंह) मानसी,सत्यवती(मेवाड़-पतन) छाया(चन्द्रगुप्त) लैला(नूरजहाँ) आदि हैं । ये सभी पात्र इतिहास की रक्षा करते हुए रचना में प्रवाह भरते हैं । अतः यह कल्पना भी राय की ऐतिहासिक ही है ।

'आर्ट इज नौट सिम्पिल इमीटेशन,बट सम रिजम्बलैंस इज आफन पार्ट आफ दी आरटिस्टस परपज़[1]' नाटक घटित सत्य की प्रतिकृति न होकर एक कलात्मक सृजन होता है । राय के नाटकों में इतिहास है,परन्तु उनमें और भी कुछ है । यह और भी कुछ वह भावनात्मक सौन्दर्य है,जो हमें इतिहास की काल-सीमाओं से भी बाहर आकर्षित करता है । रंगमंच की सफलता और कथानक के प्रवाह के लिए राय ने अनेक कल्पनाएं की हैं,'जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । इन कल्पनाओं के माध्यम से लेखक ने अपनी उदात्त भावना' को सम्प्रेषणीयता दी है । एक सच्चा कलाकार हमें केवल इतिहास नहीं वरन् अपनी अनुभूतियों के सत्य भी प्रदान करता है । इसलिए पीकाक के इस कथन को राय की रचनाएं एकदम सार्थक करती हैं--'दि आर्टिस्ट गिवज़ अस ए पिक्चर आफ ए लैण्ड स्कैप , बट आलसो एक्सप्रेसज़ हिज़ फीलिंग[2] ।'

राय ने इतिहास को कुछ घटनाओं का संग्रह मात्र नहीं वरन् शाश्वत मूल्यों का चेतना-प्रवाह मानकर अपने नाटकों में स्वीकार किया है । इतिहास अपने-आपको बार-बार दोहराता है अतः वह कभी पुराना नहीं होता। 'राय' ने इतिहास को अपनी रचनाओं का आधार तो अवश्य बनाया परन्तु उनका इतिहास आधुनिकता का पर्याय बनकर रह गया । चन्द्रगुप्त नाटक भारत की

---

१ रौनाल्ड पी काक :'दी आर्ट आफ ड्रामा',लन्दन,१९५७,पृ०८

२ ,, ,, ,, ,, पृ०१३

संकुचित वर्ण व्यवस्था का रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है । चाणक्य' ना , ता शुन वो केनो ! ब्राह्मण आज आर से ब्राह्मण नाई[1] ।' चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त की महत्ता की स्थापना करके राय ने भारत की जाति-श्रेष्ठता को चुनौती दी है । चन्द्रगुप्त इस चुनौती के रूप में बोलता है 'चन्द्रगुप्त— शूद्राणी! शूद्र मानुशनाई ? आर कि ताऋर मत हस्तपद् नाई ? मास्तिष्क नाई ? हृदय नाई ? एत घृणा ! उत्तम! देखाई बो एक बार शूद्रेर का तो शाक्ति देखाइबो जे से मानुश । शिकन्दर शाह भाविष्यवाणी करो आमार जीवनेर उदय होइके[2] ।'

राय के नाटकों में इतिहास के रूप में उनका अपना युगध्वनित होता है । दुर्गादास एक बार राष्ट्रीय एकता का स्वप्न देखता है वह मुगलों के युद्ध कौशल को राजपूतों धैर्य और शौर्य में मिलाकर जिस हिन्दू[3] राष्ट्रों की कल्पना करता है वह भारत - राष्ट्र की एकता की ही कल्पना है । जातियों के पतन के कारण दुर्गादास एव राजपूत ,मराठे और मुसलमानों को उनके पतन के परिणामों का संकेत करते हुए कहता है कि एक दिन इन तीनों को किसी अन्य जाति के आधीन होना पड़ेगा[4] ।राष्ट्रीय चेतना के उत्थान का जो उत्तरदायित्व लेकर बंगला रंगमंच आगे बढ़ा है, उसका सफल निर्वाह राय के नाटकों में भी मिलता है । युगीन सामाजिक आन्दोलनों और सांस्कृतिक नवजागरण का आग्रह भी राय के नाटकों के कथानकों में निहित है ।'सीता','बंगनारी' और 'परपारे' 'पाषाणी' आदि नाटकों में नारी जीवन को कथानकों का आधार बनाकर राय ने उनके प्रति समाज का ध्यान आकर्षित किया है ।

बंगला नाट्य साहित्य का प्रारम्भ अंग्रेजी रंगमंच के कारण हुआ तथा उसी के आधार पर बंगला नाट्य-शिल्प का विकास भी हुआ । राय से पूर्व ,' मनारायण 'सर्व रत्न',दीनबन्धु मित्र और गिरीशघोष के नाटकों

---

१ 'चन्द्रगुप्त': द्विजेन्द्र रचनावली २ : पृ० २२४
२ ,, ,, पृ०२२८
३ दुर्गादास : द्विजेन्द्र रचनावली १,पृ०११२
४ ,, ,, पृ०११०

में कथानकों का जो रूप मिलता है, उसका संस्कृत की परम्परागत शास्त्रीय व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है । राय के प्राय: सभी नाटक पांच अंकों में विभाजित हैं, उनका सम्बन्ध पांच अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों से न होकर पाश्चात्य पद्धति से है । अरस्तु ने कथा के विकास की तीन स्थितियों को स्वीकार किया है आदि, मध्य और अन्त । उन्होंने कथा के विकास का म महत्व स्वीकार करते हुए कहा है--" कथानक का दूसरा प्रमुख गुण है--पूर्णता ।"[1] पूर्णता से तात्पर्य है कि उसमें स्पष्ट आदि, मध्य और अन्त का निर्वाह होना चाहिए । भारतीय-पद्धति में इसे आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, पांच स्थितियों में बांटा गया है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि राय के नाटकों में भारतीय नाट्य-पद्धति या शास्त्रीय मर्यादाओं की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि उनके नाटकों का सृजन तत्कालीन बंगला रंगमंच के आधार पर हुआ है और यह रंगमंच अंग्रेजी के प्रभाव में विकसित हुआ था । अत: इनके नाटकों में नान्दी-पाठ, पूर्वरंग, और सूत्रधार आदि का विधान नहीं है । सामान्य रूप से उनके नाटकों का पांच अंकों में विभाजन हुआ । प्रथम अंक में मुख्य घटनाओं और पात्रों का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है । द्वितीय अंक में कुछ नाटकीय सम्भावनाओं और असम्भावनाओं का उदय होता है अर्थात् संघर्ष की स्पष्ट स्थिति सामने आ जाती है । तृतीय अंक में संघर्ष की चरम सीमा रहती है, घटनाएं में उद्दाम तरंगें और तीखी सम्भावनाएं जन्म लेती हैं । चतुर्थ अंक में घटनाओं में निश्चितता की स्थिति का जन्म होता है और अन्तिम पांचवें अंक में आंधी, पानी और तूफान सब जैसे थककर किसी नियत सत्य पर पहुंच जाते हैं । राय ने अपने नाटकों का यह विभाजन किसी शास्त्र को सामने रखकर नहीं किया फिर भी इसमें शास्त्रीयता का प्रभाव देखा जा सकता है । पाश्चात्य नाट्य साहित्य में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि कथानक में आकर्षण और संभाव्यता

---

१ डा० नगेन्द्र : अरस्तु का काव्यशास्त्र, इलाहाबाद, १९६६, पृ०७२

के तत्व रहे[1] राय के नाटकों में इस मान्यता को पूर्ण स्वीकृति मिलती है। इसी प्रकार पाश्चात्य धारणा के स्वीकृत तथ्यों को अंगीकार करके 'राय' ने अपने नाटकों को पाश्चात्य पद्धति के आधार पर ही निर्मित किया है। संवृति-विवृति, स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान, आदि का सफल प्रयोग राय के नाटकों में पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र की मान्यताओं के आधार पर ही हुआ है। यदि रस की दृष्टि से देखा जाय तो उन्होंने भारतीय-मान्यता को अधिक आदर दिया है। रस हमारे नाट्य शास्त्र का तत्व ही नहीं, साध्य भी है। राय के प्रत्येक नाटक में किसी-न-किसी रस की पूर्ण निष्पत्ति का प्रयास निहित रहता है। उनके नाटकों में संस्कृत की प्राचीन परम्परा का निर्वाह नहीं है, फिर भी संस्कृत और रसात्मकता का सदैव ध्यान रखा गया है। साथ ही पाश्चात्य पद्धति का नाट्य-शिल्प भी मुक्त हृदय से ग्रहण किया गया है[2]।

राय के कथानकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें एक ही मुख्य घटना का प्रबल प्रवाह रहता है। रंगमंच की दृष्टि से नाटक की सफलता का मुख्य आधार यही है कि प्रेक्षक किसी एक मुख्य घटना की परिधि में बंधा रहे। कुछ [illegible] की रचनाओं में प्रासंगिक घटनाओं का आवागमन लगा रहता है। इससे मुख्य घटना के प्रवाह में बाधा पड़ती है। इसका अर्थ यह नहीं कि राय के कथानकों में दो या अधिक घटनाएं होती ही नहीं। वरन् कथानक की एकान्विति को खण्डित करने वाली कोई ऐसी कथा को प्रस्तुत नहीं करते जो मनुष्य मुख्य कथा से अलग हो। 'राणा प्रताप सिंह' में शक्तिसिंह और दौलतउन्निसा की कथा, 'दुर्गादास' में सम्भा जी की कथा, 'शाहजहां' में जुआ की कथा तथा 'नूरजहां' में लैला की कथा -- ये सब प्रासंगिक कथाएं हैं। परन्तु परोक्ष रूप में नाटकों की मुख्य कथा से सम्बन्धित है। चूंकि राय के नाटकों का रंगमंच से सीधा सम्बन्ध था, अत: उनके नाटकों में कथानक को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया है, जिससे सामाजिक की रागात्मक अनुभूति में कोई व्यवधान उपस्थित न हो।

---

1 कथानक में ऐसे प्रसंगों का सन्निवेश होना चाहिए जो [illegible] या आवश्यकता के [illegible] के अधीन सम्भव हों।
[illegible] अरस्तू का काव्यशास्त्र, प्रयाग, १९६६, पृ०७३

2 "प्रत्येक सफल कथानक में कुतूहल वृत्ति का परितोष करने की शक्ति होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि घटनाएं अनायास अथवा अचानक ही उपस्थित हों।"
-- डा०नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, प्रयाग, १९६६, पृ०७४

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कथा-संयोजन के कठिन कार्य की कुशलता के कारण ही राय के नाटक रंगमंच पर पूर्ण सफल होते हैं। कथानक में कथा के किस अंश को ग्रहण करना चाहिए, किसको छोड़ना चाहिए और किस अंश का केवल संकेत करना चाहिए, उसका कलात्मक अनुभव लेखक को था। इन सभी ज्ञातव्य तथ्यों के परिचय के अभाव में सफल नाट्य-सृजन असम्भव होता है। राय ने रंगमंच के सम्पर्क से नाट्य सृजन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। गम्भीर कथानक को प्रभावकारी हास्य से रंगमंचीय बनाना और उथले हास्य में गम्भीर-दर्शन को व्यक्त करना उनकी अपनी विशेषताएं हैं। उनके कथानक में भावनाओं का प्रबल वेग रहता है। आंधी, तूफान, बिजली, बादल, गर्जन, आकाश, समुद्र आदि प्रतीकों में बांधकर उन्होंने भावनाओं को सफल अभिव्यक्ति दी है। ऐसे प्रबल प्रतीकों से उनके कथानक में एक तीव्र प्रवाह आ गया है। गति की यही तीव्रता राय के नाटकों की मुख्य विशेषता है।

वस्तु-योजना : निष्कर्ष

'प्रसाद' और राय दोनों ने इतिहास का आधार लेकर अपने नाटकों की रचना की। 'प्रसाद' ने भारत के प्राचीन काल को अपने नाटकों में स्वीकार किया है। 'अजातशत्रु' से लेकर हर्षवर्धन तक के ऐतिहासिक काल में चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री जैसे महान पात्रों से सम्बन्धित घटनाओं को चुनकर 'प्रसाद' ने जिन नाटकों की रचना की उनमें इतिहास-सत्य की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न दिखाई पड़ता है। 'प्रसाद' के कथानक इतिहास की घटनाओं से सीधे सम्बन्धित हैं, क्योंकि उन्हें इतिहास के प्रति एक तीव्र जिज्ञासा थी। अतः स्वाभाविकरूप से उनकी रचनाओं में इतिहास की खोज दिखाई पड़ती है। राय ने भी भारत के एक विशिष्ट युग मुगल-काल को अपने नाटकों का आधार बनाया। उनके नाटकों में भारत के एक ऐसे काल की अवतारणा है जब कि यह देश अपने ही हीन तत्वों के कारण पराभूत था। यहां का सांस्कृतिक ह्रास हो चुका था। जीवन में एक पतनता व्याप्त हो गई थी। जन-जीवन अर्थहीन हो चला था। राय के इतिहास में दो [illegible] — हिन्दू, [illegible] की स्पष्ट व्याख्या देखने को मिलती है। राय के [illegible] में भी [illegible], जहांगीर, राणाप्रताप, दुर्गादास जैसे प्रसिद्ध

ऐतिहासिक पात्रों से सम्बन्धित घटनाओं की अवतारणा की गयी है । जहां 'प्रसाद' ने भारत के खोए हुए इतिहास की खोज का प्रयास किया, वहां राय के नाटकों में इस तथ्य पर अधिक बल नहीं दिया गया । राय के समक्ष नाट्य-रचना का जो उद्देश्य था, वह उसे पूर्ण करना चाहते थे, इतिहास की खोज से उनका सम्बन्ध नहीं के बराबर है ।

यद्यपि 'प्रसाद' और राय के नाटकों को इतिहास के आधार पर निर्मित किया गया है, फिर भी उनमें युगीन चेतना का सशक्त स्वर निहित है । कोई भी महान् कलाकार अपने वर्तमान से उदासीन नहीं रह सकता । 'प्रसाद' और राय दोनों ही महान जागरूक लेखक होने के नाते अपनी रचनाओं में अपने युग को सफलता पूर्वक चित्रित कर गए हैं । 'प्रसाद' का 'चन्द्रगुप्त' नाटक राष्ट्रीय एकता का चित्र प्रस्तुत करता है तथा राय का 'चन्द्रगुप्त' वर्ण-व्यवस्था की निरर्थकता को । इसी प्रकार 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में भारतीय नवचेतना, नारी-जागरण, पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, अति धार्मिकता आदि पर प्रकाश डाला तथा राय ने भारतीय संस्कृति की जड़ता, वर्ण-भेद, जातिवाद, असमानता आदि अवगुणों की ओर संकेत करके भारतीय संस्कृति के उत्थान का प्रयास किया । कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्थूल रूप से 'प्रसाद' और राय के नाटकों का आधार भारत का इतिहास है, फिर भी तात्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं स[illegible]तक स्थितियों का स्पष्ट संकेत मिलता है । वर्तमान को इतिहास के माध्यम से व्यक्त करने के सफल प्रयास में 'प्रसाद' और राय लगभग समान रूप से महान कहे जा सकते हैं । फिर भी 'प्रसाद' के नाटकों का आधार शुद्ध इतिहास और वर्तमान का समन्वित रूप है, जब कि राय वर्तमान के दबाव में इतिहास की शुद्धता का अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं । इसका कारण स्पष्ट है कि 'प्रसाद' ने इतिहास की खोज का कार्य भी संभाला और साहित्य-सृजन का भी । जब कि राय ने केवल साहित्य पर केन्द्रित होने का प्रयास किया ।

'प्रसाद' और राय इतिहास को आधार मानकर नाटक लिखने में सफल ल लेखक माने जाते हैं । इसका कारण यह है कि दोनों में इतिहास के प्रति गहरी निष्ठा थी । ऐतिहासिक लेखक अपनी [illegible]तियों में वहीं असफल हो

जाता है, जहां उसकी इतिहास-निष्ठा कमज़ोर पड़ जाती है, क्योंकि इतिहास को विकृत अथवा पूर्ण काल्पनिक रूप में प्रस्तुत करने पर कृति की प्रभावात्मकता समाप्त हो जाती है । अत: लेखक को चाहिए कि वह यथासम्भव इतिहास के सत्य की रक्षा करे । प्रसाद के विषय में असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि उन्होंने कहीं भी इतिहास को विकृत करने का प्रयास नहीं किया । हां जहां कहीं इतिहास खो गया है या मौन हो गया वहां उन्होंने अपनी कल्पना का संयमित प्रयोग किया। पिछले परिच्छेद में हम कह क चुके हैं कि 'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय कलात्मक स्तर पर हुआ है । भारतीय संस्कृति का यहां के इतिहास से गहरा सम्बन्ध है । अत: इतिहास के माध्यम से भारतीय संस्कृति की व्याख्या करने में 'प्रसाद' ने जो कल्पनाएं ब की हैं, वे अत्यन्त मार्मिक एवं कलात्मक हैं । देवसेना[1] सम्बन्धी घटनाएं तथा कोमा[2] सम्बन्धी कथा इनके प्रमाण हैं । राय के विषय में कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएं नि:सन्देह ऐतिहासिक हैं । यद्यपि उन्होंने 'प्रसाद' की तरह इतिहास के गुप्त अंशों की प्रामाणिक खोज नहीं की, फिर भी ज्ञात इतिहास को उन्होंने खुले मन से स्वीकार किया है । यह राय की इतिहास के प्रति गहरी निष्ठा का ही प्रमाण है कि उनकी विशद् कल्पना भी इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती । 'प्रसाद' ने अपने कथानकों में भारतीयता के स्वर्णिम सौन्दर्य का आकर्षण प्रस्तुत किया । राय ने संस्कृति के विकृत रूप को प्रस्तुत करके उसके प्रति चेतना की आवश्यकता पर बल दिया । इस प्रकार के प्रयत्न में 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग को प्रस्तुत किया । और राय ने भारतीय संस्कृति के ह्रास युग मुगल-काल को । दोनों लेखकों के विचार स्पष्ट हैं कि यदि इतिहास को किसी रचना का आधार बनाया जाता है तो उस रचना की सफलता उसके औचित्य पर आधारित होगी और यह औचित्य इतिहास-सत्य की रक्षा में ही निहित होता है । अत: हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' और राय दोनों के कथानक ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करते हैं और इतिहास केसत्य के रूप में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं ।

---

१ द्रष्टव्य : 'स्कन्दगुप्त'

२ ,, : 'ध्रुवस्वामिनी'

भारतीय-नाट्य-शास्त्र में कथानक सम्बन्धी जो अनेक जटिल धारणाएं प्रस्तुत की गई हैं, 'प्रसाद' और राय दोनों ने ही उनकी अवहेलना की है । इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें भारतीय शास्त्र के प्रति निष्ठा नहीं, वरन् नवीन नाट्य-शिल्प के लिए वे निरर्थक और अवांछनीय थीं । 'प्रसाद' ने यद्यपि अपने कुछ प्रारम्भिक नाटकों में 'करुणालय', 'कल्याणी', 'परिणाम' आदि नट, सूत्रधार आदि का प्रयोजन किया, परन्तु उन रचनाओं को प्रयोगकालीन ही कहना चाहिए । 'प्रसाद' के अध्ययन में उनका बहुत महत्व नहीं है । उनके प्रौढ़ व्यक्तित्व की रचनाओं इस प्रकार का आग्रह नहीं पाया जाता । बंगला के राय के नाटकों के माध्यम से पाश्चात्य प्रभाव हिन्दी पर पड़ा, 'प्रसाद' भी उस प्रभाव से नहीं बच सके । अत: उनके कथानकों में औत्सुक्य और कुतूहल तत्वों का समावेश मिलता है । साथ ही 'संघर्ष' जो पश्चिमी नाट्य का अनिवार्य तत्व है, वह भी 'प्रसाद' के कथानकों में स्वीकार किया गया है । पहले ही कहा जा चुका है कि 'प्रसाद' के कथानकों में कार्य-व्यापार की लगभग तीन स्पष्ट स्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं-- आदि, मध्य और अन्त । ये स्थितियां (अवस्थाएं) पश्चिम की देन ही हैं । वैसे 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे नाटकों में 'प्रसाद' ने भारतीय पद्धति के निर्वाह का प्रयास किया है । परन्तु फिर भी उसमें पूर्ण भारतीयता का अभाव है । राय के नाटकों के विषय में तो स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि वे अंग्रेज़ी रंगमंच के प्रभाव में निर्मित हुए हैं । अत: स्वाभाविक रूप से उनपर पाश्चात्य प्रभाव है । फिर भी अपने नाटकों के कथानकों का संयोजन राय ने भारत की [illegible]आत्मकता के आधार पर किया । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' और राय के कथा-संयोजन में भारतीय और पाश्चात्य [illegible]तियां का सन्तुलित समन्वय है ।

यद्यपि 'प्रसाद' ने इतिहास के विस्तृत क्षेत्र को अपने नाटकों का आधार बनाया, फिर भी राय के नाटकों का आयाम अधिक विस्तृत है । 'प्रसाद' ने केवल ऐतिहासिक नाटक ही लिखे । यद्यपि कुछ [illegible]काल्पनिक नाटक लिखने का प्रयास भी उन्होंने किया लेकिन इस क्षेत्र में वह लगभग असफल ही रहे हैं । जब कि राय ने 'बंगनारी', 'पर पारे' जैसे सफल धा-[illegible], भीष्म, पाषाणी,

'सीता',जैसे उत्तम पौराणिक नाटक भी लिखे । इस प्रकार से कहना चाहिए कि 'प्रसाद' केवल ऐतिहासिक कथानकों को लेकर ही सफल रचना प्रस्तुत कर सके, क्योंकि इतिहास की सत्ता ही उसके अमूर्त भावों की आधारशिला थी । केवल कल्पनाओं में वे या तो मौन हो जाते हैं या फिर अति भावुक । उनकी सघन भावुकता को सन्तुलित करने के लिए इतिहास का घटित सत्य आवश्यक-सा जान पड़ता है । जब कि राय काव्यात्मक अनुभूति को भी बहुत कुछ यथार्थ की भूमि पर ले आते हैं । अत: वे सामाजिक और पौराणिक नाटकों के लेखन में भी सफल सिद्ध हुए हैं । क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से राय 'प्रसाद' से कहीं विस्तृत एवं सफल हैं, क्योंकि 'प्रसाद' केवल ऐतिहासिक नाटककार ही होकर रह गए, जब कि राय ने ऐतिहासिक,सामाजिक तथा पौराणिक नाटकों की भी सफल सृष्टि की ।

-0-

परिच्छेद ० ६ ०

पात्र-योजना

- शास्त्रीय विवेचन
- पात्र-योजना : 'प्रसाद'
- पात्र-योजना : राय
- निष्कर्ष

'नाटक के पात्र लेखक के मनोदेश की अभिव्यक्ति होते हैं ।'

परिच्छेद -- ६

पात्र - योजना

शास्त्रीय विवेचन

भारतीय विद्वानों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्वों-- वस्तु, नेता और रस को स्वीकार किया है । इन तत्वों की सापेक्ष महत्ता के विषय में अनेक विद्वानों में मत-विभिन्नता है, परन्तु वास्तव में इस प्रकार की धारणा भ्रमात्मक है, क्योंकि नाटक की सम्पूर्णता में सभी तत्वों का समान महत्व है । यदि नाटक में वस्तु को शरीर मानें तो नेता(पात्र) उसका प्राण है और रस उसकी आत्मा । अत: जैसे इन तत्वों का सामूहिक रूप ही एक स्पष्ट सम्पूर्णता प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार नाटक में सभी तत्वों का महत्व स्वीकार करना होगा । इतना होते हुए भी भारतीय विद्वानों ने पात्र को नाटक के अत्यधिक मुख्य तत्व के रूप में स्वीकार किया है । पश्चिम के विद्वानों ने यद्यपि वस्तु को बहुत अधिक महत्व दिया, फिर भी पात्रों की आवश्यकता को स्वीकार किया[1] । आज के पश्चिमी साहित्य में चरित्र-चित्रण पर बहुत अधिक बल दिया जा रहा है। यहाँ तक माना जाता है कि कथानक की घटनाओं का संघटन पात्रों के आधार पर ही होता है, अर्थात् घटनाओं की अवतारणा पात्रों के साथ स्वयं हो जाती है, इसी विचार को व्यक्त करते हुए डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने कहा है -- 'विधाता की सृष्टि की तरह साहित्य की सृष्टि (प्रबन्ध, काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि) भी जीवधारियों या पात्रों से आकीर्ण रहती है[2] । रचना में यदि

---

१ द्रष्टव्य : डा० नगेन्द्र -- 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्रयाग, १९६६

२ डा०रामेश्वरलाल [illegible] 'पर्यालोचन' 'प्रभाव' : वस्तु और कला', दिल्ली, १९६६, पृ०१३५ ।

रस को मुख्य मानें तो भी पात्रों का महत्त्व स्वत: अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि सामाजिक की रसात्मक अनुभूति नाटक की घटनाओं के साथ नहीं, पात्रों के साथ ही जुड़ती है । घटनाएं तो केवल पात्रों की रसात्मक अभिव्यक्ति का साधन होती हैं । वास्तव में आज की रचना का उद्देश्य यथार्थ, स्वाभाविक और सजीव चरित्रों को प्रस्तुत करना है, अत: रस एवं संघर्ष दोनों स्तरों पर पात्रों का रचना में विशेष स्थान है ।

नाटक में अन्तिम फल का भोक्ता नायक ही होता है, अत: नाटक की समस्त घटनाओं के केन्द्र में उसका अस्तित्व रहता है । कथानक की समस्त घटनाएं एवं अन्य सभी पात्र नेता की फलप्राप्ति के साधन हैं । अत: प्राचीन शास्त्र में पात्रों के रूप में भारतीय दृष्टि इसी एक नेता पर केन्द्रित रही है । नायक (नेता) के स्वरूप की कल्पना में विभिन्नता होते हुए भी लगभग सभी विद्वानों ने इसके चार रूपों को स्वीकार किया है--

(१) धीरोदात्त
(२) धीरललित
(३) धीरशान्त
(४) धीरोद्धत[१]

नायक के साथ ही उसकी प्रेयसी या पत्नी के रूप में नायिका की कल्पना भी की गई है । उसके भेदों-प्रभेदों से भारतीय रीति-ग्रन्थ भरे पड़े हैं, उनको यहां प्रस्तुत करना न आवश्यक है न सम्भव । इतना कहना पर्याप्त होगा कि नायिका को नायक के अनुरूप होना चाहिए ।

---

१ धीरोदात्त --महान् गम्भीर, सात्त्विक वृत्ति वाला, वीर, क्षमावान्, स्थिर चित्तवृत्ति वाला, अहंकार से परे, दृढ़व्रती ।

धीरललित -- निश्चिन्त, धैर्यवान्, ललित कलाओं में प्रवृत्त, कलाकार, भावुक स्वभाव वाला ।

धीरशान्त -- सामान्य गुणों से युक्त, धैर्यवान्, शान्तिप्रिय, ब्राह्मणादि ।

धीरोद्धत -- दर्पवान, तामसिक वृत्ति से युक्त, चालाक, प्रपंची, अपने स्वार्थ में लीन, अति अहंकारी ।"

-- सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : "भरत और भारतीय नाट्य-कला", दिल्ली, १९७०, पृ० [illegible]

इसके अतिरिक्त नायक के अवरोधी या विरोधी रूप में प्रतिनायक या खलनायक भी नाटक के पात्रों का आवश्यक अंग है,क्योंकि इसी की सापेक्षता में नायक के चरित्र का विकास होता है । विदूषक की कल्पना भी नाटक के चरित्रों में आवश्यक मानी गई है । साथ ही यह भी माना गया है कि कथानक एवं परिस्थितियों के अनुसार लेखक अन्य पात्रों की प्रस्तुति भी कर सकता है ।

आधुनिक भारतीय नाटकों में प्राचीन शास्त्रीय पद्धति को बन्धन के रूप में स्वीकार नहीं किया गया । समाज में मानवीय मूल्यों और परम्पराओं में जो परिवर्तन हुआ,उससे प्राचीन मान्यताएं भी परिवर्तित हुईं । आज के नाटकों में न तो सुखान्त को अनिवार्य स्थान मिला है,और न ही नेता के शास्त्रीय स्वरूप को । साहित्य जन-जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में जन-जीवन का संकल्पात्मक स्वर बनकर उन सभी परिवर्तनों को लेकर सामने आया है जो तर्क,औचित्य और यथार्थ पर आधारित हैं । अत: नाटक में नायक की स्थिति में भी परिवर्तन हो गया है । वास्तव में ~~इसी तथ्य का~~ आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य में नवजागरण के प्रभाव से नायक की स्थिति में अधिकाधिक विस्तार हुआ है । नायक की एक विशिष्ट दृष्टि से संयमित रूढ़िवादी स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन किया गया है । एक नाटक में एक ही नायक हो,वह समस्त घटनाओं का केन्द्र हो,नाटक में जो एक स्पष्ट फलागम होता है(भारतीय प्राचीन दृष्टि के अनुसार)उसका भोक्ता वही नायक हो,वह आदर्श,अपराजय,अति प्रभावशाली,धीर,कार्यकुशल,महान,धैर्यवान्,कल्याणकारी, हो । ये समस्त अनिवार्य शर्तें नायक के साथ आज नहीं रह गई हैं । नाटक में नायक के स्थान पर पात्रों का वर्गीकरण होने लगा है। जन-जीवन का कोई भी व्यक्ति (जाति,धर्म,वर्ण आदि से परे) नाटक का नायक ,उपनायक या पात्र हो सकता है इस दृष्टि का प्रसार धीरे-धीरे होने लगा है। हिन्दी के नाटकों का जन्म पात्रों को दृष्टि-पथ में रखकर इसी नवीन चेतना के आधार पर हुआ है । भारतेन्दु युग में अनेक असाधारण व्यक्तियों को नाटकों में मुख्य पात्र का स्थान दिया गया है । आधुनिक युग में साहित्यकारों का ध्यान साधारण

व्यक्तियों के प्रतिदिन के जीवनपर गया । अत: साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति करते समय साधारण कोटि के पात्रों को साहित्य में स्थान दिया गया । आधुनिक युग में पात्रों की अनेकरूपता के कारण विद्वानों ने उनके वर्गीकरण के अनेक आधार प्रस्तुत किए हैं --

पहला आधार यथार्थ और कल्पना को बनाया गया । इसका प्रतिपादन करते हुए डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने कहा है--" इस साहित्य-सृष्टि के पात्र मुख्यत: दो प्रकार[1] के होते हैं-- शुद्ध काल्पनिक तथा यथार्थ जगत के पात्रों की प्रतिच्छाया रूप । शुद्ध काल्पनिक वर्ग के अन्तर्गत वे पात्र आते हैं जो यथार्थ जगत् की सत्यता से दूर लेखक की काल्पनिक सृष्टि के परिणाम होते हैं और यथार्थ से तात्पर्य है-- जगत-जीवन की समस्त घटनाओं में उलझा हुआ सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, सफलताओं और विफलताओं के बीच डूबता-उतराता मानव । उस वर्गीकरण में एक ही सत्य की सापेक्षता के आधार पर दो रूपों में रखकर वर्गीकरण किया गया है । साहित्य में न कोई पात्र काल्पनिक होता है और न यथार्थ । कल्पना में सम्भावित या घटित सत्य की यथार्थता रहती है और यथार्थ में परिस्थितियों, प्रभावों और मनोवैज्ञानिक सन्दर्भों की कल्पना का योग रहता है । अत: नाटकों के पात्रों का यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं । इसी प्रकार आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में --

आदर्श और यथार्थ,
स्थिर और गतिशील,
आभिजात्य और श्रमिक
(भावुक)प्रणयी और प्रणय-विरोधी(कठोर) आदि

वर्गीकरण के आधार पर भी प्रस्तुत किए गए हैं ।

पात्रों के वर्गीकरण के लिए व्यवसाय को भी आधार बनाया जाता है, परन्तु वह आधार एकदम अवैज्ञानिक है । क्योंकि व्यवसाय जीवन के

---

१ डा० रमेशवरलाल खण्डेलवाल : 'जयशंकर प्रसाद' : वस्तु और कला', दिल्ली, १९६८, पृ० १२६ ।

अस्तित्व का आधार मात्र है । उससे पात्र की स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता । एक ही व्यवसाय के दो पात्र अच्छे या बुरे हो सकते हैं । इसी प्रकार आदर्श और यथार्थ की सीमाओं में भी किसी वर्ग को स्पष्टत: नहीं बांटा जा सकता । आभिजात्य और श्रमिक होने पर भी पात्र के विश्लेषण को आधारित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार भावुकता और कठोरता के आधार पर पात्रों का वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता ।

उपरोक्त आधारों पर 'प्रसाद' के पात्रों का वर्गीकरण न करके डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने अपने ढंग का जो स्तुत्य प्रयास किया है, उसके पीछे एक दृष्टि यह भी है कि 'प्रसाद' ने कोई वाद, कोई मत या कोई निश्चित सिद्धान्तिक विचार स्थापित नहीं किया । प्रसाद का 'साहित्य' ~~प्रसाद~~ उनके भावुक, अनुभवशील, दार्शनिक मानस की कलात्मक अभिव्यक्ति है । जब उसके मानस पर बाह्य जगत का जैसा प्रभाव पड़ा, वैसे ही पात्रों का निर्माण उन्होंने किया । इतिहास के आश्रय में पात्रों के विकास की स्वतन्त्रता भले ही सीमित हो जाती है, परन्तु इतिहास के स्थल को साहित्य के लिए चुनने में तो कलाकार पूर्ण स्वतन्त्र है । अत: 'प्रसाद' के ऐतिहासिक पात्र एक दृष्टि से उनकी स्वतन्त्र चिन्ता और विचारणा के प्रतिरूप हैं । इसीलिए डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का नाटकीय पात्रों का वर्गीकरण[1] एक-एक पात्र का सर्वांगीण परिचय देता है । परन्तु एक बात अवश्य है कि इस प्रकार के पात्र-परिचय के लिए यथोचित स्थान और स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता है । इसी प्रकार का प्रयास डा० दशरथ ओझा ने भी किया जो एक दृष्टि से बड़ा ~~और~~ सटीक कहा जा सकता है । उन्होंने भारतीय दर्शन के अनुसार सत, रज, तम गुणों के आधार पर मनुष्य समूह के तीन वर्ग बनाए गए हैं । शील, धैर्य, सन्तोष और शौर्य की संकलित प्रतिमूर्ति को देव कहा जाता है, उसमें सत गुण की प्रचुरता होती है । इन पात्रों पर बाह्य जगत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अत: ये स्थिर पात्र हैं । इनके चरित्र पूर्ण विकसित हैं । यह मानते हुए डा० दशरथ ओझा ने कहा है कि 'इनके चरित्र के विकास

---

1 द्रष्टव्य - (डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा) 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', काशी, १९५५ ।

के लिए स्थान ही नहीं रहता[1]।' दूसरा वर्ग इन लोगों का है जो सिर्फ अपने लिए जीते हैं। अपने लिए सोचते हैं और अपने लिए ही मर जाते हैं। इनके विषय में कहा गया है --' दानव वर्ग में कतिपय ऐसे पात्र रहते हैं जो पतनोन्मुख हैं और सदा पतन की ओर ही बढ़ते चले जाते हैं। इनके जीवन-विकास का भी कोई प्रश्न नहीं है[2]।' तीसरा वर्ग इन दोनों उपरोक्त पात्रों के मध्य का है, जो दानव और देव के मध्य खड़े मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति में झूलते रहते हैं। इस वर्गीकरण की उपयुक्तता और उपादेयता में सन्देह न करते हुए भी कहा जा सकता है कि मानव जीवन की सम्पूर्णता को एक बंधी बंधायी प्रवृत्ति का दास नहीं कहा जा सकता। परिस्थितियां दानव को कब देव बना दें और देव को कब दानव, यह नहीं कहा जा सकता। साथ ही किन परिस्थितियों में कौन देव हो जाय और कौन दानव, यह भी नहीं कहा जा सकता। फिर देव, मानव, दानव की परिभाषाएं निरपेक्ष चाहे जो भी हैं, परन्तु मनुष्य की सापेक्षता को नकारा नहीं जा सकता। एक परिस्थिति में एक कार्य देवत्व हो सकता है, दूसरी परिस्थिति में वही कार्य दनुजत्व हो सकता है। इसीलिए लेखक ने इस वर्गीकरण के पश्चात् स्वयं इस बात का अनुभव किया कि कुछ लोग इस वर्गीकरण से बाहर रह जाते हैं।

किसी भी रचनाकार का अपना एक मनोदेश होता है, जिसका निर्माण उसके संस्कार, अनुभव, और प्रभावों से होता है। इस मनोदेश में अनेक विश्वास, धारणाएं, आस्थाएं, अनास्थाएं पलती हैं। इन मान्यताओं का मूर्त रूप ही रचना के रूप में आता है। अर्थात् रचना के रचनाकार का उद्देश्य चाहे जो भी हो, उसके पात्रों की सृष्टि उसके उद्देश्य की पूर्ति होगी। यदि हम इस तथ्य को मानकर चलें तो उस रचनाकार के पात्रों के वर्गीकरण को एक आधार मिल

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ० २५१।

२ ,, ,, ,, पृ० १५१

जाता है । --'रचना के उद्देश्य का आधार'। इस आधार को प्रत्येक लेखक के पात्रों के रूप में अलग-अलग लिया जायगा। साहित्य के सभी चरित्रों का वर्गीकरण इस आधार पर नहीं हो सकता, लेकिन फिर किसी लेखक के पात्रों के वर्गीकरण के लिए यह आधार सर्वाधिक उपयुक्त होगा।

पात्र-योजना : 'प्रसाद'

हिन्दी नाटक के जन्म के साथ ही अनेक नवीनताएं नाटक-साहित्य में आईं। यह कहना उचित ही है कि हिन्दी नाटक जिन परिस्थितियों में उद्‌भूत हुआ उनमें मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ। अत: सामाजिक परिवर्तन के साथ नाटकों के मूल्य और प्रतिमानों में भी परिवर्तन स्वाभाविक था। हिन्दी-नाटक की आत्मा भारतीय होते हुए भी उसका स्वरूप उस पश्चिमी प्रभाव से नहीं बच सका, जो विश्व रंगमंच की बदलती हुई परिस्थितियों का परिणाम था। यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र में नाटक के सभी तत्वों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया और सत्-साहित्य के आधार पर अनेक उपादेय परिणाम रीतियों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, लेकिन समय के परिवर्तन के साथ ही नवीनताओं का आगमन नितान्त स्वाभाविक और ग्राह्य होता है। 'नेता' शब्द के साथ जो रीतिबद्धता है, उसके अनुसार उसे आभिजात्य कुलज, सर्वगुण सम्पन्न, फलभोक्ता, कथा का केन्द्र माना गया है। परन्तु भारतेन्दु-काल में इस रीति को तोड़ डाला गया। जाति, कुल, वर्ण, धर्म, और अन्य किसी स्थिति से नायक का निश्चित सम्बन्ध मानना निर्मूल सिद्ध हो गया था। बाबू गुलाबराय ने कहा--'आजकल जमाना पलट गया है। किसी मनुष्य के महापुरुष होने के लिए उसका किसी उच्च कुल में जन्म होना आवश्यक नहीं है[1]।' जन्म के विमुख महान होने की शर्त बदल गई। साथ ही जन-जीवन के उन्नायक नेता, समाज-सुधारक, श्रमिक, निर्धन, दु:खी व्यक्ति

---

१ गुलाबराय : 'हिन्दी नाट्य-विमर्श, लाहौर, १६४०, पृ०३४

आदि भी साहित्य के आधार बने और उनको नाटक में नायक का स्थान मिला । भारतेन्दु के युग में ही ऐसी रचनाएं सामने आने लगी थीं, जिनमें प्राचीन शास्त्रीय रुढ़ियों के प्रति अनास्था के दर्शन होते हैं । 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' (भारतेन्दु), 'दु:खिनी बाला' (राधाकृष्ण दास) चरित्रांकन के क्षेत्र में क्रान्ति करने वाले अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याप्रधान, हास्यरस प्रधान नाटक लिखे गये,[1] फिर भी इस युग पर आभिजात्य प्रभाव शेष था । स्थूलता, सोद्देश्यता और आदर्श का विशेष महत्व इस युग के नाटकों में मिलता है । स्वयं युग-नायक भारतेन्दु उद्देश्य को बहुत अधिक महत्व देते थे । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण तथ्य को कुछ शब्दों में बांधते हुए कहा है-- 'साहित्यिकता का ध्यान न रखकर नाटककारों ने आर्य समाज की शास्त्रार्थ वाली शैली को अपनाना आरम्भ कर दिया । इससे उनकी कृतियों की कलात्मकता को बहुत क्षति पहुंची । मालूम होता है स्वयं लेखक विविध पात्रों के रूप में आर्य समाज के प्लेटफार्म से बोल रहा है । लेखक, समाज-उपदेशक की भांति समाज-सुधार के आवेग में अपने कर्तव्य से विचलित होकर कथानक और कथनोपकथन के क्रमिकविकास को भी ले डूबता है ।'[2]

भारतेन्दुकालकी शिथिल और कलाहीन नवीनता को 'प्रसाद' ने सच्चे अर्थों में कला का स्वरूप दिया । भारतेन्दु के द्वारा काशी में जो साहित्यिक होम(यज्ञ) प्रारम्भ किया गया था उसकी पूर्णाहुति प्रसाद ने दी । चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित कर प्रथम बार 'प्रसाद' ने अपने पात्रों के माध्यम से [illegible] में प्राण फूंक दिए । 'प्रसाद' के पात्रों में व्यक्तित्व, सजीवता, सक्रियता, स्वाभाविकता, प्रभावात्मकता आदि अनेक ऐसे गुण पाए जाते हैं, जिनके कारण उन पात्रों के अमिट चित्र हृदय-पटल पर अनायास ही अंकित हो जाते हैं । उनकी सुवासिनी, अलका, देवसेना, तथा चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त,

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ०१९४ ।

२ डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', प्रयाग, १९५४, पृ०२२१

चाणक्य और प्रेमानन्द को कौन भुल सकता है ?

अपनी रचनाओं के माध्यम से 'प्रसाद' ने अनेक चरित्र हिन्दी साहित्य को दिए । इन चरित्रों में हम लेखक की बहुमुखी वैचारिक संहिता का दर्शन कर सकते हैं । 'प्रसाद' अपने युग के सभी सन्दर्भों से परिचित थे । जीवन के सुख-दु:ख , विकास, पतन, सत्य, असत्य, नैतिकता, राजनीति, नारी समस्या, आदर्शवादिता और यथार्थता, सांस्कृतिक-पतन और राष्ट्रीयता इन सभी विषयों को गहराई से विचारने वाले 'प्रसाद' ने इन सब सन्दर्भों को घटित सत्य(इतिहास) के संदर्भ में चित्रित किया । यद्यपि उन्होंने भारतेन्दुकालीन सुधारवादी स्वर का प्रयोग अपने नाटकों में नहीं किया, फिर भी उनकी रचना के पीछे एक नवनिर्माण की भावना सक्रिय रही है , जिसे उनकी पात्र-योजना में स्पष्ट देखा जा सकता है । अत: उनके पात्रों का वर्गीकरण उनकी वैचारिकता के आधार पर ही कियागया है--

१- भारतीय संस्कृति के प्रतीक पात्र
२-(भारतीय) राष्ट्रीयता के प्रतीक पात्र
३- आदर्श पात्र (मुख्यत: नारी-पात्र)
४- वेदना, विरह, प्रेम, बलिदान सम्बन्धी पात्र
५- क - हत्याकांक्षी पात्र
६- अन्य (विदेशी, प्रतीक, विदूषक, आदि)

विश्व में मनुष्य के सामने सबसे विकट समस्या मनुष्य को ही समझने की रही है । मानव-जीवन न तो एक कगारों में बंधा प्रवाह है और नहीं नियमों में बंधी .... सत्यता । युग, परिस्थितियां, परम्पराएं, कामनाएं सभी मानव जीवन के घटिल सत्य में सक्रिय रहती हैं । इन सब के ऊपर भी एक सम्भाव्य सत्य की स्थिति को स्वीकार करना होता है । मानव ने समय-समय पर जन-जीवन के उद्देश्यों और लक्ष्यों की व्याख्या की है । विश्व के स्तर पर अब धारणा मानवतावाद का सन्देश बनकर आई है और राष्ट्रीय स्तर पर देश-प्रेम और राष्ट्र-एकता का भाव बनकर । विश्व की कुछ संस्कृतियाँ

युगों से मनुष्य के उलझे हुए जीवन की सतहों में छिपे सत्य को ढूंढने का प्रयास करती रही । इन प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है । सुख क्या है ? महानता क्या है ? मनुष्य क्या है ? इन सभी प्रश्न चिन्हों को दृष्टि-पथ में रखकर भारतीय मनीषियों ने भारतीय संस्कृति को उदारता से सजाया, संवारा है । 'प्रसाद' को यदि भारतीय संस्कृति से मोह था तो केवल इसीलिए कि उसके केन्द्र में वह उदारता, विशालता और गहराई है, जो जगत के उलझे हुए रहस्य को सुलझा सके । 'प्रसाद' ने भारतीय संस्कृति को विश्व के लिए कल्याणकारी समझा, इसीलिए उनके नाटकों में जो विदेशी पात्र हैं, वह यहां की (भारतीय) संस्कृति से पराभूत हो जाते हैं । जो सिकन्दर यहां तलवार लेकर आता है वह यहां से प्यार (मानव-प्रेम) लेकर लौटता है[1] । इसी प्रकार चीनी यात्री सुएनच्वांग कहता है--

सुएन० -- सर्वस्व दान करने वाली देवी ! मैं तुम्हें कुछ दूं यह मेरा भाग्य ! तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है, वह जाकर अपने देश में सुनाऊं । लो देवि ! (वस्त्र देता है)[2] इसी प्रकार

'प्रसाद' के नाटक का प्रत्येक विदेशी पात्र जो भारत की ओर मुड़ता है यहां की महानता में बंध जाता है । यह 'प्रसाद' का मोह है या भारतीय संस्कृति की विश्वव्यापी उपादेयता का प्रसार ? जीवन की पीड़ा, वेदना, अस्थिरता, नियति आदि का 'प्रसाद' ने गहराई से अनुभव किया, उसको समझा, राष्ट्रों के विचक्षण स्वार्थ, दम्भ, जातिवाद आदि को भी उन्होंने पहिचाना और अपने नाटकों में उन्होंने इनके परिप्रेक्ष्य में अनेक पात्रों का संयोजन किया । उनके नाटकों में सबसे महान, शक्तिशाली और उदात्त चरित्र वह हैं जो भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं । ये प्राय: आध्यात्मिक महापुरुष हैं, जैसे दिवाकर मित्र, गौतम, प्रेमानन्द, दाण्डायन, मिहिरदेव आदि । यद्यपि इन महात्माओं को संसार से कुछ

---

1 द्रष्टव्य : 'चन्द्रगुप्त'

2 ,, : 'राज्यश्री', पृ०७२

लेना-देना नहीं है, फिर भी विश्वकल्याण की भावना के आधीन ये सक्रिय हैं। इस प्रकार के चरित्रांकन से 'प्रसाद' यह बताना चाहते हैं कि ये पात्र वैरागी होते हुए भी विश्व-कल्याण की चिन्ता में सक्रिय थे। आत्मोत्थान और परोत्थान का ऐसा अद्भुत सामंजस्य अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। इससे भी बड़ी बात 'प्रसाद' ने इन आध्यात्मिक महापुरुषों के चरित्रांकन में यह है कि नाटक की समस्त घटनाएं इन्हीं के चारों ओर घूमती हैं। समस्तअसन्तुलित विषमताओं को सन्तुलित करने के लिए लेखक इन महात्माओं का व्यक्तित्व सामने लाता है। 'चन्द्रगुप्त' का महान चाणक्य और चन्द्रगुप्त यहां तक कि विदेशी सिकन्दर भी दाण्ड्यायन के आश्रम में ही दिखाई देते हैं चाणक्य। उससे आज्ञा मांगते हैं। अलका विश्वास चाहती है। सिकन्दर उनसे आशीर्वाद चाहता है[1]। ऐसा लगता है कि जैसे समस्त घटनाचक्रों की धुरी में एक दाण्ड्यायन स्थित हैं। जैसे समस्त कार्य-व्यापार के सूत्र उन्हीं के हाथ में है। इस प्रकार के चरित्रों की अवतारणा 'प्रसाद' के प्राय: सभी नाटकों में हुई है। 'विशाख' में प्रेमानन्द 'राज्यश्री' में दिवाकर मित्र, 'अजातशत्रु' में गौतमबुद्ध, 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में वेद व्यास, 'ध्रुवस्वामिनी' में मिहिर देव आदि पात्रों की अवतारणा बड़े भावात्मक ढंग से की गई है। यद्यपि ये पात्र सभी असांसारिक हैं, लेकिन भारतीय आध्यात्मिकता के उन सक्रिय तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि संसार कल्याण की भावना से ओत-प्रोत ये पात्र जहां भी है, वहां से समस्त घटनाओं पर ध्यान रखते हैं।

इन आध्यात्मिक महात्माओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे महान् व्यक्ति भी 'प्रसाद' ने प्रस्तुत किए जो भारतीय संस्कृति के प्रतीक माने जाते हैं, जैसे चन्द्रगुप्त, वपुष्टमा, वासवी, विशाख, स्कन्दगुप्त, सुवासिनी, राज्यश्री, हर्ष आदि। व इन सभी चरित्रों में दया, ममता, त्याग, सहिष्णुता, क्षमा और प्रेम की उदात्त भावना का पूर्ण विकास देखा जा सकता है। 'राज्यश्री' का हर्ष व्यर्थ में किसी को सताना नहीं चाहता वह एक ऐसे राष्ट्र की कल्पना में लगा है जिसमें रहने वाले व्यक्ति सुख से रह सकें।

[1] 'चन्द्रगुप्त' -- भाई !....... चलो हम लोग दूसरों के व दुख-सुख में हाथ बंटायें।

हर्ष० --"चलो, पराक्रम से जो सम्पत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है, उसे पात्रों को दे दूं। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें।"[1]

वास्तव में किसी महानता के लिए 'प्रसाद' के ये समस्त पात्र इसी प्रकार के त्याग की निःसंकोच घोषणा करते हैं। 'मनुष्यता भारतीय संस्कृति के अनुसार' मनुष्य का सबसे बड़ा ध्येय है। इसी मनुष्यता के लिए 'प्रसाद' के पात्र राज्य, प्रेम, अधिकार और जीवन तक त्यागने को तत्पर दीख पड़ते हैं। स्कन्दगुप्त आजीवन अविवाहित रहता है[2]। सुवासिनी हंसते हुए मृत्यु का वरण कर लेती है, जिससे कि देश और भारतीय संस्कृति का सजग प्रहरी सम्राट चन्द्रगुप्त बचा रह जाए। 'प्रसाद' ने अपने आध्यात्मिक और मानवतावादी पात्रों को इस ढंग से चित्रित किया है कि उनका मानवतावाद आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है, भौतिक इच्छाओं के द्वारा नहीं। इसीलिए तो 'अजातशत्रु' का गौतम समस्त कार्य-व्यापार की तीव्रता में अहिंसा और दया की सत्ता भर देना चाहता है। वह मागन्धी के पीड़ित हृदय को शान्त और दया का सन्देश देते हुए कहता है--" असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हंस दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे।.... विश्वमैत्री हो जायगी --विश्वभर अपना कुटुम्ब दिखायी पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टहास में परिणत हो सकती हैं[3]।" मानवता का यह सन्देश करुणा, दया और [illegible] जैसी महती [illegible] से संचालित है। इसमें किसी प्रकार की कामना का सन्देह नहीं किया जा सकता। यही 'प्रसाद' की आध्यात्मिकता और मानवता है, यही भारतीय संस्कृति है जिसके प्रतीक रूप में 'प्रसाद' ने अपने महत्त्वपूर्ण पात्रों की सर्जना की है।

---

१ 'राज्यश्री', पृ०६६

२ 'स्कन्दगुप्त', पृ० १४८

३ 'प्रसाद' : 'अजातशत्रु', पृ०१३०

अनेक देशव्यापी आन्दोलनों के बीच 'प्रसाद' की साहित्यिक चेतना का विकास हुआ । अत: नितान्त स्वाभाविक है कि इस क्षेत्र में उनके विशाल हृदय -सागर में राष्ट्रीय भावनाओं की उर्मियां क्रीड़ा करती रही होंगी । भारत विदेशी सत्ता के द्वारा आक्रान्त और त्रस्त था । हर तरफ अराजकता, शोषण, भूख, पीड़ा और अत्याचार के भीषण दृश्य थे । 'प्रसाद' की भावुक चेतना ने जन-जीवन की पीड़ा को हृदय से अनुभव किया । इसीलिए उनके नाटकों में ऐसे वीरों की अवतारणा हुई जो राष्ट्रीय स्तर पर एक दु:खी राष्ट्र का उद्धार करने के प्रयास में सक्रिय रहे हैं । गांधी, तिलक, पटेल, लाला लाजपतराय, आज़ाद की महानताओं को उन्होंने अपनी आंखों देखा था । इन्हीं के बीच खड़े हुए अनेक देश-द्रोहियों और अवसरवादियों को भी 'प्रसाद' ने देखा था। अत: इस राष्ट्रीय दुर्दशा को देखकर उन्होंने देश के सुप्त जीवन में प्राण फूंकने का प्रयास किया । 'प्रसाद' ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए राष्ट्र-प्रेम का आह्वाहन किया और उनका राष्ट्र-प्रेम उनके राष्ट्रवादी, वीर सैनिकों के रूप में प्रस्फुटित हुआ ।

राष्ट्रप्रेमी चरित्रों का चित्रण 'प्रसाद' ने बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है । इनमें हर्षवर्द्धन, चाणक्य, मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, सिंहरण, मालविका, अलका, स्कन्दगुप्त आदि हैं । हम देखते हैं कि इनमें प्रत्येक पात्र अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं के साथ राष्ट्र की रक्षा का, राष्ट्र के संगठन का और राष्ट्र के हित का प्रश्न साथ लेकर जीता है । हर्ष एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है जो दया, और धर्म पर आधारित हो ।

सुकेशिनि -- नहीं, नहीं बातों से काम नहीं चलेगा सम्राट !
आज मुझे क्षात्र धर्म की परीक्षा देनी है--युद्ध होगा ।

हर्ष० -- कभी नहीं,,, मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूं । यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, कश्मीर से लेकर रेवा तक, एक [illegible] राष्ट्र हो गया । मुझे और न चाहिए।

यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूं- राज-धर्म का पालन कर सकूं तो कृत-कृत्य हो जाऊंगा।[1]"

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में "स्कन्दगुप्त में देश-प्रेम का रूप बड़ा ही दिव्य है। निर्लिप्त रूप में निरन्तर उसकी यही चेष्टा रहती है कि आर्य साम्राज्य का कल्याण हो।.... उसका देश-प्रेम किसी की सहायता अथवा सैन्य बल पर आश्रित नहीं है। उसकी मूल भित्ति आत्मविश्वास पूर्ण, नि:स्वार्थ और मंगलमयी वह अन्त:प्रेरणा है जिसके कारण स्कन्द का व्यक्तित्व इतना सुन्दर हो उठा है।[2]" हम देखते हैं कि "प्रसाद" ने सिंहरण जैसे पात्र की कल्पना करके अपनी विश्वस्त राष्ट्रीय-भावना का परिचय दिया है। सिंहरण के विषय में नि:संदेह यह कहना होगा कि वह पर्वत की तरह अचल और धारा की तरह प्रवाहित है वह वीरता और शौर्य का आदर्श प्रतीक है। परमेश्वरीलाल गुप्त ने कहा है, --"सिंहरण के हृदय में राष्ट्र-भावना कूट-कूट कर भरी हुई है।[3]" राष्ट्रीयता के प्रतीक रूप में अलका जैसा सशक्त नारी-चरित्र प्रस्तुत करके "प्रसाद" ने उसे प्राचीन इतिहास से हटाकर अर्वाचीन इतिहास से जोड़ दिया है। यूं तो "प्रसाद" के नाटकों में अवतरित होने वाली नारियां किसीन-किसी महत्ता की ओर संकेत करती ही हैं, परन्तु अलका उन सब में अलग खड़ी है। अपने अन्तर की प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए अपने देश-द्रोही पिता और भाई के सम्मुख वह कहती है कि

यदि वह बन्दिनी नहीं बनाकर रखी जायगी तो सारे गांधार में वह विद्रोह मचा देगी[4]।" इससे भी अधिक वह अन्तर मन से स्वीकार करते हुए कहती है, "मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियां हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं, और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं।[5]"

---

१ राज्यश्री, पृ०५८
२ जगन्नाथप्रसाद शर्मा : "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन", बनारस, १९६६, पृ० १०
३ परमेश्वरीलाल गुप्त : "प्रसाद के नाटक", पृ० १०६, १९५६ ई०
४ चन्द्रगुप्त, पृ०८१
५ ,, पृ०७७

देश-प्रेम और स्वामिनी सिंहरण के प्रति उसका आकृष्ट होना, उसके अन्तर का स्पष्ट दर्पण है, जिसमें एक देश-भक्त अलका की झलक देखी जा सकती है । चाणक्य से भी अधिक देश-प्रेम के सुन्दर स्वरूप को अलका में मानते हुए परमेश्वरीलाल गुप्त ने कहा, -- "चाणक्य के कार्य में हमें विदेशियों के प्रति असहनशीलता और नन्द के प्रति व्यक्तिगत प्रतिशोध काम करता दिखाई देता है, पर अलका को हम विशुद्ध देश-प्रेम की उत्कट भावना से ओतप्रोत पाते हैं[1]।" 'चन्द्रगुप्त' की देवसेना भी एक ऐसा ही महान चरित्र है । अपनी भावुकता के कारण वह जीवन की अछूती सत्यताओं से टकराकर टूट जाती है । उसके अन्तर का प्रेम-भाव किसी आधार को न पाकर विद्रोही नहीं होता, वरन् उसमें और भी गम्भीरता आ जाती है । वह एक ऐसी ऊर्मि है जो सागर की गहराई से उठकर विश्वास के साथ तट की ओर जाती है, परन्तु तट के अस्तित्व से टकरा वापस उसी गंभीर सागर के तल में डूब जाती है । डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के अनुसार "उसमें देश-प्रेम का बड़ा त्यागपूर्ण प्रसार दिखाई पड़ता है । देश की सम्मान-रक्षा में जिस सहिष्णुता, सेवा, त्याग और निष्ठा की आवश्यकता रहती है, उसमें वे सभी गुण वर्तमान हैं[2]।" देश और राष्ट्र-प्रेम के परिप्रेक्ष्य में रचित चरित्रों में 'प्रसाद' ने जो विशालता भरी है उसमें किसी भी प्रकार का संकुचन नहीं । उनके जीवन की उन्मुक्त लहरियों का स्वाभाविक स्पन्दन देश-प्रेम की उदात्त भावना के रूप में व्यक्त होता है । इन सब पात्रों के हृदय सागर की तरह गम्भीर हैं । अपने अंतिम समय में स्कन्द को अपने सन्देश में बंधुवर्मा कहता है, "भाई ! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण हैं ।

सैनिक -- 'महाराज आप क्या कहते हैं । (सब शोक करते हैं।)

बंधुवर्मा -- 'बंधुगण ! यह रोने का नहीं, आनन्द का समय है, कौन वीर इसी तरह जन्म-भूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने आता हूँ[3]।"

---

1 प[illegible]लाल गुप्त : 'प्रसाद के नाटक', वाराणसी, १९५६, पृ०१११

2 डा०जगन्ना[illegible]साद शर्मा : 'प्रसाद के [illegible]टकों का शास्त्रीय अध्ययन', वाराणसी,

मरने के पश्चात् भी जो देश-रक्षा का प्रश्न लेकर ऊपर(स्वर्ग) जाता है, ऐसे वीर की अवतारणा का प्रश्न सीधे रूप में 'प्रसाद' की वर्तमान राजनीति से जुड़ा है जिसमें करोड़ों लोगों की मुक्ति का रहस्य छिपा हुआ है ।

यद्यपि प्रसाद का चाणक्य प्रताड़ित और अपमानित क्रोधी ब्राह्मण है जो नन्द के नाश की प्रतिज्ञा से बंधा हुआ राष्ट्र की सीमाओं में घूमता है, परन्तु उस ~~बस्रक~~ चाणक्य में भोजन खाने की अथवा विलास-वैभव की लालसा कहीं भी नहीं है । बहुत पहले से ही वह एक सच्चा देश-प्रेमी और जन-हितैषी युवक है । राष्ट्र की एकता का प्रश्न उसके अन्दर एक अग्नि-पुंज जला देता है । इसी एक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह अपने जीवन के सुख, वैभव, प्रेम, और ~~सर्व~~ शान्ति को सहज भाव से त्याग देता है । वह कहता है :—
'वह क्रूर है, केवल वर्तमान के लिए भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं[1] ।'

डा० जगन्नाथ शर्मा के अनुसार उसकी सारी बुद्धि [illegible] राष्ट्र-कल्याण के लिए सक्रिय है[2] ।

'प्रसाद' के आदर्श नारी-पात्रों का निर्माण उनके नारी के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण का परिणाम है । एक ओर उनके नाटकों में नवयुग की नारी का जागृत रूप ध्रुवस्वामिनी है तो दूसरी ओर आत्मसमर्पण की भावना से ओत-प्रोत अनुराग भरी कोमा का रूप है । 'प्रसाद' ने नारी जागरण की कामना की है लेकिन फिर भी वे मानते हैं कि नारी को एक सुदृढ़ आधार की आवश्यकता होती है । उसे एक निर्मल स्नेह से भरा हृदय चाहिए, जिसके लिए वह अपना सब कुछ समर्पित करके सुखी हो सके । नारी को हृदय-प्रधान मानने का आग्रह भी 'प्रसाद' में है । 'प्रसाद' ने जिस भारतीय संस्कृति को पूज्य भाव से देखा है उसमें एक आदर्श, भावुक, [illegible] नारी रूप भी उन्हें मिला, उसी को कोमा,

---

1 'चन्द्रगुप्त', पृ० १८१

2 डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' वाराणसी, १९६६, पृ० १६२ ।

देवसेना, मालविका, चन्द्रलेखा, वासवी, आदि पात्रों के रूपमें 'प्रसाद' ने प्रस्तुत किया है। हम देखते हैं कि 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में जिन काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है, उनमें उनके अन्तर की उदात्त आदर्शकल्पना का रूप है। कोमा ने शकराज से प्रेम किया है-- प्रेम, जिसमें कोई तर्क नहीं, कोई प्रश्न नहीं, जीवन और मृत्यु के रास्तों पर कोमा के लिए शकराज की ही भव्य मूर्ति है। इस दुनिया का सब कुछ उसे शकराज में ही दिखाई दिया है। वह अपने पूज्य पिता मिहिर देव के साथ जो बातें करती है उनमें उसका अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है।

मिहिरदेव -- बेटी! हृदय को संभाल। कष्ट सहन करने के लिए तैयार हो जा .... इस बन्धन को तोड़ डाल।

कोमा -- (सकरुण) तोड़ डालूं पिता जी! मैंने जिसे अपने आंसुओं से सींचा, वही दुलारभरी बल्लरी, मेरे आंख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका-- उसकी हरी-हरी पत्तियां कुचल जायं और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे? न ऐसी कठोर आज्ञा न दो।[1]

डा० शर्मा के कथन में कोमा का अस्तित्व देखा जा सकता है। 'वह (कोमा) पाषाणों के भीतर बहने वाले मधुर स्रोत की शीतल जलधारा की भांति निर्मल और शान्तिमयी रहना चाहती है।'[2]

इन आदर्श नारी पात्रों के निर्माण के 'प्रसाद' की निर्झरी आदर्श के शिखर से वेदना और पीड़ा के जल प्रवाह की तरह निरन्तर सक्रिय है। यदि 'प्रसाद' के नाटकों को रस की दृष्टि से परखा जाए तो ये पात्र (देवकी, मल्लिका, कमला, मालविका, देवसेना, कोमा, वासवी आदि) सामाजिक के मन में एक ऐसी पीर जगा देते हैं जिसमें मन डूब कर रह जाता है। 'प्रसाद'

---

१ 'ध्रुवस्वामिनी', पृ०४५

२ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', १९६६, पृ०१२५, वाराणसी।

ने करुणा को एक ऐसा सूत्र माना है, जिससे दूसरों के दर्द और पीड़ा को पहचाना जा सकता है। उनके इन पात्रों के प्रति करुणा का अगाध सागर हिलोरें लेने लगता है। अगर 'प्रसाद' के नाटकों में इन पात्रों की सृष्टि न होती तो उनका साहित्य इतिहास का कोरा प्रदर्शन बनकर रह जाता। यदि 'राज्यश्री' में राज्यश्री की क्षमा, यदि 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना का प्रेम संकलित-व स्वाभिमान और त्याग, देवकी की महानता कमला का आदर्श ममत्व 'चन्द्रगुप्त' में मालविका का मूक बलिदान, 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा की एकनिष्ठ प्रेम पूजा, न होती तो इन नाटकों का अर्थ ही बदल जाता। प्रेम और त्याग की उच्च भूमि पर पहुंचकर ये पात्र जीवन की गहरी भौतिकता से उदासीन दिखाई देते हैं--

स्कन्द० -- देवसेना! एकान्त में किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूंगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं-- एक बार कह दो।

देवसेना -- तब तो और भी नहीं। मालव का महत्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट, क्षमा हो। इस हृदय में .... आह! ..... अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूं, मैंने अपने को दे दिया है अब उसके बदले में कुछ लिया नहीं चाहती।[1]

कहना न होगा कि 'प्रसाद' ने इन आदर्श नारी-चरित्रों में नारी की कमनीय-कोमलता और कठिन दृढ़ता, नारी का प्रेम और त्याग, नारी का ममत्व और विराग, नारी के समस्त उदार रूपों का और भावों का अत्यन्त सुन्दर समन्वित रूप प्रस्तुत किया है।

अनेक घटनाओं से भरी हुई इस दुनिया में इच्छित उपलब्धियों के प्रति सन्देह बना रहना स्वाभाविक है, क्योंकि न जाने किस मोड़

---

1 'स्कन्दगुप्त', पृ० १३५

पर कौन परिस्थिति आकर जीवन का रुख बदल दे। अतः पीड़ा और वेदना मानव जीवन की सर्वप्रथम सम्भावना है। यदि वेदना को पी जाने का साहस हम जुटा सकते हैं तो यही हमारा अस्तित्व है। 'प्रसाद' जी ने आदर्श को सामने रख कर ऐसे अनेक पात्रों की अवतारणा की जिनका जीवन सूखे पत्तों की तरह [illegible] के हल्के से संकेत से बिखर गया है और जो अपने जीवन के प्राप्य से दूर भटक गये हैं। वेदना का ज्वार तब और भी गहरा हो जाता है, जब चरित्र भौतिक रूप से पूर्ण समर्थ और योग्य होता है, परन्तु उसका बाहर का साम्राज्य उसके अन्दर की शून्यता को भरने में असमर्थ और विवश हो जाता है। ऐसे पात्रों में एक अनोखा गाम्भीर्य एवं औदार्य भर कर 'प्रसाद' ने इन्हें सहिष्णुता की चरम स्थिति पर प्रस्तुत किया है। अपने खोए हुए प्रेम, अतृप्त इच्छा और टूटे हुए सपनों को लेकर ये चरित्र चुप हैं, शान्त हैं। धरती के एक निर्जन कोने में चुपचाप जीवन की विषम परिस्थितियों का सामना करते दीख पड़ते हैं। इस अपर्याप्तता के प्रति इनमें न तो मनोमालिन्य है, और न ही विद्रोह। इसीलिए तो सामाजिक सहज ही इन पात्रों की अनुभूति से जुड़ जाता है। स्कन्दगुप्त, देवसेना, चन्द्रगुप्त(ध्रुव०) मालविका चाणक्य, कल्याणी आदि की पीड़ा एक आदर्श है।

उपरोक्त पात्रों का अंकन करते समय 'प्रसाद' ने परिस्थितियों को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। भाग्य और संयोग को महत्व देने वाले शेक्सपियर ने एक-एक क्षण को जीवन के निर्माण की पूर्ण और महत्वपूर्ण इकाई माना है। न जाने किस क्षण जीवन किस मोड़ पर मुड़ पड़े, जहाँ से पीछे छूटी हुई प्रत्येक वस्तु उसके लिए सदा के लिए टीस बनजाए। इसी प्रकार 'प्रसाद' के इन पात्रों का जीवन एक-एक क्षण नियति के ऐसे कठोर आदेश पर चलने को विवश है, जिससे ये वेदना और पीड़ा की साक्षात् मूर्ति बनकर रह जाते हैं। चन्द्रगुप्त ध्रुव की [illegible] के लिए एक क्षण निष्क्रिय हो जाता है, जिससे ध्रुवस्वामिनी का भी और अपना भी जीवन उसके लिए गहरी पीड़ा का कारण बन जाते हैं। वह कहता है --' यह नहीं हो सकता। महादेवी ! जिस [illegible] के लिए जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान !..... (ठहरकर)

और भी एक बात है। मैंने हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि --(सहसा चुप हो जाता है)[1]" चन्द्रगुप्त का सहसा चुप हो जाना एक ओर तो महान् मर्यादा का संयम है दूसरे गहरी पीर का प्रतीक। इसी प्रकार देवसेना स्कन्द के प्रणय-निवेदन को चुपचाप इसलिए लौटा देती कि कहीं यह मालव राज्य का प्रतिदान न लगे वह कहती है--

स्कन्द० -- .. .. चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूं, वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊंगा, और एकान्त वास करूंगा।

देव० -- सो न होगा सम्राट! मैं दासी हूं। मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूंगी। सम्राट! देखो, यहीं पर सती जय माला की भी छोटी सी समाधि है, उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिए।[2]"

इस एक क्षण को आदर्श की स्थिति में बांधकर देवसेना जीवन भर के लिए एक अपरिमित चिन्ता, वेदना, पीड़ा को गले लगा लेती है और फिर इसी मर्यादा की एक भावना का सहारा लेकर वह हर उद्वेग को टालने का प्रयास करती दिखाई देती है --" हृदय की कोमल कल्पना सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, ,उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा। सबसे मैं विदा लेती हूं।[3]

चाणक्य भी आकाश से टूटे उल्का की तरह दूसरों को प्रकाश देता है, परन्तु अपने लिए उसका अन्तर गहन अन्धकार का प्रदेश है जिसमें

----

१ ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३०

२ स्कन्दगुप्त, पृ० १३४

३ ,, पृ० १५०

उसका स्नेह, उसका सत्य खो गया है। सुवासिनी का वह बचपन का स्नेह जोउसके अंधकार भरे हृदय-प्रदेश के एक अनजान कोने में पड़ा है, विकसित होकर उसके जीवन के लिए किरण-पुंज नहीं बन सका। अत: चाणक्य के प्रति,सामाजिक का अनोखा सा लगाव हो जाता है। और वह कह उठता है, बेचारा चाणक्य! अन्तर्द्वन्द्व की विभ[illegible]। में फंसा हुआ चाणक्य कहता है--

सुवासिनी -- (नि:श्वास लेकर) राक्षस से! नहीं, असम्भव। चाणक्य, तुम इतने निर्दय हो!

चाणक्य -- (हंसकर) सुवासिनी! वह स्वप्न टूट गया- इस विजन बालुका-सिंधु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु एक भू-भंग ने उसे लौटा दिया! मैं कंगाल हूं(ठहरकर) सुवासिनी मैं तुम्हें दण्ड दूंगा। चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्त नहीं।[1]"

इन कावमय चरित्रों के अन्तर में जो लालसाएं सो रही हैं,उनका अनुभव प्रेषणीयता पाकर सामाजिक के मन पर एक दु:ख की रेखा खींच जाता है। "प्रसाद" के नाटक सुखान्त हैं, परन्तु उनका अन्त देखकर ऐसा लगता है कि कहीं कुछ होने को छूट गया है। तब मन में प्रश्न उठता है कि क्या इन नाटकों को सुखान्त कहा जा सकता है? इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने कहा है,"उनके नाटक सभी सुखान्त हैं, परन्तु क्या उनके समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का स्फुरण होता है?नहीं। नाटक के ऊपर दु:ख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है। और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई मिलती है।[2]"

यदि जीवन का आदर्श त्याग में है तो सुख महत्वकांक्षा में। मनुष्य की [illegible] का आधार उसकी कामना पर आधारित है। जिस जिन

---

1 चन्द्रगुप्त : पृ० १८०

2 डा० नगेन्द्र : "आधुनिक हिन्दी नाटक", १९६४,पृ० ७०, आगरा।

किसी की कोई इच्छा न रह जायगी, उस दिन संसार की चेतन -शक्ति जड़ होकर जम जायेगी । `प्रसाद` ने इस बात का अनुभव किया । अत: उनके नाटकों में जहाँ सब कुछ पाकर त्यागने वाले हर्ष, स्कन्द और चन्द्रगुप्त, देवसेना, म[illegible], कमला, पर्णदत्त जैसे पात्र मिलते हैं, वहाँ जीवन की सत्यता के प्रतीक रूप में म[illegible] पात्र, अजात, देवगुप्त, चाणक्य, राक्षस, सुरमा, वि[illegible], शकराज, काश्यप, विजया, भटार्क, नरदेव, विरुद्धक, देवदत्त, छलना, अनन्तदेवी, मागंधी, शक्तिमती आदि भी हैं।[1] चाणक्य कहता है -- "महत्वकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।" इसीलिए अनेक ऊँची-ऊँची अभिलाषाओं से भरे हुए उपरोक्त महत्वाकांक्षी चरित्र निष्ठुर हो गए हैं, उनकी यह निष्ठुरता उनके पारिवारिक सम्बन्धों तक में अनोखी स्थितियाँ पैदा कर देती हैं। अनन्तदेवी के कारण स्कन्द के परिवार पर पहाड़ टूट पड़ता है।[2] सुरमा के कारण राज्यश्री ~~कोमा-का-अन्त-हो-जाता-है~~ के जीवन में विषाद भर जाता है।[3] शकराज के कारण कोमा का अन्त हो जाता है।[4] चाणक्य की महत्वाकांक्षा से ही समस्त उत्तरभारत एक बार अनेक घटनाओं में बंधकर रह जाता है। भटार्क की विशाल इच्छा उसे जिस समय पथ पर ले जाती है, उससे कई नए रास्तों का प्रारम्भ होता है। विजया, छलना, मागधी, [शक्]तिमती अपनी इच्छाओं और शक्ति में असन्तुलित हो उठती हैं, जिससे नाटकों में घटनाओं के नये आयाम खुलते हैं। अजातशत्रु महत्वाकांक्षा की पराकाष्ठा पर खड़ा अपनी मर्यादा का उल्लंघन करने वाला पात्र बन जाता है। इन पात्रों को प्रस्तुत करते समय `प्रसाद` ने हृदय-परिवर्तन पर अत्यन्त बल दिया। घटनाओं के चक्र में पड़कर परि[illegible] और अनुभूतियों से मन के विकारों का शमन होता है। अत: उनकी सुरमा और [illegible][5] अन्त में अपनी स्वाभाविकता को त्यागकर काषाय धारण कर लेते हैं। शकराज,

----

१ चन्द्रगुप्त

२ स्कन्दगुप्त

३ राज्यश्री।

४ ध्रुवस्वामिनी।

देवगुप्त एवं पर्वतेश्वर का अन्त हो जाता है। अनन्त देवी और छलना तथा शक्तिमती अपनी भूलें स्वीकार कर लेती हैं। विजया आत्महत्या कर लेती है[1]। मागंधी संघ की शरण में चली जाती है[2]। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने छलना और शक्तिमती के विषय में कहा है--"राजलिप्सा, अधिकार-सुख और महत्वाकांक्षा के लिए लालायित छलना और शक्तिमती ऐसी स्त्रियां हैं जो अपने अभीष्ट साधन में विवेक का स्पर्श ही नहीं होने देती[3]।" यही कथन ऐसे अन्य चरित्रों के विषय मेंभी सत्य समझा जा सकता है। विवेक तो इन पात्रों में घटनाओं, परिणामों और असफलताओं से उत्पन्न होता है। [illegible] के लिए कही गई डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की यह सत्योक्ति (वह) महत्वाकांक्षा के सम्मुख मर्यादा के उल्लंघन में नहीं हिचकती[4]।" ऐसे पात्रों के लिए भी सटीक है, जिनमें अपरिमित इच्छाएं रंगीन स्वप्न बनकर हिलोरें लेती रहती हैं। चाहे वह शक्तिमती हो या देवगुप्त, मर्यादा [illegible] उनके सामने महत्वपूर्ण प्रश्न के रूप में नहीं होती, इसलिए उनका जीवन कुचक्रों का केन्द्रबिन्दु बनकर रह जाता है।

'प्रसाद' के नाटकों में विदेशी पात्रों की अवतारणा

भी हुई है, इनमें सिकन्दर, सिल्यूकस, एण्टीगोनस आदि सैनिक हैं जो भारत में तलवार लेकर आते हैं, और अहिंसा लेकर जाते हैं। ऐसे विदेशी भी हैं जो भारत की आध्यात्मिक भूमि पर धार्मिक आकर्षण से खिंचकर आते हैं, जैसे सुएनच्वांग, लंकाराजकुमार मेघवर्णीज आदि। इन पात्रों को 'प्रसाद' ने ऐसी घटनाओं में डाला जिससे इन्हें भारतीय संस्कृति की महानता के दर्शन हो जाते हैं और ये उसकी उत्कृष्ट परम्पराओं से पराभूत होकर गद्गद् हो उठते हैं। सुएनच्वांग महान् हर्ष और देवी राज्यश्री की विशालता, त्यागभावना एवं उदारता को देखकर कहता है--

---

1 स्कन्दगुप्त, पृ० १३८

2 अजातशत्रु, पृ० १३१

3 डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', वाराणसी, १९६६, पृ० ७० ।

4 ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १२५

राज्यश्री -- महाश्रमण, मुझे भी एक वस्त्र दीजिए ।

सुएन० -- सर्वस्व दान करने वाली देवी ! मैं तुम्हें कुछ दूं-- यह मेरा भाग्य ! तुम्हीं मुझे वे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है, वह जाकर अपने देश में सुनाऊं । लो देवी ! (वस्त्र देता है)[1]

कार्नेलिया एक वीर सैनिक सिल्यूकस की कन्या है जो भारत और भारतीय वीर चन्द्रगुप्त पर मुग्ध है । भारत के प्रति यह आकर्षण इसे यहाँ की साम्राज्ञी बना देता है ।

भारतीय संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने के लिए तथा विदेशों में भारतीय मन्तव्यों के प्रसार के लिए 'प्रसाद' ने ऐसे अनेक विदेशी पात्रों की कल्पना की जो समय-समय पर भारत में आकर यहाँ के विषय में अपनी महती धारणाएं व्यक्त करते हैं ।

पात्र-योजना : राय

रचना के पात्र रचनाकार के विश्वासों का प्रतिनिधित्व करते हैं । साहित्यकार समाज में रहते हुए जिन लोगों के सम्पर्क में आता है, उनकी अपनी कुछ व्यक्तिगत विशेषताएं होती हैं । उन विशेषताओं के कारण ही उसका सामाजिक जीवन सफल या असफल, नीच या ऊंच तथा आकर्षक या साधारण होता है । इन्हीं अनुभवों के बिम्ब रचनाकार की रचना के आधार बनते हैं । अत: यदि हम किसी सर्जक के चरित्रों का ~~विश्लेषण~~ विश्लेषण करें तो उसके वैचारिक परिवेश को कुछ विशेष वर्गों में विभाजित कर लेना आवश्यक है । उन्हीं वर्गों के आधार पर चरित्रों का विभाजन करना सर्वाधिक उपयुक्त एवं अनुकूल होगा । राय के ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक नाटकों में अनेक चरित्र अपनी-अपनी विशेषताएं लेकर हमारे समक्ष आते हैं । इनमें दोनों तरह के चरित्र हैं--ऐतिहासिक भी और काल्पनिक भी ।

---

1 राज्यश्री, पृ०७२

संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नेता को नाटक का केन्द्र माना गया है। राय ने किसी-न-किसी रूप में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए अपने नाटकों में कुछ ऐसे पात्रों की अवतारणा की जिनके जीवन की कील पर नाट्य-चक्र केन्द्रित होता है। 'राणा प्रताप सिंह' में राणा, 'नूरजहाँ' में नूरजहाँ, 'मेवाड़ पतन' में महावत खाँ और 'मानसी' 'दुर्गादास' में दुर्गादास, 'शाहजहाँ' में औरंगजेब आदि। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि राय ने पात्रों के विषय में कथित संस्कृत शास्त्र के बन्धन को अक्षरशः स्वीकार कर लिया है कि एक और केवल एक नेता (नायक) ही मुख्य कथानक का केन्द्र होना चाहिए।[१] परन्तु राय के नाटकों में मुख्य पात्र भले ही कथानक में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता हो, अन्य पात्र भी मुख्य कथा के आधारस्वरूप में प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे 'शाहजहाँ' नाटक में औरंगजेब नायक नहीं है फिर भी उसे कथानक से अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'मेवाड़-पतन' में किसी एक व्यक्ति को नायक नहीं माना जा सकता। उसमें गोविन्द सिंह, राणा, महावत खाँ, मानसी सभी समान महत्व के पात्र हैं।

नायक के लिए जो मान्यताएं संस्कृत-शास्त्र में स्वीकार की गई है कि वह उच्चकुलीन, धीर ललित, सहनशील, क्षमाशील आदि गुणों से सम्पन्न हो [illegible], उन्हें राय ने अस्वीकार करते हुए नायकों या मुख्य पात्रों का जो रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसमें आदर्श-राणा प्रताप सिंह एवं दुर्गादास भी हैं और आदर्शहीन, शक्ति सिंह, महावत खाँ, औरंगजेब भी। हाँ इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि उनके मुख्य पात्रों में कुछ अपनी विशेषताएं हैं, ~~स्वीकार किया जा सकता है कि उनके मुख्य पात्रों~~ जिनके कारण वे प्रेक्षक की सहानुभूति के अधिकारी हो जाते हैं। जैसे शक्तिसिंह भ्रातृविरोधी होते हुए भी किसी-न-किसी तरह प्रेक्षकों की आँखों पर चढ़ा रहता है। इसी प्रकार नूरजहाँ यद्यपि जिन्दगी ईर्ष्या से भरी हुई भयंकर नारी है, परन्तु प्रेक्षक के हृदय का कोई कोना उसके लिए [illegible] रहता है। नायक की शास्त्रीय परिकल्पना हमें

---

१ डा० श्यामसुन्दरदास : 'रूपक-रहस्य', प्रयाग, १९४०, पृ० ६८

राय के नाटकों में नहीं मिलती । यद्यपि ऐतिहासिक कथानकों के कारण उसके नाटकों के मुख्य पात्र स्वभावत: राज्यवंशीय या राज्य सम्बन्धी वंश के हैं,लेकिन कुल के आधार पर उनका विभाजन नहीं किया जा सकता । राज्यवंश के व्यक्तियों में न होते हुए भी दुर्गादास(सैनिक) नायक है । 'नूरजहाँ' नाटक में जहाँगीर से भी अधिक प्रभावशाली पात्र महावतखाँ है,जो केवल एक सैनिक है ।

'नूरजहाँ' में उसकी पूर्ण पराजय हुई है । 'दुर्गादास' नाटक में दुर्गादास दुनिया से विरत-सा दीख पड़ता है । वास्तव में जीवन एक घटना है । इसलिए उसके अन्त को केवल एक व्यक्ति की निश्चित विजय मानकर चलना उचित नहीं है । अत: पश्चिम में इस सत्य को स्वीकार करके दु:खान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के नाटकों का सर्जन हुआ है । राय के नाटकों में भी चरित्र-चित्रण करते समय इसी बात का ध्यान रखा गया कि नाटक के पात्र अधिक-से-अधिक यथार्थ रूप में प्रेक्षकों के सामने आ सकें । इसलिए उन्होंने ऐसे नायकों को लेकर रचनाएं कीं जिनकी पराजय और जिनका दु:खद अन्त इतिहास-विश्रुत है । जैसे 'राणा प्रताप सिंह', 'शाहजहाँ', 'जहाँगीर', 'नूरजहाँ', 'अहिल्या' आदि । शास्त्रीय पद्धति के आधार पर इतिहास-प्रसिद्ध कथा को लेकर ही नाट्य-रचना की जानी चाहिए । इसीलिए उसमें नायक का प्रसिद्ध इतिहास-पुरुष होना सहज सम्भव है । परन्तु नवीन युग में मानवतावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत इस तथ्य को नकारा गया । व्यक्तिवादी [illegible] के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी जगह आवश्यक एवं महत्वपूर्ण होता है । अत: प्रत्येक व्यक्ति (जाति,वर्ण,स्तर आदि के बिना) किसी भी साहित्यिक-रचना का नायक हो सकता है । इसलिए बंगाल में गिरीशचन्द्र घोष तक कुछ प्राचीन रचना-पद्धति के चिन्ह मिलते हैं, लेकिन द्विजेन्द्रलाल राय ने 'बंग नारी', 'परपारे', जैसे सामाजिक नाटकों की रचना करके समाज के प्रत्येक वर्ग को सामान्य और असामान्य की स्थिति से परे अपने नाटकों में स्थान दिया ।

इस वैचारिक शृंखला में एक बहुत बड़ी बात यह है कि राय के नाटकों की रचना किसी एक व्यक्ति को नायक, एक को प्रतिनायक,एक निश्चित नायिका,एक विदूषक आदि रचना [illegible] को स्वीकार करके नहीं

हुई। उनके 'परमीर', 'अनारी', 'मेवाड़-पतन', 'नूरजहाँ' आदि नाटकों में स्पष्टरूप से उपरोक्त तथाकथित पात्र-रूपों को नहीं खोजा जा सकता। अत: शास्त्र की बंधी-बंधाई लीक पर चलकर उन्होंने शास्त्रीय नाटकों की रचना नहीं की, वरन् एक ही नाटक के माध्यम से अनेक नाटकों की चारित्रिक व्याख्या[1] प्रस्तुत की या फिर एक ही पात्र की आन्तरिक और बाह्य आकृतियाँ प्रस्तुत की[2]।

ऐतिहासिक नाटकों में चरित्र-प्रस्तुतीकरण की स्वतंत्रता पर इतिहास-सत्य का अंकुश रहता है, क्योंकि इतिहास के माध्यम से प्रेक्षक जिस पात्र से परिचित होता है उसमें हेर फेर करना सम्भव नहीं होता है। लेखक ऐसा तभी कर सकता है जब कि घटित-सत्य सन्देहास्पद हो। ऐसी स्थिति में पात्र-योजना का कार्य बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण हो जाता है। एक ओर तो उसे इतिहास की सीमाओं के अन्तर्गत रहना पड़ता है, दूसरी ओर पात्रों में अपनी भावना, चेतना और अनुभूति का रंग भी भरना होता है। हाँ, इतिहास के पात्रों को अपने अनुकूल प्रस्तुत करने के लिए कुछ छूट इस दृष्टि से रहती है कि घटनाओं के घटत्व में कारकीय तत्वों की कल्पना अर्थात् घटित सत्य के कारणों का संयोजन करते समय पात्र के चरित्र को परिस्थितियों, विवशताओं आदि से बांध कर प्रस्तुत किया जा सकता है। राय ने ऐसा ही किया है। यद्यपि उन्होंने इतिहास-पात्रों को घटित सत्य के साथ प्रस्तुत किया है, परन्तु उस घटना के कारणों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। अत: राय की पात्र-सृष्टि अत्यन्त प्रभावशाली एवं मौलिक हो गयी है। उनके नाटकों में अनेक पात्र अनेक रूपों में हमारे समक्ष आए हैं, फिर भी उनके वैचारिक रूपों के आधार पर उनके पात्रों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है--

---

१ द्रष्टव्य : 'मेवाड़-पतन'

२ ,, : 'नूरजहाँ'

१- भारतीय संस्कृति के प्रतीक पात्र

२- राष्ट्रीय पात्र

३- दार्शनिक पात्र

४- अभिलाषी पात्र

५- अन्य

सन् १७५७ में प्लासी की ऐतिहासिक विजय के पश्चात् बंगाल के ऊपर अंग्रेजों का पूर्ण प्रभुत्व हो गया। व्यापारियों का शासन भी व्यापार ही था। अत: अंग्रेजों ने जी खोलकर बंगाल का शोषण करना आरम्भ कर दिया। सन् १८०० में शासन-व्यवस्था के लिए बंगला-गद्य का प्रारम्भ हुआ[१]। गद्य का यह प्रारम्भ बंगला साहित्य में एक नये अध्याय की सृष्टि माना जाता है। बंगाल में अंग्रेजों की शोषण कारी व्यवस्था और शिक्षा का प्रसार साथ-साथ हुआ। बंगाल सुदूर उत्तर पश्चिम भारत की युद्धस्थली से दूर सदैव एक शान्त [illegible] अंचल रहा है। इससे पूर्व बंगालियों को दमन और शोषण के ऐसे कटु अनुभव नहीं हुए थे। अत: इस नई आपत्ति ने बंगाल में एक नई चेतना फूंक दी। यही बंगाल का नवजागरण है। इस जागरण के दो रूप थे-- एक तो शोषण के विरुद्ध जागृति का आह्वान, दूसरा भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता का उद्बोध। साहित्य में सांस्कृतिक गौरव की सृष्टि करके अनेक समाज-[illegible] ने बंगालियों को जागृति के लिए एकत्र करने का प्रयास किया। इन्हीं में [illegible]राममोहनराय, बंगाल-जागृति के अमर सेनानी थे। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में --"इस युग के जन-नेताओं में राजाराममोहन राय ने भारतीय आत्मा के स्वरूप को समझा[२]।" इसी जागृति के मूल को बंगला रंगमंच ने अपना आधार बनाया। रंगमंच की कलात्मकता के साथ जागृति के महत्त्व को संगुम्फित करने वाले [illegible] 'तर्करत्न' प्रथम नाट्यकार थे[३]। उनके पश्चात् दीनबन्धु मित्र, उमेशचन्द्र मित्र, उमाचरण चट्टोपाध्याय,

---

१ डा० सत्येन्द्र : 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : उत्तरप्रदेश', १९६१, पृ० ३७४।

२ गद्य-रचना का वास्तविक श्रीगणेश हुआ सन् १८०० से, जब फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। -- रामकुमार तिवारी : 'बंगला और उसका साहित्य : दिल्ली', प्रथम संस्करण' पृ०८४।

राधामाधव मित्र, माइकेल आदि नाटककारों ने अनेक सुन्दर एवं शिल्पपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत कीं, इसी शृंखला में गिरीशचन्द्र घोष और द्विजेन्द्रलाल राय दो महान् विभूतियों का अवतरण हुआ।

भारत प्राचीन देश है। अर्थात् युगों से जीवन को भोगने के पश्चात् मूल्यवान् तथ्यों का संग्रह यहां की संस्कृति में निहित है। इसी भारतीय संस्कृति के आधार पर सारे विश्व की सत्ता का अर्थ समझा जा सकता है। इस विश्वास को दृष्टि-पथ में रखकर राय ने अपने नाटकों में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण पात्रों की अवतारणा की, जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतीक रूप में देखा जा सकता है। इनमें स्त्री-पुरुष दोनों वर्ग के पात्र हैं। इन पात्रों की सृष्टि करते समय लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि भारतीय संस्कृति एक ऐसा शाश्वत विश्वास है जो हजारों वर्षों के कालक्रम में भी अक्षुण्ण और अडिग है। इसका कारण यह है कि जीवन के सत्य की खोज करके भारतीय मनीषियों ने संसार के रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जब कि सारा संसार चेतना-हीन स्थिति में था, तब भारत ने भीष्म जैसे व्यक्तित्व और गौतम जैसे महर्षियों को प्राप्त कर लिया था। सामर्थ्य और त्याग, राष्ट्रीयता और मानवता, मोक्ष और काम के सुन्दर समन्वय को देखकर हम कह सकते हैं कि भारत की संस्कृति में कुछ ऐसा है जो हजारों आक्रमणों के पश्चात् भी अपरिवर्तनीय है। यद्यपि इसकी कुछ कमजोरियां भी रहीं जिनके कारण इस देश को हजारों वर्षों तक पराधीन रहना पड़ा। राय ने इस तथ्य को भी खुले मन से स्वीकार किया है। लेकिन जहां तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है, वह अमर तत्वों का सौन्दर्यानुभूत संगुम्फन है। इसलिए 'मेवाड़ पतन' की मानसी हिन्दू और [illegible] भावना से परे किसी सच्चे मानव की खोज में लगी है। 'भीष्म' का व्यास और भीष्म वीरत्व और मानवता के प्रतीक हैं। 'शाहजहाँ' में दिलदार एक दार्शनिक है जो नाटक की बुराइयों, [illegible] की ओर संकेत करके सबको सद्ज्ञान देने का प्रयास करता है। इन सभी पात्रों में हमें असीम मानवता, गहरा ईश्वरीय-प्रेम, अक्षुण्ण परोपकार भावना, अदम्य साहस, आदर्श-जीवन, अतुलनीय उदारता, आदि ऐसे तत्व देखने को मिलते हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि राय का

भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम था । यहाँ की संस्कृति के विषय में यही धारणा उन्होंने विदेश से आने वाले पात्रों के द्वारा भी व्यक्त कराई है ।

द्विजेन्द्रलाल राय जहाँ उदार निस्सीमता में विश्वास व्यक्त करके भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण का संदेश अपने पात्रों के माध्यम से देते हैं । वहाँ सीमा-बद्ध राष्ट्रीय उत्थान की छटपटाहट भी उनमें है । उनके युग में सारा देश स्वतन्त्रता की महत्ता को स्वीकार करके उसकी प्राप्ति के लिए लालायित था । इस स्वतन्त्रता-प्राप्ति में जिस राष्ट्रीय आकार की आवश्यकता थी, उसका स्वरूप हमें द्विजेन्द्रलाल के पात्रों में आभासित होता है। अभ्यन्तर में एक आग थी, एक तूफान था, जो उन सभी अवांछनीय तत्वों को अपने साथ उड़ा ले जाना चाहता था, जो हमारी राष्ट्रीय एकता में बाधक थे, जैसे जातिवाद, वर्ण-रूढ़ि, ऊँच-नीच, छूत-छात आदि । सीमाओं में बंधा हुआ भारत राय के सामने था, अतः उनके नाटकों में ऐसे राष्ट्रीय -चरित्र बड़े आकर्षक रूप में प्रस्तुत किए गए जो इन सीमाओं को तोड़ने के प्रयास में लगे हैं जैसे 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य चाणक्य-मूर्ति। रोकत नाई- ए देशे राखत नाई । ए हिमानी प्रवाह । रोकत जा छिलो आमा टो के जे गिए हैं[1]।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का स्वप्न राष्ट्रीय एकता का ही स्वप्न है, इसी प्रकार जन्मभूमि के एक आकर्षक रूप को सजीव करते हुए 'सिंहल विजय' के विजय सिंह के अनुसार जन्म भूमि एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व है, उसमें अनोखा आकर्षण है[2]।

अपने 'राणाप्रताप सिंह' नाटक में नकारात्मक ढंग से उन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि भारतीय रूढ़ियों में जब तक इस देश की वीरता संकल्पशीलता, और सहनशीलता आबद्ध रहेगी तब तक यहाँ राष्ट्रीय एकता का प्रश्न ही नहीं उठता । राय का 'राणा प्रताप' असाधारण वीर, महान्

---

१ चन्द्रगुप्त : द्विजेन्द्र रचनावली, पृ० २२६, भाग १

२ द्रष्टव्य : सिंहल विजय

और धैर्यशील व्यक्ति होते हुए भी जातीयता और झूठी मर्यादा के संकुचित दायरों से घिरा है। अत: वह भारत की भूमि के लिए वीरता का आदर्श तो बन सका, लेकिन राष्ट्रीय- नेता नहीं। इस नाटक में ही नहीं, 'मेवाड़-पतन', 'दुर्गादास', नाटकों में भी उन्होंने हिन्दुओं के आबद्ध विचारों को लक्ष्य करके ऐसे पात्रों की सृष्टि की जिनमें या तो रूढ़िबद्धता है, या फिर उस रूढ़ियों को तोड़ने की अदम्य इच्छा। 'राणा प्रताप सिंह' के जोशी बाई 'राणाप्रताप सिंह' पुरोहित 'मेवाड़-पतन' की सत्यवती राष्ट्रीय चेतना के सशक्त स्वर हैं[1]। दुर्गादास जैसा कोई अन्य चरित्र राय के नाटकों में नहीं मिलता। मानवीयता, राष्ट्रीयता, उदारता और राजनीति का ऐसा चमत्कारिक समन्वय अन्यत्र नहीं मिलेगा। दुर्गादास भारत को एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में रूपायित करने के प्रयास में लगा है। वह मराठों की शक्तियों को [illegible] की मर्यादा में बांधकर भारत की खोई हुई स्वयं सत्ता को पुन: प्राप्त करना चाहता है। परन्तु उसको निराश होना पड़ता है। (कारण) हमारी आपसी फूट और जातीयता का झूठा अभिमान था[2]।

राय के '[illegible]' नाटक की [illegible]माया इसी वर्ग में रखी जा सकती है। (वह) एक आकर्षक स्त्री पात्र है जो जातीय गौरव और वीरता की पुजारिन है। इसके अतिरिक्त उसके लिए कोई सम्बन्ध मान्य नहीं। वह अपने पति को भी इस गौरव और मर्यादा के लिए त्यागने को तत्पर है। वह [illegible] का गीत सुनकर जीना चाहती है। देश का प्रशस्ति-गीत उसके [illegible] का स्पन्दन है।

राय के पात्रों में सबसे आकर्षक वह स्त्री पात्र हैं जो राष्ट्र-प्रेम की सर्वोपरि सत्ता में विश्वास करते हैं। इनमें जोशीबाई, सत्यवती, म[illegible]माया, जैसे चरित्र हैं। युगीन चेतना का यह स्वर एक और राष्ट्रीय उत्थान

---

१ द्रष्टव्य : 'राणा प्रताप सिंह'
'मेवाड़-पतन'
'[illegible]'

२ [illegible] : 'द्विजेन्द्र रचनावली १', पृ०२१४

की तीव्र अभिलाषा का फल है, दूसरी और स्त्री-उत्थान की भावना का प्रतीक है इनके अतिरिक्त भीमसिंह,समर सिंह,गोविन्दसिंह आदि ऐसे पात्र हैं, जिनका ध्येय राष्ट्र के निर्जीव अंग में प्राण फूंकना है।

राय के राष्ट्रीय चरित्रों में एक तीव्र वेग दृष्टिगोचर होता है। इन सभी पात्रों में प्रबल-प्रवाह, प्रबल -जीवन्तता और प्रबल-वीरता है। ये आंधी के प्रबल वेग से तीव्र, उदधि की तरह गम्भीर और चपला की तरह तेजस्वी है। इनमें कहीं भी दुर्बलता या निम्नता अथवा शान्त-चिन्तन का समावेश नहीं है। यही कारण है कि उनके नाटकों में जो तीव्रता है वह उनके राष्ट्रीय -भावना प्रधान पात्रों की ही तीव्रता है। राणा प्रताप,दुर्गादास, गोविन्द सिंह , सत्यवती और चाणक्य में कहीं भी मैदानी नदी का सौम्य प्रवाह नहीं है, वरन् उसमें एक अलौकिक वेग है, जो उत्तुंग शिखर से बहती हुई तीव्र धारा में होता है। इन पात्रों की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि ये सभी पात्र त्याग और निर्लिप्तता से अलंकृत हैं। इनमें संग्रह की अपूर्व शक्ति है परन्तु त्याग की अपूर्व उदारता भी है। इस प्रकार राय ने राष्ट्रीय पात्रों में भारतीय संस्कृति की महानता भी कलात्मकता से गूंथ दी है, जिससे ये पात्र और भी आकर्षक हो गए हैं।

यद्यपि राय के कथित राष्ट्रीय पात्र ऐतिहासिक हैं फिर भी उनमें लेखक की युगीन चेतना का रूप देखा जा सकता है। राय के नाटकों से इस सत्य का अनुमान लगाया जा सकता है कि वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता , राष्ट्रीय [illegible] और राष्ट्रीय एकता के लिए कितने लालायित थे।

राय के ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्र की राजनीतिक एकता पर अधिक बल दिया गया है और सामाजिक नाटकों में राष्ट्र की सामाजिक स्थिति का निरूपण करके लेखक ने अनेक सामाजिक कुरीतियों पर करारा प्रहार किया है। 'बंगनारी' ,'परपारे' नाटकों में नारी सम्बन्धी अनेक समस्याओं को उठाकर समाज-सुधार की आवश्यकता पर बल दिया।

साहित्य सदैव अपनी समस्त विधाओं में मानव की खोज करता रहा है। काल-सापेक्षता के कारण जीवन का अर्थ भी परिवर्तित होता रहता है। अत: साहित्य में भी जीवन का काल सापेक्ष अर्थ ध्वनित होता है। रचनाकारों ने अपने अनुभवों और विचारों के आधार पर इस खोज का प्रयास किया है। राय के नाटकों में भी मूल रूप से सात्विक जीवन की खोज का प्रयास देखा जा सकता है। अपने नाटकों में पात्रों का संयोजन करते समय उन्होंने जिस सत्य-भूमि की खोज की, वह उनके आध्यात्मिक और दार्शनिक पात्रों में देखी जा सकती है। हम जानते हैं कि साम्राज्य तलवारों की नोक से स्थापित किए जाते हैं और शक्ति प्रशासन का आधार होती है। लेकिन इन सब का प्रयास जीवन के सत्य की भूमि पर खड़ा करना ही है। मानव-जीवन का एक आन्तरिक प्रदेश होता है। उसका साम्राज्य बड़ा टेढ़ा एवं दुरूह है। जो साम्राज्य को जीत लेता है, वही पूर्ण मानव की परिभाषा के अन्तर्गत आता है। इस भावधारा को दृष्टि-पथ में रखकर राय ने अपने नाटकों में दो तरह के पात्रों की सफल सृष्टि की-- एक तो वे पात्र जो शक्ति और सत्ता के अधिकार से अलंकृत होकर भी अन्दर से कुरूप हैं। आंतरिक शान्ति के लिए इनमें एक छटपटाहट है। जैसे अकबर, जहांगीर, औरंगजेब, जसिंह, नूरजहां, रम्भा जी, कुवेणी, [illegible] शाल्व, यशेश्वर आदि। इन पात्रों में से अधिकतर ऐतिहासिक हैं। जो वैभव और ऐश्वर्य से घिरे होकर भी अधूरे हैं। इसका कारण है कि इन पात्रों ने साधन प्राप्त करके भी साध्य खो दिया है। इसके विप[illegible]त लेखक के नाटकों में ऐसे पात्रों की अवतारणा भी हुई है जो इस अधूरेपन को पूर्ण करते हैं, जैसे चाणक्य, पितधार, केका, रेवा, ऐलन, मीराबाई, गौतम, मानसी, [illegible], भीष्म, सरयू, चिरंजीव, मेहरुन्निसां, कासिम, खिजरखां, सीता, प्यारा, उत्पलवर्णा, माधव, आदि। ये सभी पात्र अपने जीवन में पूर्ण आदर्श हैं। इनमें सात्विक मान्यताओं को लेकर जीने मरने वाली मीराबाई, महामाया, मानसी, सरयू, मेहरुन्निसां और सीता [illegible] तथा भीष्म, गौतम, कुलदास, कासिम और खिजरखां [illegible] हैं। संसार की बड़ी से बड़ी आस्था भी इन अकिंचन पात्रों के लिए नगण्य है। कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो जीवन का दार्शनिक अर्थ [illegible] करते हैं. परन्तु उसको हास्य के वासन्ती रंग में डुबोकर साधारण-साध्य

बना देते हैं। हँसी-हँसी में जीवन के सत्य को व्याख्यायित करने वाला दिलदार एक बहुत बड़ा दार्शनिक है। इसी प्रकार पियारा भी केवल हार्दिक आनन्द को ही सच्चाई मानती है। लैला यद्यपि हास्य पात्र नहीं है, फिर भी उसका एक जीवन-दर्शन है जो बिखरी हुई नूरजहां को समेटने का एक प्रयास है। राय के दार्शनिक उत्पल वर्णा, माधव, चिरंजीव आदि पात्र इसलिए हास्य के माध्यम से जीवन की गहरी दार्शनिक व्याख्या कैसे करते हैं, उसका उत्तर यही है कि जो व्यक्ति स्वार्थ हित में लीन सदैव चिन्ताओं में डूबा रहता है, वह जीवन को समझे बिना ही दुनिया से चला जाता है। और जो जीवन का अर्थ समझ गया उसे उदास होने की आवश्यकता ही क्या है? उदाहरण रूप में एक[1] ओर नूरजहां का असंतुलित आत्मचिन्तन है तो दूसरी ओर लैला का मुक्त आत्मदर्शन[2]। इसी प्रकार जहाँ अहिल्या अपने रूप-यौवन की गरिमा का मूल्य चाहती है[3] वहीं गौतम बड़े से बड़े मूल्य की उपेक्षा कर भूत-कल्याण की चिन्ता करता है[4]।

राय के आदर्श, दार्शनिक और आ[illegible] पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका चिन्तन अत्यन्त सहज है। भारतीय-चिन्ता-धारा के अनुसार इन सब के पास जीवन एक अनुपम वस्तु है जो प्रेम, सेवा, सहयोग, परोपकार, और त्याग का साधन एवं साध्य है। भीष्म, व्यास, चाणक्य, रेवा, छाया, मानसी, गौतम, [illegible], सीता — सभी पात्र महत् मूल्यों के लिए भौतिक मूल्यों का सहज त्याग करते हैं। लेखक के नाटकों में ऐसे ही अनेक काल्पनिक पात्रों की सृष्टि हुई है। जैसे दिलदार, पियारा, मानसी, माधव, उत्पल वर्णा आदि।

---

१ नूरजहां-- "जेखाने विवेक सद् बेहि, सेखाने साध किबा सॉकोच हृदय थेके दूर होकू। जेखानें साम्राज्ञी हई ही, राजत्व करबो।", पृ० १०६

२ लैला -- "ठीक विश्वास मय ना ये आधार मा....", पृ० १७७
   -- 'नूरजहां': द्विजेन्द्र रचनावली-२।

३ [illegible]-- "ऐश्वर्य गौरव ए रूप, ए यौवन, जीवन?", पृ० ४

४ गौ०-- (अ) "[illegible] साधु के [illegible] ओरा धर्म नय।", पृ० २१
   --'[illegible]': द्विजेन्द्र रचनावली१

इतिहास से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि संसार की अनेक महान घटनाएं इसलिए घटती हैं कि कुछ लोग अत्यन्त [illegible] होते हैं। वे अपनी अभिलाषा की आग में जलते रहते हैं, जब तक कि उनका साध्य प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वे इसी चिन्ता में डूबे रहते हैं कि कैसे उनकी मनोकामना पूरी हो इस प्रकार के पात्रों में अच्छे और बुरे कार्यों का एक ही मापदण्ड होता है--'स्वार्थ'। अतः दूसरों की मान्यताओं, इच्छाओं, भावनाओं का इनके लिए कोई मूल्य नहीं होता। इस प्रकार के पात्रों के ऊपर इतिहास बहुत अधिक निर्भर करता है। अपने [illegible] में राय ने ऐसे अनेक पात्रों की सृष्टि की जैसे 'राणा प्रताप सिंह' में शक्ति किसी अनिश्चित दिशा में खो जाने के लिए धूमकेतु की तरह चमक कर रह जाता है। 'नूरजहां' नाटक की नूरजहां एक युग का अपनी [illegible] का इतिहास बनादेती है। औरंगजेब, बादशाहत की प्राप्ति के लिए अनेक जघन्य घटनाओं का नियामक बनता है।[1] लेखक 'पाषाणी' में अहिल्या, 'दुर्गादास' में गुलनार, तथा शम्भा जी 'भीष्म' में सत्यवती, शाल्व आदि काम और विलास की उद्दाम इच्छाओं के भंवर में पड़कर अनिर्णीत दिशाओं में भटकते दीख पड़ते हैं। ये सभी पात्र अपनी सीमाओं में भंवर समाप्त हो जाते हैं। इन में ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों ही प्रकार के पात्र हैं। इन पात्रों में आंधी का-सा दिशाहीन प्रवाह है। बिजली जैसी अर्थहीन दीप्ति है। बादलों जैसी भयंकर गर्जना और सागर के [illegible] जैसी क्षुब्ध तीव्रता है। यदि हम ध्यान से इस बात को स्वीकार करें कि गति नाटकों का एक आवश्यक धर्म है तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि राय के नाटकों में इस वर्ग के पात्रों की ही गति है। यद्यपि ये पात्र नाटकों के आधार नहीं, फिर भी इनसे व्युत्पन्न संघर्ष की स्थिति से ही उनमें नाटकीय और [illegible] का समावेश होता है।

द्विजेन्द्रलाल अपने युग के समस्त सम्भावनाओं के महानैं कवि माने जाते हैं। अतः यह नितान्त स्वाभाविक है, कि उनकी भावधारा के [illegible] रूप में अनेक भावुक पात्रों की सृष्टि होती। हम उनके नाटकों में जिस व्यवस्था को पाते हैं, उसमें आन्तरिकता पर विशेष बल दिया गया है। बाह्य जगत के सौन्दर्य की अपूर्णता तब तक बनी रहती है, जब तक अन्तर्जगत का सौन्दर्य निर्मित

---

१ दुर्गादास : [illegible]

नहीं हो जाता । राय ने इसी सत्य को स्वीकार कर अपने नाटकों का सृजन किया है । पात्र-योजना में उनका प्रयास सर्वत्र यह रहा है कि ऐतिहासिक पात्रों का स्वाभाविक अवतरण हो सके । परन्तु इस दायरे में बंधकर उनका कथ्य अधूरा ही रह जाता है, इसलिए उन्होंने कुछ ऐसे काल्पनिक पात्रों की अवतारणा की जिनके माध्यम से वे अपनी कोमल भावनाओं का प्रसार कर सके । कभी-कभी किसी ऐतिहासिक पात्र को ही स्वीकार करके उन्होंने उसमें अपनी भावात्मक कोमलता भरी है लेकिन ऐसा उसी स्थिति में किया जब कि उक्त पात्र के विषय में इतिहास मौन हो । जैसे शहर यार[1], मेहरउन्निसां[2], हेलन[3], शेरखां[4], सादिजा, अम्बा[5] के विषय में इतिहास कुछ नहीं कहता । इसके साथ ही काव्य-अनुभूति से अनुप्राणित काल्पनिक चरित्रों में छाया, सुवेणी, रजिया, मानसी, ऊंला, पियारा, हीरा, आदि आकर्षक पात्र हैं । इनके विषय में अधिक न कहकर इतना पर्याप्त होगा कि ये भावनाओं के सागर पर तिरती हुई धूमिल तरियों की तरह किनारे के सत्य से दूर कल्पना के लोक में विचरण करने वाले हैं । अतः इनका एक-एक वाक्य इस संसार की अर्थहीन अवंचना को झुठलाकर मानसिक शान्ति प्रदान करता है ।

राय के नाटकों में अनेक अच्छी-बुरी घटनाओं का कलात्मक संचयन है । इन सभी घटनाओं के नियामक अच्छे एवं बुरे पात्र हैं । उनके नाटकों में अच्छे पात्रों के प्रति तो हृदय में एक श्रद्धात्मक भावना का उदय होता है साथ ही बुरे पात्र के प्रति भी न जाने क्यों बहुत बुरा (तीव्र) भाव उत्पन्न नहीं होता । राय केकयर, जहांगीर, औरंगजेब, महाबतखां, नूरजहां, गुलनार, सम्भा जी जैसे पात्रों के प्रति भी मन में एक प्रकार का आकर्षण होता है । इसका क्या कारण है कि जो पात्र दुःखद घटना के कारण हैं, उसके प्रति भी विपरीत भाव ही मन में आते हैं ? इस प्रश्न के सन्दर्भ में द्विजेन्द्र के पात्रों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते

---

१ द्रष्टव्य : नूरजहां

२ ,, : 'राणा प्रताप सिंह'

३ चन्द्रगुप्त : 'द्विजेन्द्र रचनावली' २

है कि उनके नाटकों में एक आंधी आती है और उस आंधी में उनके पात्र अपनी अचेतन भावनाओं के हाथों घृणा, पीड़ा, प्रेम, बलिदान, के तीव्र प्रवाह में बहते हुए दीख पड़ते हैं। धार में बहता हुआ कोई-कोई पात्र कभी किनारे के लिए बाँहें फैलाता है और चीखता चिल्लाता। आत्मविश्लेषण करता है।[1] परन्तु वह कुछ नहीं कर पाता और किसी अज्ञात महाशक्ति के हाथों अशक्त पात्र सब कुछ खोकर चला जाता है। वह पात्र नियति के हाथों में पड़कर अच्छा या बुरा बन जाता है। नूरजहाँ जिन स्थितियों से बचना चाहती है, उन्हीं में पड़ जाती है[2]। औरंगजेब जो नहीं करना चाहता वही उसके हाथों से हो जाता है। मेहरुन्निसा जो चाहती है वह कभी नहीं कर पाती है और अन्त में शक्तिसिंह के प्रति प्रेम की एक मौन भावना को लेकर वह मर जाती है[3]। समाज में अनुचित कार्य करने वाले व्यक्ति को हमेशा बुरा मान लेना उचित नहीं होता, क्योंकि घटनाओं के संघटन में व्यक्ति ही प्रधान नहीं होता, वरन् परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण होती हैं। अपने पात्रों को ~~[illegible]~~ शक्तिशाली परिस्थितियों के हाथों में डालकर राय ने भाग्य और संयोग को बहुत अधिक महत्व दिया है।

पात्र-योजना का राय का अपना ही ढंग है वे ऐसे पात्रों को अनोखी घटनाओं में डालकर व्यवस्थापित करते हैं जिनको प्रेक्षक हृदय थाम देखता रह जाता है। चरित्र के थोड़े से ढीलेपन से सारे नाटक का कथानक इधर उधर हो सकता है। 'दुर्गादास' में कासिम के भरोसे पर युवराज अजित सिंह को छोड़ना। तथा राणा प्रतापसिंह नाटक में रज़िया का राणा के यहाँ आना। तथा शाहजहाँ में गुजरात के नवाब (औरंगजेब के ससुर) का दारा के लिए औरंगजेब से युद्ध करना आदि घटनाएं ऐसी हैं, जिनके बीच से कुछ अनोखे चरित्र उभर कर सामने आते हैं।

---

१ द्रष्टव्य : नूरजहाँ

२ ,, : शाहजहाँ

३ ,, : राणा प्रताप सिंह

मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए मानवीय सम्बन्धों को तुच्छ सिद्ध करके राय ने अपने चरित्रों में अपरिमित आकर्षण भर दिया । जैसे गान्धारी, शाहनवाज और मोहम्मद शाहजहां आदि चरित्रों के प्रति हमारा मन उदारता से भर जाता है ।

भावात्मक परिवर्तन का घटत्व भी राय के पात्रों में देखा जाता है । घोर अपराधों और कुविचारों में जीने के वाले पात्र में भी मद् [illegible] की सम्भावना रहती है । उनके नाटकों में जब कोई पात्र अपराध की चरम स्थिति में पहुंच जाता है तो किसी प्रभावशाली घटना के कारण वह अपने अन्दर एक परिवर्तन का आग्रह अनुभव करता है । ऐसा करने में अस्वाभाविकता का दोष आने की आशंका रहती है । परन्तु राय की चरित्र-संयोजन शक्ति के कारण नाटकों में ऐसा परिवर्तन किसी स्वाभाविक स्थिति पर ही आधारित होता है । जहां प्रेक्षक को भी यह लगने लगता है कि बहुत हो गया अब एक परिवर्तन की आवश्यकता है।[1] बंगनारी में उपेन्द्र का परिवर्तन तथा परपार में महिमारंजन का परिवर्तन इसी प्रकार की आवश्यकता का स्वाभाविक परिणाम है । इस प्रकार का परिवर्तन भावनाओं, विचारों और परिस्थितियों के कारण बड़े उचित अवसर पर होता है जो राय के नाटकों को अस्वाभाविक नहीं होने देता ।

चरित्र-प्रस्तुति के लिए द्विजेन्द्र ने कभी-कभी दो विमुख पात्रों को एक साथ प्रस्तुत किया है जैसे बंगनारी में ~~कभि-कभी-दो-कि~~ उपेन्द्र और देवेन्द्र । नरेन्द्र एवं विनय तथा केदार एवं सदानन्द । दुर्गादास में दुर्गादास और औरंगजेब, अजीत सिंह और कासिम आदि । दो विरोधी भावधारा के पात्रों के एक साथ रखने के कारण प्रेक्षक को दोनों [illegible] के विषय में अपनी स्पष्ट धारणाएं बनाने का अवसर मिलता है । साथ ही [illegible] के कारण उच्च पात्रों का सुन्दर विकास भी होता है ।

---

१ भीष्म

निष्कर्ष

'प्रसाद' और राय के नाटकों में पात्रों की दृष्टि से अभूतपूर्व समता है। इसका कारण यह है कि दोनों लेखकों का युग-परिवेश लगभग समान रहा था। सांस्कृतिक,सामाजिक और राजनीतिक पुनरुत्थान के काल में दोनों लेखकों के विचार-दर्शन का निर्माण हुआ। लेकिन फिर भी दोनों की दृष्टियों में अन्तर है। 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास के उत्थान-काल को स्वीकार करके यहाँ की संस्कृति की उच्च भूमि का निरूपण किया। राय ने भारतीय संस्कृति के पतन-काल को लेकर भारतीय संस्कृति में आई विकृतियों की ओर संकेत किया। ये दो रास्ते भिन्न होते हुए भी उद्देश्य में एक ही हैं। इन्हीं भिन्न दृष्टिकोणों के कारण दोनों लेखकों की पात्र-योजना में भी थोड़ा अन्तराल आगया है।

राय और प्रसाद दोनों के नाटकों में दार्शनिक,राष्ट्रीय आध्यात्मिक अभिलाषाओं,पात्रों की सृष्टि हुई है। दोनों लेखकों की पात्र-योजना में 'प्रसाद' का दृष्टिकोण कुछ अधिक भावुक एवं चिन्तन प्रधान है। अत:उनके पात्र कुछ अधिक स्थिर एवं भावुक हो जाते हैं। उनके पात्रों में आन्तरिक सत्ता के प्रति अधिक चेतना है। अत: बाह्य पदार्थता के प्रति वे कुछ उदासीन से दीख पड़ते हैं जब कि राय की दृष्टि बाह्य सत्ता के साथ आन्तरिक सत्ता का सामंजस्य करके चलती है। अत: उनके पात्र घटनाओं के परिणामों में बनते-बिगड़ते हैं। उनकी सक्रियता तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। संघर्ष - रत पात्रों का चिन्तन एकान्तिक या दार्शनिक न होकर पदार्थवादी है। अत: राय के पात्र कुछ स्थूल हो गए हैं।

राय पात्रों के प्रस्तुतीकरण में प्राय: विभिन्न प्रवृत्ति के दो पात्रों को एक साथ प्रस्तुत करते हैं। जैसे नूरजहाँ[1] के साथ लैला और दुर्गादास के साथ गुलनार[2]। इस प्रकार की पद्धति पात्र योजना की बड़ी सीधी और सपाट है क्योंकि अच्छे या बुरे पात्रों को प्रस्तुत करने का यह एक सरल ढंग है। 'प्रसाद' के नाटकों में भी इस प्रकार की योजना है, लेकिन उन्होंने इस योजना के अन्तर्मन से

१ द्रष्टव्य : नूरजहाँ
२ ,, : गान्धारी

स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार बुरे पात्र को प्रस्तुत किए बिना भी अच्छे पात्र की प्रस्तुती की जा सकती है जैसे कार्नेलिया, अलका, देवसेना आदि।

नाटकों में ऐतिहासिक कालों की भिन्नता के कारण राय और 'प्रसाद' की पात्र-योजना में एक यह भी अन्तर आगया है कि राय के पात्रों में जीवन-शक्ति की पर्याप्तता है, लेकिन जीवन- दृष्टि का अभाव है। उनके नाटकों के महान् ऐतिहासिक पात्र भी अपनी संकुचित दृष्टि के कारण प्राय: अ असफल ही रह जाते हैं। उनका राणा प्रताप, दुर्गादास, शाहजहाँ, राणा अमर सिंह, नूरजहाँ औरंगजेब आदि पात्र असफल ही कहे जायेंगे। इसका कारण यह है कि मुगल काल तक भारतीय संस्कृति में यथेष्ट परिवर्तन हो गए थे। इन परिवर्तनों के कारण अनेक इतिहास पुरुष भी संकुचित दृष्टि से जीते थे। अत: उनकी असफलता स्वाभाविक थी। 'प्रसाद' ने भारत के स्वर्ण काल को अपने नाटकों का आधार बनाया है। अत: स्वाभाविक रूप से उनके पास ऐसे पात्र हैं जो पूरी तरह भारतीय संस्कृति की सक्रियता के प्रतीक हैं। उनमें संस्कृति के उत्तम तत्वों का अस्तित्व है। उनकी सफलता और असफलता के बीच सन्तुलन है। बाह्य आक्रमणों के समय इन पात्रों में जो प्रतिबद्धता देखी जाती है, वह भारतीय संस्कृति का सक्रिय पक्ष ही है। 'प्रसाद' के पात्रों में भौतिक असफलता बहुत कम है। उनका चन्द्रगुप्त, चाणक्य, स्कन्दगुप्त, अजात, जनमेजय, विशाख, देवसेना, मालविका, अलका आदि पात्र प्रसादीय दृष्टि से सफल कहे जायेंगे।

कोई पात्र किस दृष्टि से सफल और असफल कहा जा सकता है, इस दृष्टि से 'प्रसाद' और राय के पात्रों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण तथ्य है। 'प्रसाद'[1] के नाटकों के अनेक पात्र भौतिक दृष्टि से असफल ही कहे जायेंगे, जैसे चाणक्य,[2] स्कन्दगुप्त, मालविका, सुवासिनी आदि। लेकिन 'प्रसाद' के अनुसार सफलता प्राप्य में नहीं प्राप्य के लिए अन्तर्मन से संलग्न रहने में है। इसीलिए उनकी देवसेना प्राप्य के अप्रापण में भी पूर्ण सफल है।[3] इस सन्दर्भ में रस्य की दृष्टि

१ द्रष्टव्य : चन्द्रगुप्त
२ ,, : स्कन्दगुप्त
३ ,, : स्कन्दगुप्त

भिन्न है। आन्तरिक संघर्ष की स्थिति उनके पात्रों में 'प्रसाद' की तरह ही है। परन्तु इस आन्तरिकता का बाह्य सन्दर्भों से बहुत गहरा सम्बन्ध है। राय के पात्रों की सफलता और असफलता बहुत कुछ बाह्य घटनाओं पर निर्भर करती है।

इस प्रकार कुछ विभिन्नताओं के होते हुए भी यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' और राय अपने उद्देश्यों की समानता के कारण पात्र-योजना में भी समान हैं। उनके अनेक पात्र एक-दूसरे से मिलते हैं[१]। इसका अर्थ यह नहीं कि 'प्रसाद' ने राय को सामने रखकर पात्रों की सृष्टि की, वरन् दोनों की वैचारिक समानता के कारण यह समानता अनायास ही आ गई है।

-0-

---

१ द्रष्टव्य : 'प्रसाद' का चन्द्रगुप्त तथा राय का चन्द्रगुप्त 'प्रसाद' का सिंहरण और राय का गोविन्द सिंह। 'प्रसाद' की देवसेना और राय की मानसी।

परिच्छेद - ७ -

रस

- रस
- 'प्रसाद' के नाटकों में रस
- राय के नाटकों में रस
- निष्कर्ष

'नाटक म के औचित्यपूर्ण संयोजन से ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है ।'

परिच्छेद -- ७

रस

नाट्य-उद्देश्य को लेकर पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों में पर्याप्त भेद है । पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के रस तत्व को स्वीकार नहीं किया । फिर भी उन्होंने काव्य प्रयोजन (नाट्य-उद्देश्य) को दो रूपों में अंगीकार किया है-- (१) शिक्षा, (२) आनन्द[1] । काव्य के उपर्युक्त दो प्रयोजन मूल में एक ही हैं । ज्ञान का उद्देश्य भी आनन्द में निहित है । अरस्तू ने इसे अनुकरणजन्य आनन्द कहा है[2] । नाटक में इसकी स्थिति को स्वीकार कर लेने के पश्चात् इस साधन का प्रश्न शेष रह जाता है । इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक की प्रभावान्विति को महत्व दिया है । नाटक के औचित्य-पूर्ण संयोजन से ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है । इस तथ्य को स्वीकार करना होगा,क्योंकि नाटक के सभी तत्वों में उचित सामंजस्य के अभाव में उसका सम्पूर्ण प्रभाव समाप्त हो जायगा ।

नाटक के प्रयोजन को रस और आनन्द के रूप में मान लेने पर कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि नाटक की प्रभावात्मकता रस के आस्वाद के रूप में होती है ,जो आनन्दकारी होती है । अतः[3] भारतीय और पाश्चात्य मत काव्य(नाट्य) प्रयोजन के विषय में अभिन्न हैं ।

---

१ डा० नगेन्द्र :'अरस्तू का काव्यशास्त्र ,प्रयाग,१९६६,पृ०३५

२ अरस्तू :'काव्यशास्त्र : अनुवाद' -- डा० नगेन्द्र,प्रयाग,१९६६,पृ०१०

३ डा० नगेन्द्र : 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' ,प्रयाग,१९६६,पृ०३८ ।

रस को मानस व्यापार मानते हुए भरत ने सिद्ध किया है कि नाट्य दृश्य काव्य होने के कारण अधिक आस्वाद्य (आनन्ददायक) होता है। वास्तविक जीवन में सुख-दु:ख अलग-अलग दो विपरीत स्थितियाँ हैं। परन्तु नाटक में मन जब इस भौतिक अनुभूति से परे कवि-निबद्ध संवेदना को अनुभूत करता है तो उसे आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है, इसके लिए वह नट से एकात्म हो जाता है। इसी के साथ यह भी यथार्थ है कि नट भी 'स्व-भाव' को छोड़कर 'पर-भाव' को ग्रहण करता है, वह अभिव्यक्ति के स्तर पर आता है। और इस प्रकार सहृदय का मन काव्य और नट में एकाकार हो जाता है। इस प्रकार रस की उत्पत्ति में कवि,नट और उनका नाट्य व्यापार साधन हैं। निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि रसानुभूति(निष्पत्ति) के लिए सामाजिक का नट, और नट का कवि से तादात्म्य होना आवश्यक है। मानस-रस की तुलना भरत ने लौकिक रस से की है। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों से अन्न का भोक्ता व्यक्ति रसों का आस्वादन करता है। उसी प्रकार विभावों, अनुभावों और संचारी भावों के कारण सामाजिक को नाट्य-रस का आस्वादन होता है। यह परम आनन्द स्वरूप होता है। चूंकि काव्य-रस में लौकिकता का तत्व नहीं होता, अत: यह प्रत्येक स्थिति में आत्मा की मुक्त अवस्था में आस्वाद्य होता है। इसलिए सुखात्मक ही कहा जायगा।

स्थायीभावों को रसों का आधार माना जाता है। अत: स्थायी भावों की संख्या के आधार पर ही रसों की संख्या का निर्धारण भी समीचीन होगा। विद्वानों में स्थायी भावों की संख्या के विषय में मतभेद हैं। भरत ने चार मूल भावों के आधार पर चार मुख्य रस माने हैं— शृंगार,वीर,रौद्र, और बीभत्स[१]। इन्हीं मुख्य रसों से चार गौण रसों की उत्पत्ति होती है जो क्रमश: इस प्रकार है— हास्य,अद्भुत,करुण,भयानक। 'भरत' के प्रतिपादित

---

१ सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : 'भरत और [illegible]', दिल्ली, १६७०, पृ० २४०

रसों से रसों की इसउत्पत्ति का विरोध बड़े सबल तर्कों के आधार पर किया गया गया और उपरोक्त सभी रसों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई । शान्त रस को भी विद्वानों ने नवां उस स्वीकार किया है[१]। निवृत्तिमूलक होने के कारण उसका सम्बन्ध कार्य-व्यापार , या संघर्ष आदि से नहीं है,इसलिए नाटक में इस रस की कुछ विद्वानों ने स्वीकृति नहीं दी । इस परम्परा में भट्ट लौल्लट ,धनन्जय,मम्मट,आदि आचार्य हैं । परन्तु मानव के चार पुरुषार्थों-- अर्थ,काम,मोक्ष,धर्म में मोक्ष मुख्य है । अत: इस पुरुषार्थ के साधक शम भाव को प्रणीतकरने वाले 'शान्त रस' को नकारा नहीं जा सकता । यहीं'शम' स्थायी भाव कवि और पात्र की व्यापारिकता से आस्वाद्यता प्राप्त करके रसत्व की स्थिति को प्राप्त करता है । अत: अभिनव गुप्त,रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय तथा विश्वनाथ आदि ने भी शान्तरस की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है[२]।

रस क्या है ? इस प्रश्न के पश्चात् इस सन्दर्भ में यह तथ्य शेष रह जाता है कि रस की स्थिति कवि में होती है या नट में अथवा प्रेक्षक में रस की आस्वाद्यता का भोक्ता कौन होता है । इस विषय में भरत का स्पष्ट मत है कि नाट्य रस का आस्वादन प्रेक्षक करता है । भरत के विचारानुसार अन्य कोई रस का आस्वादन नहीं करता[३] । इस सम्बन्ध में भरत के परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने स्वतन्त्र मत स्थापित किए हैं ।'अभिनवगुप्त' ने पात्र को एक साधन माना है ,अत: उससे रस की आस्वाद्यता का कोई सम्बन्ध नहीं,इस मत के प्रतिपादन में उन्होंने साधन और साध्य की धारणा को व्यक्त करते हुए

---

१ द्रष्टव्य --'दशरूपक', काव्यप्रकाश ।

२ एतावन्त एव रसा इत्युक्तं पूर्वं तेनानंत्येऽपि पार्षद् प्रसिद्ध्या, एतावतां प्रयोज्यत्वं यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपापरामृश्यैत्यलम् ।
-- अभिनव भारती,भाग१,पृ०२६८

३'आस्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।'
-- नाट्य-शास्त्र ,भाग१,(गा०औ०सी०),पृ०२८८ ।

कहा है कि साधनों का महत्व साध्य की प्राप्ति में कम नहीं है, फिर भी साधन-साध्य की श्रेणी प्राप्त नहीं कर सकते । जैसे पात्र में मद्य के आस्वादन की क्षमता नहीं होती, वह तो केवल मद्यप में ही होती है । पात्र तो मद्यप के मद्यपान का माध्यम मात्र है । इसी प्रकार नट पात्र है और प्रेक्षक उस नट की प्रस्तुति का रसास्वादक है । लेकिन भट्ट लोल्लट ने भरत के सूत्र का आधार लेकर अपने मत को स्पष्ट करते हुए अनुकार्य(राम आदि) और अनुकर्ता(नट) में भी रस का आस्वादन स्वीकार किया है । आगे चलकर धनन्जय ने भी भट्टलोल्लट की धारणा का समर्थन करते हुए नट की रस-आस्वाद्यता में विश्वास व्यक्त किया है । इस योग्यता के अभाव में कोई भी रसहीन अनुकर्ता किसी पात्र की प्रस्तुति को सफल नहीं बना सकता, क्योंकि बिना सहृदयता के सफल अभिनय नहीं हो सकता । अनेक मतों के मध्य भी एक बिन्दु पर सब की पूर्ण सहमति है कि प्रेक्षक रसास्वादक होता है । अत: नाटकों में रस-दृष्टि की सफलता और असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सृजक प्रेक्षक के स्थाई भावों को कहां तक छू सका है ।

'प्रसाद' के नाटकों में रस

'प्रसाद' ने नाटक की आत्मा के रूप में रस को स्वीकार किया है । रसवाद की पूर्णता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, " रसदशा में वासनात्मक तथा स्थित मनोवृत्तियां, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है ।..... सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते हैं ।"[1] 'प्रसाद' ने रस को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है, जहां सारे विकल्प एकनिष्ठ होकर केवल आस्वाद्य मात्र रह जाते हैं, उनकी स्थूलता समाप्त हो जाती है । अत: उन्होंने रसको अनुभूत सत्य माना है । यह रस कुतूहल शान्ति के लिए चिरवानन्द

---

1 जयशंकर 'प्रसाद' :"काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध",प्रयाग,१९६६,पृ०८५

के अनुभावन के लिए माना जाता है ।'प्रसाद' ने भी स्पष्टत: इस बात की ओर-संकेत किया है --'आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्व-साधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य रसों की उद्भावना की थी । हां, भारत में नाट्य-प्रयोग केवल कुतूहल शान्ति के लिए ही नहीं था[1] ।'

'प्रसाद' के नाटकों में जिस रसात्मकता का बोध होता है, वह उनकी काव्यात्मक दार्शनिकता और सौन्दर्य-दृष्टि का ही परिणाम है । जीवन के विविध रंगों का सूक्ष्मावलोकन 'प्रसाद' ने किया था । सुख-दु:ख के अनेक उतार-चढ़ाव उन्होंने देखे थे । इन सन्दर्भों के बीच चिन्तन के माध्यम से उन्होंने जीवन की सत्यता खोजने का प्रयास किया था । इसलिए जीवन-सत्य की खोज में संलग्न उनका भावुक मन रहस्यवादी हो गया था । उन्होंने कहा कि जीवन का उद्देश्य है समरसता को प्राप्त करना । यह समरसता विकल्पहीन स्थिति है । जब मानव-मन संकल्पात्मक अनुभूति में लीन हो जाता है तो उसे सच्चे और [illegible] आनन्द की प्राप्ति होती है । अनुभूति की यही अलौकिकता रस का मूलतत्व है । इसी को ब्रह्मानन्द या ब्रह्म सहोदर कहा गया है । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' ने रस को अनुभूति की विकल्पहीन स्थिति के रूप में स्वीकार किया है ।

जिस प्रकार आत्मा की स्थिति के बिना शरीर की चेतनता और विशालता का कोई अर्थ नहीं होता, उसी प्रकार नाट्य-आत्मा (रस) के बिना नाट्य शरीर (वस्तु एवं चरित्र) का कोई मूल्य नहीं हो सकता ।' 'प्रसाद' इसी मूल धारणा के पोषक हैं । भावों के आत्म चैतन्य में विश्रान्त हो जाने को ही वे आस्वाद मानते हैं[2] । वास्तव में 'प्रसाद' के अनुसार नाट्य में

---

१ जयशंकर प्रसाद :'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', प्रयाग, १९६६, पृ०७०

२ ,, ,, ,, ,, पृ०८०

वस्तु,चरित्र,भाव,संवाद आदि के सामंजस्य से उत्पन्न आनन्दमयी आस्वाद्यता को ही रस कहते हैं । उपरोक्त सभी तत्वों का उद्देश्य केन्द्रित होकर रस कहलाता है । 'प्रसाद' ने अनेक धर्मों ,दर्शनों और चिन्तकों का अध्ययन किया था । इस अध्ययन का एकात्म प्रभाव 'प्रसाद' पर यही पड़ा कि जीवन कीसमस्तता और समग्रता का तात्पर्य मुक्ति(आनन्द) पा लेना । जीवन की समस्त क्रियाओं का समाहार अनन्त में ही होता है । दर्शन की इस शुष्क व्याख्या को काव्य की भूमि पर रसात्मक कहा जा सकता है । जब हम रस की दृष्टि से प्रसाद के नाट्य-साहित्य का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि उनके अनुसार वीर,करुण,शृंगार, वीभत्स आदि समस्त रसों का उद्देश्य शान्त रस की प्राप्ति है । अत: उनके नाटकों के केन्द्र में इसी एक रस के अस्तित्व को अनुभव किया जा सकता है । इसीलिए 'प्रसाद' के समस्त नाटकों में समस्त क्रियाओं का आदि और अन्त उन आध्यात्मिक शक्तियों में है जो समस्त [illegible] की धुरी के रूप में स्थित है । जैसे 'राज्यश्री' में दिवाकर मित्र, 'अजातशत्रु' में बुद्ध, 'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन , 'विशाख' में प्रेमानन्द ।

कुछ विद्वानों ने 'प्रसाद' के नाटकों के आधार पर यह कहा है कि उनका रस निर्णय अस्पष्ट है । उनके नाटकों में अनेक रसों का क्रमिक समाहार मिलता है । कभी एक रस का संकेत भर रहता है, तो कभी एक रस का पोषण नहीं हो पाता कि दूसरा आ जाता है । इस प्रकार की [illegible] के आधार पर यह कहा जाना कि 'प्रसाद' के नाटकों में किसी एक सुनिश्चित रस की स्थिति नहीं है,उपयुक्त ही है,उनपर यह आरोप इसलिए लगाया गया कि उनके नाटकों में मुख्य रस की पूर्णता के लिए अनेक रसों का आगमन हो गया है । उनकी दार्शनिक चिन्ता यही है कि जीवन दु:खों का केन्द्र है, दर्द और पीड़ा , विरह और असफलता इन सब से पीड़ित मानव-हृदय समस्त क्रिया-व्यापारों में [illegible]कता,जूझता अन्त में नियतिवाद में ही [illegible] पाता है । इसी को सम स्थिति कहते हैं । जिस प्रकार समस्त कार्य-व्यापार सम स्थिति में समाहित हो जाते हैं,अत: 'प्रसाद' के नाटकों

में शान्त रस ही अंगी रस है । उनके नाटकों में अनेक रसों का आगमन इसी एक अंगी रस (शान्त) का उद्देश्य साधन है । उन्होंने रस की अन्तिम सन्धि को मुख्य माना है । अर्थात् बीच में आए रसों को संचारी भावों के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए ।[1] 'राज्यश्री' के अन्तिम दृश्य में सुएनच्वांग की यह उक्ति 'दस्युराज ! मैं रुपये लेकर नहीं आया हूं । मेरे पास थोड़ा-सा धर्म है और कुछ शान्ति-- तुम चाहते हो लेना ?' मैंने यही एक दिन तुम से कहा था, वही आज भी कहता हूं' इसी स्थान पर इस नाटक का 'शान्त रस' पूर्णता को प्राप्त हो जाता है । इसी प्रकार 'विशाख' में प्रेमानन्द का 'प्रार्थना करो तुम्हें शान्ति मिलेगी', 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना का 'सब क्षणिक सुखों का अन्त है । जिसमें सुखों का अन्त न हो इसलिए सुख करना ही न चाहिए । मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य । क्षमा ।' कथन इस बात के प्रमाण हैं कि 'प्रसाद' के सभी रंग एक रंग में विलीन हो जाते हैं । वह और वह एक रंग है परम शान्ति ।

'प्रसाद' के नाटकों में शृंगार-रस का जो परिपाक हुआ है, उससे उनकी प्रेमानुभूति की सूक्ष्मता का पता चलता है । जीवन में अनुराग तत्व एक कोमल भाव-धारा है । उस धारा को उद्दाम और शान्त दोनों रूपों में देखा जा सकता है । परन्तु 'प्रसाद' ने प्रेम के क्षेत्र में धैर्य को ही महत्व दिया है । उनके नाटकों में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्ष मिलेंगे । 'प्रसाद' के नाटकों में अनुराग-तत्व का अद्भुत प्रसार है । जीवन-पथ के अनेक मोड़ों पर जाने - अनजाने लोगों से परिचय होता है । सान्निध्य के कारण अथवा अन्य किसी कारण से उस परिचय का रंग गहरा होता जाता है । और यही रंग रतिभाव के रूप में विकसित होता है । 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और स्कन्द, विजया और स्कन्द का परिचय । 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य और सुवासिनी तथा चन्द्रगुप्त

---

1 जयशंकर 'प्रसाद' : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', प्रयाग, १६६६, पृ० ८३

और कार्नेलिया,चन्द्रगुप्त और मालविका का परिचय ।'विशाख' में चन्द्रलेखा तथा विशाख का परिचय कुछ ऐसे ही तथ्य हैं जो अवसर पाकर शृंगार रस का स्रोत बन जाते हैं । यद्यपि'प्रसाद' के नाटक शुद्ध रूप से शृंगार-प्रधान नहीं कहे जा सकते, फिर भी उनमें रति भाव की एक गहरी टीस पाई जाती है। शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समुचित संयोजन उनके नाटकों में हुआ है । शृंगार के संयोग का परिपाक स्पष्ट रूप से'विशाख' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में हुआ है । प्रथम मिलन में ही विशाख और चन्द्रलेखा का स्नेह । विशाख के हृदय में चन्द्रलेखा के प्रति अनोखे भाव का उदय होता है--

इरावती -- मेरा नाम इरावती है और इस मेरी छोटी बहन का नाम चन्द्रलेखा है ।

विशाख -- सच तो घने घन बीच कुछ अवकाश में यह चन्द्रलेखा सी ।
मलिन पट में मनोहर है निकष पर हेम-रेखा-सी ।।

'चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया के हृदय में व्युत्पन्न चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग भाव अनेक विभावों अनुभावों और संचारियों के द्वारा परिपुष्ट होकर शृंगार के संयोग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है, उन दोनों का विवाह हो जाता है । 'प्रसाद' का शृंगार रस भोग-विलास और धैर्यहीनता की वस्तु न होकर त्याग,बलिदान और सम्मान की पराकाष्ठा है । यद्यपि उनके नाटकों में शृंगार के संयोग पक्ष का उद्दाम रूप सुरमा और विकटघोष[1] राक्षस और सुवासिनी[2], शैलेन्द्र और मागन्धी[3] के रूप में भी मिलता है । परन्तु इस शृंगार की हीनता इसी बात में निहित है कि नाटकों की मुख्य घटना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं ।'प्रसाद' ने शृंगार के वियोग पक्ष को जिस मार्मिकता और शालीनता से व्यक्त किया है,उससे उनके नाटकों में एक

---
१ 'राज्यश्री'
२ 'चन्द्रगुप्त'
३ 'अजातशत्रु'

अनोखा आकर्षण व्याप्त हो गया है । रति-भाव का उदय कराकर वे कुछ ऐसी परिस्थितियों का संचयन करते हैं कि उस भाव का विकास भी नहीं हो पाता और वह विलुप्त भी नहीं होता । जैसे स्कन्द और देवसेना का रतिभाव एक चिर व्यथा बनकर रह जाता है । इसी प्रकार वियोग भाव चाणक्य और सुवासिनी तथा बुद्ध और मागन्धी की कथा में भी है । अनेक घटनाओं और परिस्थितियों के कारण रतिभाव का परिपाक तो होता है, अस्तु मिलन नहीं हो पाता । अत: वह भाव हृदय की गहरी वेदना बनकर रह जाता है । यद्यपि शृंगार रस का परिपाक 'प्रसाद' के नाटकों में गौण ही है, उसका विलय वीर या विशेष कर शम(शान्त) भाव में हो जाता है[1] । प्रेम की त्याग भूमि पर खड़े 'प्रसाद' के पात्र बड़े-से-बड़े त्याग के लिए तत्पर दिखाई देते हैं । उनका शृंगार रस पात्रों के उदात्तीकरण का साधन है । डा० खण्डेलवाल का यह कथन 'प्रसाद' साहित्य के अनेक पात्र रति से ही परिचालित हैं । रति उनके जीवन की मूल शक्ति है व प्रेरणा स्रोत है[2] ।" इस तथ्य की पुष्टि करता है कि "प्रसाद" के नाटकों का रतिभाव उनकी सक्रियता और विकास का आधार है । राज्यश्री ग्रहवर्मा से बेहद प्यार करती है तभी तो उसके जीवन का इतना उत्कर्ष हो पाया[3] । स्कन्द, देवसेना और विजया से स्नेह रखता है तभी तो वह बड़े-से-बड़े प्राप्य को सहज ही त्याग देता है । विशाख, चन्द्रलेखा के स्नेहावश इतना सक्रिय है तथा चन्द्रगुप्त रतिभाव से ओतप्रोत होकर ही विजय की तलवार लेकर समस्त उत्तरी भारत पर छा जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि "प्रसाद" के नाटकों का रतिभाव उनके नाटकों की सक्रियता का सबल आधार है ।

'प्रसाद' के नाटकों की कथा के आधार इतिहास के वह अंश हैं जिनमें घोरतम संघर्ष, उत्साह, और कमनीय [illegible] का सत्य निहित है । "प्रसाद"

---

१ [illegible]

२ डा० [illegible] : "जयशंकर "प्रसाद" वस्तु और कला", दिल्ली, ६८, पृ० ६१

३ [illegible]

के चन्द्रगुप्त, स्कन्द, अजात, चाणक्य, देवसेना, अलका आदि सभी पात्र अपने जीवन के प्राप्य के लिए कठोर परिस्थितियों से जूझते हैं । अतः स्वाभाविक रूप से इन नाटकों का प्राण उत्साह स्थायी भाव है । डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा "(प्रसाद के) प्रायः सभी नाटकों में प्रधानता वीर रस की ही है । अपने अंगोपांग से युक्त यह वीर रस समय-समय पर अन्य रसों से भी पुष्ट होता गया है[1] ।" डा० शिवनाथ सिंह ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए कहत-है विचार व्यक्त किया है । जयशंकर 'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटक वीर रस प्रधान हैं, यद्यपि उनमें शृंगार की धारा भी प्रवाहित होती हैं । करुणा का पुट भी उनके नाटकों में मिलता है । हास्य का आभास भी कुछ नाटकों में उन्होंने दिया है । वास्तव में 'प्रसाद' के नाटकों का समष्टि-प्रभाव वीर रस का ही होता है । सम्पूर्ण नाटक को हृदयंगम करके जो एक प्रभाव शेष रहता है उससे एक अदम्य उत्साह की अनुभूति होती है । यह उत्साह, सांस्कृतिक स्थापना, राष्ट्रएकता, मानवीयता, प्रेम आदि के प्रति होता है । अजातशत्रु में बहुमुखी संघर्ष की अवतारणा की गयी है । अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न नाटक के सभी पात्र क्रियाशील हैं । यद्यपि इस नाटक की घोर झंझा में कहीं-कहीं गौतमबुद्ध का शमभाव भी भावशाली हो जाता है फिर समष्ट नाटक का स्थायी भाव उत्साह ही है । "(अजातशत्रु) में वीर रस की ही प्रधानता है जिसका स्थायी भाव उत्साह है[2] ।" प्रसाद एक जागरूक कलाकार थे सम्प्रति इतिहास का एक-एक सत्य उनके समक्ष था । उस संघर्ष के युग में उनकी कृतियों का स्वर भी उस युगीन चेतना को लेकर सामने आया । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार 'प्रसाद' के जीवनकाल में चारों ओर राष्ट्रीय, रोमांस और सांस्कृतिक जोश उमड़ा हुआ दिखायी पड़ता है[3] । "'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय एकता और देश उत्थान के शक्तिशाली

---

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', काशी, १९६६, पृ० २६१

२ ,, ,, ,, ,,

३ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'बीसवीं शताब्दी : नये संदर्भ', प्रयाग, १९६६, पृ० २३८

विचार को ऐतिहासिक तथ्य में गुंफित किया गया है । सिकन्दर आलम्बन विभाव बनकर आता है, चन्द्रगुप्त आश्रय है । आम्भीक और नन्द उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं, जिससे उत्साह स्थायी भाव का परिपोषण होता है । डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इस नाटक के रस-विवेचन में कहा है --".... जिस क्रम से भी हो परिणाम में नाटक वीर रस का ही ठहरेगा । इसमें सम्पूर्ण अवयवों के संयोग से वीर रस की ही निष्पत्ति हुई है ।[1] 'प्रसाद' के नाटकों के लगभग सभी पात्र और कथानक जीवन के कटु संघर्षों की भाव-भूमि पर निर्मित हुए हैं । बाह्य और आन्तरिक संघर्ष के सागर में डूबते-उतराते उनके पात्र जिस उत्साह से गतिमान हैं उससे सामाजिक के हृदय में वीर रस का आस्वादन ही होता है । मन में आता है कि जीवन एक न खत्म होने वाला संघर्ष है और क्रियाशीलता उस नैरन्तर्य का प्राण । इस संघर्ष के प्रति उत्साह का भाव ही जीवन का लक्ष्य है । प्रसाद के नाटकों में इसी भाव-भूमि के आधार पर अनेक पात्रों एवं घटनाओं का संयोजन हुआ है । 'राज्यश्री' में हर्ष आश्रय और नरेन्द्र गुप्त तथा देवगुप्त आलम्बन हैं । इसी प्रकार स्कन्दगुप्त का यह कथन, "अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है । जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो । स्कन्दगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा ।[2]" हूणों का विद्रोह, भटार्क का विरोध और अनन्त देवी की [illegible] इसमें आलम्बन बनकर आते हैं । सिंगिल पर विजय प्राप्त कर जब स्कन्द पुरगुप्त के मस्तक पर रक्त से राजतिलक करता है तो वीर रस का [illegible] परिपाक हो जाता है । इसके पश्चात् का सारा कार्य-व्यापार वास्तव में रस की अवरोधक [illegible]स्थिति ही पैदा करता है । रस की दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' के इस बढ़े हुए अंश को निरर्थक बताते हुए डा० शर्मा कहते हैं, --" सिंगिल पर विजय

---

1 डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' वाराणसी, १९६६, पृ० १७१

2 'स्कन्दगुप्त', पृ० १३

प्राप्त करके और पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर स्कन्दगुप्त ने पूर्ण फल की प्राप्ति जब कर ली तब उसके उपरान्त एक दृश्य बढ़ाकर जो देवसेना के कथोपकथन से नाटक की समाप्ति दिखाई गई है, उससे वीर रस की अखण्ड निष्पत्ति में हलका-सा व्याघात पड़ता है[1]। 'प्रसाद' के नाटकों का वीर रस केवल युद्ध-शौर्य से सम्बन्धित नहीं है, वरन् उसमें त्याग, वीरता, धर्म वीरता जैसे चरित्र भी हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' की ध्रुव देवी एक जागरूक, वीर नारी है। वह अपनी रक्षा स्वयं करने के लिए तैयार है उसकी आश्रय माने तो रामगुप्त, शिखर स्वामी आलम्बन और शकराज की कामुकता उद्दीपन का काम करती है। करुणा, भय, आत्महत्या आदि सैन्चारियों के कारण वह अपना अधिकार और ध्येय प्राप्त कर लेती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा का त्याग भी प्रेम के प्रति एक अलौकिक भाव जगाता है। जब ध्रुवस्वामिनी कहती है, "निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं? (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूं[2]।" तो लगता है उसका अदम्य उत्साह एक हठीले निर्झर की तरह बह निकला है जो सामाजिकों को रसासिक्त कर देता है। इस नाटक के रस के विषय में डा० शर्मा का मत अक्षरश: सत्य और समीचीन है, "इस नाटक में वीर रस की प्रधानता है, अवश्य ही सहायक रूप में श्रृंगार भी दिखाई पड़ता है[3]। स्थायी भाव उत्साह है, जो ध्रुवस्वामिनी के प्रत्येक व्यापार में उपस्थित है।

'किसी प्रिय वस्तु-जन व्यक्ति या वस्तु अथवा यष्टार्थ के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की प्राप्ति की आशा के अभाव से

---

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद' के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', वाराणसी, १९६६, पृ० १२८ ।

२ ध्रुवस्वामिनी, पृ० २८

३ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', वाराणसी, १९६६, पृ० २०५ ।

हृदय में दु:ख और क्षोभ का आया हुआ भाव ही शोक कहलाता है, यही भाव परिपक्व होकर रसत्व को प्राप्त होता है, जो करुण रस कहलाता है।[1] इसके अनुसार 'प्रसाद' के नाटकों पर शोक-भाव गहरे बादलों की तरह छाया हुआ है। 'प्रसाद' के अनुसार 'जीवन नियति के कठोर आदेशों पर चलेगा ही'[2] इसलिए उनके पात्रों की समस्त क्रियाशीलता एक बिन्दु पर आकर उनके व्यक्तिगत जीवन के लिए निरर्थक-सी लगने लगती है। स्कन्दगुप्त का प्राप्य उस समय कितना कारुणिक और सारहीन लगने लगता है, जब वह देवसेना से प्रणय निवेदन करने पर केवल एक श्रद्धा का भाव मात्र प्राप्त करता है।[3] वह अकेला ही नहीं, देवसेना भी पूरे नाटक के पश्चात् करुण रस की निष्पत्ति का सशक्त कारण बनकर आती है। उसका देवता, उसका प्रिय, उसका जीवन, कुछ भी तो उसे नहीं मिलता। यही नहीं 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य, सुवासिनी, मालविका, 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा, 'कामना' का विवेक, 'अजातशत्रु' का मातृगुप्त आदि सभी पात्र सामाजिकों की करुणा के आलम्बन हैं। इन पात्रों की प्रस्तुति के पीछे 'प्रसाद' का जीवन दर्शन स्थित है। उन्होंने जीवन संघर्ष में जो अनुभव किए उनके आधार पर जीवन को दो रूपों में बांटा एक तो जीवन-सत्य और उसकी दु:खद अनुभूति, दूसरा जीवन-धैर्य और आत्म त्याग। उनके नाटकों के पात्रों का भी यही दोहरा रूप हमारे सामने आता है। स्कन्द गुप्त, [illegible], देवसेना, चाणक्य, कोमा, जीवन भर सतत् प्रयत्नों के पश्चात् भी कुछ न पा सके। अत: 'प्रसाद' के नाटकों में इन पात्रों के प्रति जो एक [illegible]त्मक दुर्व्यता [illegible] के हृदय में बनी रह जाती है, उससे पूरे नाटक का सुखान्त होना संदेहास्पद हो जाता है। शिवत्व के आधार पर गरल पीकर भी हंसते रहना इन पात्रों की प्रकृति है। अत: इनके दु:ख से

---

१ डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' : 'अलंकार...', प्रयाग, १९६२, पृ० १४

२ .कामना, पृ० २९

३ स्कन्दगुप्त, पृ० १९८

वह बंध जाता है वहां करुणा का पात्र बनकर रह जाता है । 'प्रसाद' के नाटकों में करुणरस का ऐसा ही सामंजस्य है, जो समस्त रसों की पृष्ठभूमि में स्थित है । यह करुणा का भाव उनके शान्त रस का विरोधी नहीं है । हम पहले कह चुके हैं कि 'प्रसाद' के नाटकों की सभी घटनाओं के केन्द्र में शम भाव निहित है । अत: यहां करुणा की सर्वव्यापकता इस शान्त रस की महत्ता को स्वीकार करके ही मानी जा सकती है । उनके पात्रों के प्रति करुणा और घटनाओं में त्याग को अनुभव किया जा सकता है ।

'प्रसाद' के नाटकों में उपर्युक्त मसस्थ मुख्य रसों के अतिरिक्त अनेक सभी रसों का कहीं-न-कहीं परिपाक हुआ है, लेकिन उनके विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उनके नाटकों में अन्य रसों का महत्व नहीं के बराबर है ।

राय के नाटकों में रस

द्विजेन्द्र के नाटकों का विकास यद्यपि पश्चिमी रंगमंच के प्रभाव में विकसित हुआ, लेकिन उसकी आत्मा भारतीय ही थी । भारतीय विचार धारा के अनुसार रसात्मक आनन्द की प्राप्ति ही साहित्य का ध्येय है । यद्यपि पाश्चात्य साहित्य सर्जना के साथ रसात्मकता का प्रश्न नहीं जुड़ा हुआ है लेकिन फिर भी रस को किसी-न-किसी रूप में वहां भी साहित्य के साथ स्वीकार किया गया है । अरस्तु ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है —' किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है ।'[1] जब कि अरस्तु ने ज्ञान और आनन्द को साहित्यिक स्तर पर एक माना है । हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य शास्त्र में नाटकों

---

1 अनु० डा०नगेन्द्र : 'अरस्तु का काव्यशास्त्र', प्रयाग, ब१९२४, पृ० १४

स... दु:खी न होकर एक करुणा-भावना से भर जाता है । त्याग, बलिदान, कर्तव्य जैसी उच्च भूमियों पर स्थित ये पात्र प्राप्य के लिए उत्सुक अवश्य हैं, पर अभाव के लिए त्रस्त नहीं । इसीलिए 'प्रसाद' के नाटकों को दु:खान्त तो कहा ही नहीं जा सकता । परन्तु सुखान्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'ध्रुवस्वामिनी' को समाप्त करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि चलो सब समाप्त हो गया, चूंकि कोमा की ~~समक्ष~~ समर्पित स्नेह-भावना मन को कहीं से छूती रहती है । चन्द्रगुप्त को समाप्त करने पर पर्णकुटी की ओर जाते हुए चाणक्य को देखकर मन कुछ उदास हो जाता है । मालविका का बलिदान नाटक में एक पीड़ा भर देता है । यहाँ तक सफलता के ~~व~~ प्रभाव से अधिक उन असफलताओं का प्रभाव शेष रह जाता है जो इन पात्रों को भोगनी पड़ती है । यही असफलताओं का प्रभाव 'प्रसाद' के नाटकों का करुण रस है जो उनके नाटकों में अद्भुत टीस भर देता है । यह करुणा किसी घटनात्मक, (भौतिक) असफलता का परिणाम नहीं, वरन् मानवीय सीमाओं, विवशताओं और अभावों का प्रतिफल है । इसी करुणा की सार्वभौमिकता के कारण 'प्रसाद' के नाटकों में हास्य रस का अभाव पाया जाता है । हास्य रस के लिए जिस जीवन-दर्शन की आवश्यकता होती है उसका 'प्रसाद' में नितान्त अभाव है । अत: जहां भी हास्य रस के प्रतिपादन का प्रयास ~~उन्होंने~~ किया गया वहीं वह असफल और अप्रिय लगता है[1] । 'प्रसाद' ने मानवीय कमजोरियों को व्यंग्य से संकेतित न करके उन्हें शक्ति की सीमा के रूप में चित्रित किया है । अत: हास्य के स्थान पर शोक-भाव का उदय होता है । मानवीय कमजोरियां मानवीय शक्ति के बाहर की वस्तु हैं । मनुष्य उनके प्रति जागरूक होते हुए भी विवश सा होता है । जहां परिस्थितियां आती हैं वह सुधारने का प्रयास करता है परन्तु जहां

---

१ द्रष्टव्य अजातशत्रु : प्रथम अंक, छठा दृश्य

,, विशाख : तृतीय अंक, प्रथम दृश्य

के तीन तत्वों में रस को एक स्वतन्त्र एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है, जब कि पश्चिम में प्रकारान्तर से रस की महत्ता को स्वीकार किया गया है। द्विजेन्द्रलाल राय ने नाट्य-शिल्प के क्षेत्र में पाश्चात्य अनुकरण करने पर भी इस बात का अनुभव किया कि मानवीय भावों को न छू सकने वाला नाटक महत्व-हीन उद्देश्य हीन होता है। रंगमंच पर अवतरित होने वाला नाटक किसी-न-किसी भावात्मक सन्दर्भ का ही परिणाम होता है। उसकी अवतारणा की पृष्ठभूमि में कोई-न-कोई ऐसा भाव रहता है, जिसके आधार पर उस नाटक की समस्त घटनाएं एवं पात्र संयोजित होते हैं। राय के नाटकों में इसी सत्य को स्वीकार किया गया है। नाटक की घटनाओं और पात्रों से भी आगे उसके सुबचन, संवाद, और भाषा में इस सत्य का प्रभाव दिखाई देता है।

वैसे तो राय के नाटकों में सभी रसों का समावेश मिल जायगा परन्तु उन्होंने 'वीर' तथा 'वात्सल्य' रसों को आधार रूप में स्वीकार किया है। वीर रस के अन्तर्गत लगभग वो सभी नाटक आते हैं जो राजस्थान की वीर भूमि से सम्बन्धित हैं, जैसे 'राणा प्रताप सिंह', 'मेवाड़-पतन', 'दुर्गादास' उसके अतिरिक्त 'चन्द्रगुप्त', 'भीष्म', 'सिंहल-विजय', 'रुस्तम-सोहराब', 'शाहजहां' और 'नूरजहां' में भी वीर रस महत्वपूर्ण है। वीर रस की तीव्रता के साथ इनमें अन्य रसों (विशेषकर वात्सल्य) का भी समुचित परिपाक होता है। 'नूरजहां'—'सिंहल विजय', '[illegible]', 'बंग-नारी', 'परपारे' नाटक इस बात का प्रमाण हैं। इन नाटकों में अन्य रसों की आवृत्ति भी सौन्दर्य साधन करती है। इसी प्रकार उपरोक्त दो प्रमुख रसों के नाटकों में हास्य रस का पुट उन्हें रंगमंचीय सफलता के चरम बिन्दु पर पहुंचा देता है। प्रायः सभी नाटकों में राय ने स्वास्थ्य हास्य की संयोजना भी की है।

राय एक भावुक कवि थे। जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों को छोड़कर स्थूल रूपक नाट्य-रचना कार्य उनके लिए सम्भव नहीं था। रंगमंच से सम्बन्धित होने के कारण भारतीय जीवन-दर्शन की भावधारा को पहिचान कर वे अनुभव करते थे कि रंगमंच के लिए सफल नाटक [illegible] तब तक सम्भव नहीं, जब तक वह रागात्मक-बोध को स्वीकार न कर ले। उनके नाटकों में आंधी, बिजली,

तूफान,सागर की जो क्षिप्रता है वह नाटक की सक्रियता के लिए वांछनीय तत्व है, परन्तु उसके अन्तर में बहती हुई एक कोमल भावात्मक-धारा ऐसी है जो प्रेक्षक को रसात्मक अनुभूति में बांध देती है । इतिहास के जिन स्थलों को कथानक के रूप में स्वीकार करके राय ने नाट्य-रचना की, उनमें वीर रस के क्रम का विकास का पर्याप्त अवसर था । 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, सैल्यूकस, चन्द्रकेतु -- सभी प्राय: वीरता की भावना से प्रेरित हो भारतीय राष्ट्र के भाग्य से सम्बन्धित हैं । 'चन्द्रगुप्त' को वीर रस पूर्ण नाटक ही माना जायगा । चन्द्रगुप्त इसका आश्रय है तथा नन्द आलम्बन सैल्यूकस एण्टीजीनस आदि भी आलम्बन विभाव ही है । चाणक्य इस सारी क्रियात्मकता के नियामक है । परन्तु लेखक ने नाटक की भूमिका में इस बात को स्वीकार किया है कि 'चन्द्रगुप्त' में वीर, शृंगार, करुण, अद्भुत रसों का यथोचित अस्तित्व है । इसी कैसा 'चन्द्रगुप्त' में हास्य रस की अवतारणा का अवसर भी ढूंढा गया है । चाणक्य और मुरा के साथ पारिषदों और नन्द का अपमानजनक व्यवहार हास्य की दृष्टि से सभ्य संयोजित किया गया है । परन्तु न जाने क्यूं उस समय हंसी न आकर उन परिषदों और नन्द पर क्रोध आता है । इसी प्रकार कभी-कभी शृंगार और करुण रस की अवतारणा भी कुछ फीकी पड़ जाती है। राय की रचनाओं में वात्सल्य की अभिव्यक्ति अत्यधिक मार्मिक है । क्योंकि उसका प्रभाव अक्षुण्ण रहता है । यद्यपि चन्द्रगुप्त नाटक को वीर रस का नाटक ही कहा जा सकता है, परन्तु मुरा और नन्द के साक्षात् में अपना एक अनोखा आकर्षण है । कभी-कभी सारे नाटक में से एक-आध घटना जाने अनजाने याद रह जाती है--ऐसी ही एक घटना है । 'चन्द्रगुप्त' में मुरा और नन्द का प्रथम साक्षात् वात्सल्य रस ही है जो राय के लगभग समस्त नाटकों का आकर्षण-केन्द्र है । राणा प्रताप सिंह और शक्ति सिंह का सन्दर्भ (राणा-प्रताप सिंह) सबका और विजय का वात्सल्य भाव (सिंहल-विजय) गोविन्दसिंह तथा कल्याणी और गोविन्द सिंह तथा अजय सिंह, अमर सिंह और सगर सिंह के प्रसंग(मेवाड़-पतन) भीष्म और विचित्र वीर्य, चित्रांगद से सम्बन्धित घटनाएं (भीष्म) शेर तथा नूरजहां(नूरजहां) ।

1- ... 'चित्रित रचनावली २, पृ०२२६

राय के नाटकों में शृंगार रस के आधार पर जो घटनाएं हमारे सामने हैं, उनमें दो तरह के पात्र मिलते हैं--एक तो वे जो अनुराग की सानुभूति मन के किसी कोने में डालकर प्रेम की भावना के ऊपर सब कुछ अर्पित कर देते हैं। प्रेम चीखने-चिल्लाने की वस्तु नहीं। यह तो एक उदात्त भावना है जो पूर्णतः ऐन्द्रिकता का त्याग चाहती है। इसी धारणा की भावभूमि पर राय ने कुछ ऐसे मार्मिक पात्रों की अवतारणा की है जो समस्त नाटक के बीच अकेले से दीख पड़ते हैं, जैसे 'चन्द्रगुप्त' में छाया, 'राणा प्रताप सिंह' में मेहरुन्निसा, 'मेवाड़-पतन' में मानसी, कल्याणी आदि। इन पात्रों में प्रेम की उद्दाम लहर नहीं, वरन् विरह की कारुणिक अनुभूति है। ये पात्र प्रेम को जितनी गहराई से अनुभव करते हैं, उतनी ही उदात्तता से उसका निर्वाह भी करते हैं। इनमें प्रतिदान की भावना का लेश भी नहीं है। प्रेक्षक अनायास ही इन पात्रों के प्रति श्रद्धा से भर जाता है। दूसरे वर्ग के पात्र ठीक इसके विपरीत हैं। प्रेम यदि कुछ लोगों के लिए सात्विक महत्ता का अमूल्य भाव है तो कुछ लोगों के लिए वह एक तूफान है, जिसमें सारा कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है, जिसमें सब कुछ बह जाता है और जिसके पश्चात् देखने को टूटे हुए सम्बन्ध और उजड़ी हुई मर्यादाएं रह जाती हैं। 'भीष्म' की सत्यवती, 'राणा प्रताप सिंह' का अकबर, 'नूरजहां' की नूरजहां, 'दुर्गादास' की गुलनार, 'भीष्म' का शाल्व, 'बंगनारी' का यज्ञेश्वर ऐसे पात्र हैं जो प्रेम ... एक सीमा तक पा कर, विकृत हो जाते हैं। प्रेम के भौतिक सौख्य के अतिरिक्त इन पात्रों के लिए किसी स्थिति का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए इन पात्रों में प्रेम के प्रति जितना तीव्र आकर्षण है, उसकी विफलता के प्रति उतना ही तीव्र आक्रोश घटनाओं के माध्यम से हम जान सकते हैं कि इन पात्रों की सहनशक्ति की एक सीमा है, उस सीमा के टूटने पर ये पात्र भी टूट जाते हैं। और फिर अन्त तक अपने ।बखराव को समेट नहीं पाते। राय के शृंगार रस के इन दोनों रूपों के में दो ध्रुव देखे जा सकते हैं--- एक तीव्र उष्ण है तो दूसरा तीव्र शीतोष्ण।

राय के इन ऐतिहासिक नाटकों में जो संघर्ष और युद्ध की घटनाओं पर आधारित हैं वीर रस का क्रमिक विकास देखा जा सकता है।

महाराणा प्रताप सिंह,दुर्गादास,रुस्तम,सौहराब,महाबतखां, गोविन्दसिंह, भीष्म आदि पात्रों के नाम से वीर रस की जिस रसात्मकता का बोध होता है, वह वीर रस ही है,क्योंकि इन पात्रों का जीवन विकास युद्ध और संघर्ष के बीच हुआ है । वीर रस की निष्पत्ति के लिए राय ने पात्र का शक्तिशाली होना ही पर्याप्त नहीं समझा,वरन् उसमें अन्य मानवीय गुणों का आकर्षण भी आवश्यक समझा है । अतः राणा प्रताप वीर है, पर उसी के साथ-साथ वह अकबर की पुत्री के प्रति उदार भी है । वह शक्तिसिंह के लिए स्नेहिल भी है । इससे राणा प्रताप सिंह के चरित्र की वीरता उदात्त भावनाओं के सम्मिश्रण से आकर्षण हो गयी है । इसी प्रकार मेवाड़-पतन का महाबत खां वीर सैनिक होने के साथ-साथ एक उदार व्यक्ति भी है,जो जातिवाद,धर्मवाद और सम्प्रदाय से परे मानवीय मूल्यों को स्वीकार करके चलता है । वह हिन्दू से मुसलमान होकर भी अपनी हिन्दू बहन के स्नेह की भीख मांगता है। भीष्म का चरित्र वीर रस का एक सुन्दर उदाहरण है,इसका कारण भीष्म की वीरता नहीं,वरन् उसकी त्याग,परोपकार,सौहार्द्रशक्ति है । वह वीर होते और व्यास के जीवन-दर्शन से रिक्त होते, तो 'भीष्म' न होकर देवव्रत होते,केवल देवव्रत । सिंहल-विजय में विजय का चरित्र भी इसी प्रकार का है, वह वीर व्यक्ति होने के साथ-साथ अपने घृणा योग्य माता-पिता का मर्यादा के साथ निर्वाह करता है ।भारतीय मर्यादा के अनुसार जघन्य पाप और अपराधों के पश्चात् भी विजय अपनी सौतेली मां को गौरवान्वित पद पर बैठाता है । कहने का तात्पर्य यह कि राय के नाटकों का ध्येय वीर रस के माध्यम से कुछ वीर चरित्रों का मंचीकरण करना नहीं,वरन वीर रस से परिपूरित कुछ चरित्रों के माध्यम से कुछ सम्पूर्ण व्यक्तित्वों को प्रदर्शित करना है ।

युद्ध के पूर्व और युद्ध के पश्चात् किसी व्यक्ति में जिस स्थैर्य की आवश्यकता होती है, वह राय के पात्रों में देखा जा सकता है । युद्ध जीवन

---

१ 'मेवाड़-पतन' : 'द्विजेन्द्र रचनावली १', पृ०३८६

का अनिर्णीत सत्य है । युद्ध की पृष्ठभूमि में मर्यादा, भय, गौरव, निर्णय, अनिर्णय, आदि का समावेश रहता है । उन सब में पड़े हुए व्यक्ति की ऊंची नीची भूमि का निर्वाह कराकर राय ने अपने पात्रों का निर्माण किया है । राणा प्रतापसिंह के समक्ष युद्ध से पूर्व जीवन के अनेक बड़े-बड़े प्रलोभन हैं । परन्तु वह उन्हें अस्वीकार देता है । इसका अर्थ यह है कि वीर-पात्र होते हुए भी वे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक देते हैं । राय का जीवन-दर्शन और चिन्तन इस निर्माण के पीछे सक्रिय रहता है । इसीलिए दुर्गादास, विजय, भीष्म, महाबत खां, गोविन्द सिंह, भीम सिंह आदि चरित्र वीर है साथ ही उनमें जीवन की समस्त उदारचेतनाएं भी हैं । इसके विपरीत राय ने कुछ वीर चरित्रों का संयोजन इस प्रकार किया है कि उनमें वीरता है युद्ध-कौशल है, शक्ति है, परन्तु उनसे वीर रस की निष्पत्ति नहीं होती । जैसे औरंगजेब[1], शक्ति सिंह[2], शम्भाजी[3], परशुराम, सिंह बाहु । इसका कारण यही है कि सामाजिक का इन पात्रों से भावात्मक सामंजस्य ही नहीं हो पाता । ऐसा लगता है कि इन पात्रों की वीरता अधूरी है, टूटी हुई है । खण्डित है । युद्ध-वीर पात्रों के अतिरिक्त भामाशाह, और गोविन्द सिंह जैसे दानवीर तथा धर्मवीर पात्रों की अवतारणा करने का प्रयास भी उनके नाटकों में देखा जा सकता है ।

यदि राय के जीवन-दर्शन को [illegible]त किया जाए तो हम उनके अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि जीवन एक ऐसा सत्य है, जिसके निर्माण में [illegible] । [illegible]त्यताओं, कुरीतियों, [illegible]ताओं पर विजय प्राप्त करनी होती है । इन पथकी विषमताओं कोमूल्यहीन समझ कर [illegible]या नहीं जा सकता । कभी-कभी जीवन का अन्त अत्यन्त सुखद होता है । पर रास्ते की कुछ बातें उस अन्त में विषाद की तीखी अनुभूति छोड़ जाती है । घटनाओं में बनती

---

१ द्रष्टव्य — 'शाहजहाँ'
२ ,, — 'राणा प्रताप सिंह'
३ ,, — '[illegible]'

बिगड़ती कथाओं का संयोजन उन्होंने कुछ इस ढंग से किया है कि सामाजिक का मन एक गहरी उदासी में डूब जाता है । सुख-दु:ख के ताने-बाने से बुना गया जीवन एक अनोखी वस्तु है । हम कितना भी कहकहों से अपना जीवन ढकना चाहें लेकिन मानव जीवन वास्तव में एक करुण-कथा ही है । अत: करुण रस राय के नाटकों में एक अनिवार्यतत्व है । उनमें करुण-रस का प्रतिपादन बड़ी मार्मिकता से किया गया है । राय के जीवन में अनेक ऐसे स्थल आए जहां उन्हें संसार की असारता का अनुभव हुआ । बन्ध- जीवन का यह कारुणिक अनुभव उनके नाटकों में स्वाभाविक रूपसे अभिव्यक्त हुआ है । अल्प-काल में ही राय की प्रिय पत्नी की मृत्यु हो गयी थी । दूसरी शादी न करके उन्होंने जीवन भर अपनी पत्नी के वियोग को ढोना ही उचित समझा । अत: राय के कारुणिक सन्दर्भों में एक शक्ति रहती है । यह 'करुणा' जो उनके नाटकों में रसात्मक -बोध कराती है[1] कमजोरी या दयनीयता नहीं । शाहजहां की कैद, दारा की मृत्यु , मेहर के प्रेम की असफलता, जोशी बाई की आत्महत्या[2] अजयकी मृत्यु आदि ऐसे ही स्थल हैं, जिनसे प्रेक्षक के हृदय में करुणा का तीव्र भाव प्रादुर्भूत होता है । 'बंगनारी' में सारा कथानक करुण रस का आधार लेकर चलता है । देवेन्द्र का परिवार जैसे आपत्ति की काली छाया में पल रहा है , जब कि उसका कोई ऐसा कारण भी नहीं । इसी प्रकार 'पर पारे' नाटक का कथानक भी करुण रस प्रधान है,क्योंकि सरयू का जीवन करुणा की प्रतिमूर्ति है ।'सोहराब' के अन्त का कारण[3] वीरता अवश्य है,परन्तु उसके अन्त से करुण रस की ही निष्पत्ति होती है ।

प्रत्येक लेखक का अपना एक व्यक्तित्व होता है । इस एक व्यक्तित्व के निर्माण की पृष्ठभूमि में लेखक के जीवन की अनेक घटनाएं,अनेक

---

१ द्रष्टव्य —'शाहजहां'
२ ,, —'राणा प्रताप सिंह'
३ ,, —'रुस्तम सोहराब'

अनुभव, और अनेक प्रभाव क्रियाशील रहते हैं । यह व्यक्तित्व जब स्थापित हो जाता है, इसकी एक स्वतन्त्र सत्ता स्थिर हो जाती है । यही स्वतंत्र सत्ता उस लेखक की धारणा, या दर्शन कहलाती है । अपनी रचनाओं में लेखक यद्यपि बहुमुखी उद्भावनाएं करता है । परन्तु उसकी जीवन मीमांसा उन सब के केन्द्र में रहती है । या यूं कह सकते हैं कि लेखक की रचनाओं के अध्ययन से जिस केन्द्र को पकड़ा जाता है, वह लेखक की दार्शनिक धारणा है । राय के नाटकों का जो अध्ययन हमने रसों के आधार पर प्रस्तुत किया, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके नाटकों में घटित घटनाओं में लगभग सभी रसों का समुचित परिपाक हुआ है । लेकिन वात्सल्य रस की विशेष प्रमुखता है । इस वात्सल्य में करुणा का समावेश भी है ।

निष्कर्ष

द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर 'प्रसाद' दोनों के नाटकों में रस को विशेष महत्व दिया गया है । दोनों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि नाट्य-प्रयोजन रस का आस्वादन ही है । दोनों लेखकों के नाटकों में लगभग सभी प्रमुख रसों को देखा जा सकता है, परन्तु 'प्रसाद' में वीर, करुण और शृंगार रस तथा 'राय में हास्य, वीर, करुण, वात्सल्य रस के प्रति अधिक आग्रह देखा जाता है ।

राय के नाटकों के केन्द्र में वात्सल्य को ही देखा जाता है । उनके 'राणा प्रताप सिंह' राणा और शक्ति सिंह का सम्बन्ध '[illegible]' में नूरजहाँ और लैला का सम्बन्ध, '[illegible]' में शाहजहाँ तथा उनके पुत्रों का सम्बन्ध, 'सिंहल विजय' में [illegible] और विजय का सम्बन्ध, हृदय को छूने वाले वात्सल्य रस के सम्बन्ध हैं । यही नहीं, उनके अन्य नाटकों में भी यह रस प्रमुख रूप से देखा जा सकता है । 'प्रसाद' के नाटकों के केन्द्र में शान्त रस को

देखा जा सकता है । यद्यपि उनका शान्त रस नाटकों के कथानकों में व्याप्त नहीं, परन्तु वह नाट्य -व्यापार के मुख्य मूल में निहित है । 'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन, 'विशाख' में प्रेमानन्द, 'ध्रुवस्वामिनी' में मिहिर देव, 'अजातशत्रु' में गौतम बुद्ध तथा 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में वेदव्यास ऐसे पात्र हैं, जो 'प्रसाद' के नाटकों की घटनाओं में सन्तुलन स्थापित करते हैं ये सब शान्त रस के प्रतीक हैं ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि राय और 'प्रसाद' की नाट्य-दृष्टि में जो साम्य पाया जाता है, उसी के कारण उनकी रस दृष्टि भी समान ही है ।

परिच्छेद ०८०

संवाद

- शास्त्रीय विवेचन
- संवाद : 'प्रसाद'
- संवाद : राय
- निष्कर्ष

'हृदय की स्वीकृतियों को आकार प्रदान करने वाली भाषा का व्यक्त रूप संवाद ही है।'

परिच्छेद — ८

सम्वाद

शास्त्रीय विवेचन

भरत के 'नाट्य शास्त्र' में कहागया है कि 'पितामह ब्रह्मा ने चारों वेदों से सार संकलन कर,' पंचम वेद के रूप में नाट्य वेद का निर्माण किया । उस नाट्य वेद के लिए ऋग्वेद से पाठ्य(सम्वाद),सामवेद से गीत(संगीत),यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का संग्रह किया गया ।[1] भरत की नाट्य-उत्पत्ति के इस मत को धनन्जय,शारदातनय तथा अन्य संस्कृताचार्यों ने भी स्वीकार किया है[2]। नाटक जैसी कोई साहित्यिक विधा नहीं है । ऋग्वेद के संवाद तत्व के आधार पर उसमें नाट्य के अस्तित्व की बात कही जाती है । वेदों में उपर्युक्त तथ्य से चाहे नाटक की उत्पत्ति का कोई ठोस प्रमाण प्राप्त न हो, परन्तु इतना तो पता चलता है कि सम्वाद नाट्य-विधा का एक आवश्यक तत्व है । नाटक को कहानी और उपन्यास से अलग करने वाला सम्वाद ही है । यह एक स्वीकृत तथ्य है कि नाटक के मुख्य आधार सम्वाद और दृश्य विधान हैं[3]।" सम्वाद के अन्तर्गत वाचिक

---

१ वा स्पति गैरोला : 'भारतीय नाट्य-परम्परा और अभिनय दर्पण' इलाहाबाद, प्रथम सं०, १९५७, पृ० ५७।

२ डा० गिरीश रस्तोगी : 'हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचना' कानपुर, १९६०, पृ० १० ।

३ ,, ,, ,, ,, पृ० ५३

अभिनय तथा भाषा-शैली में दो तत्व आते हैं और दृश्य-विधान में रंग संकेत और वस्तु-संघटन आदि।

अभिव्यक्ति के लिए भाषा की आवश्यकता होती है और नाटक में भाषा की यह अभिव्यक्ति संवाद के द्वारा ही होती है। जहां उपन्यास, निबन्ध और कहानी में लेखक को स्वतन्त्रता रहता है कि वह अपने पात्रों के साथ पाठकों के सामने आकर उसकी कथनीय तथ्य को प्रस्तुत कर सकता है, वहां नाटक में लेखक पात्रों के पीछे रहता है, उसे मंच पर आने की स्वतन्त्रता नहीं। इसीलिए उपन्यास या कहानी और नाटक के तत्वों में समानता होते हुए भी सापेक्ष रूप से संवाद नाटक का अधिक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। नाटक एक ऐसा कलात्मक संयोजन है, जिसमें लेखक अनेक सीमाओं में बंधा रहता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लेखक की अभिव्यक्ति का पूर्ण दायित्व[1] नाटक में संवादों पर है। अत: उनको पूर्णत: साधक बनाना आवश्यक है। वस्तुत: कहानी, उपन्यास और नाटक को अलग करने वाला तत्व संवाद ही है। डा० दशरथ ओझा ने इस विषय में कथोपकथन को नाटक से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्थापित करते हुए कहा है,--'नाटक के मूल तत्वों में तथा विविध उपकरणों में कथोपकथन का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। तथ्य तो यह है कि रंगमंच-निर्देशों को यदि नाटक से निकाल दिया जाय तो कथोपकथन के अतिरिक्त अवशिष्ट रहता ही कुछ नहीं। कारण यह है[2] कि नाटककार को सिद्धि तक पहुंचाने का एकमात्र वाहन सम्वाद ही तो है।' कहना न होगा कि 'संवाद -तत्व' यद्यपि नाटक का साधन है, फिर भी यह अन्य तत्वों में प्राण फूंकने वाला साधन है। अत: सभी विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि नाटक के औचित्य

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', दिल्ली, १६७०, पृ०२५७।

२ बाबू गुलाबराय : 'हिन्दी नाट्य-विमर्श', लाहौर, १६४०, पृ०३२।

की रक्षा हेतु संवादों का गठन अत्यन्त सावधानी से होना चाहिए । हृदय की स्वीकृतियों को आकार प्रदान करने वाली भाषा का व्यक्त रूप सम्वाद ही है, इस दृष्टि से भी भाषा और भावों के सौष्ठव का दायित्व उन्हीं पर आ जाता है । अर्थात् 'संवाद नाटक के चतुर्मुखी विकास का साधन और प्रमाण है'[1]।

मनुष्य प्रयोगिकताओं के उपयोग की धारणा से परिचित होकर उसके रूप की कल्पना करता है । संवाद की महत्ता को सभी कालों में सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है[2]। सम्वाद की इस महत्वपूर्ण स्थिति को दृष्टि-पथ में रखकर हम कह सकते हैं कि नाटक की सर्वांगीण सफलता का श्रेय इसी तत्व को है । संवादों के विषय में गद्य-विकास के पूर्व संवाद पद्य में लिखे जाते थे । हिन्दी में भारतेन्दु-काल के अनेक नाटकों में भी गद्य और पद्य मिश्रित संवाद हैं । इसके पश्चात् भावात्मक संवाद का युग पृष्ठ-भूमि में चला गया और बौद्धिक चेतना का युग आया । अतः भाव-प्रधान काव्य-शैली के संवादों के स्थान पर बौद्धिकता प्रधान गद्य संवाद प्रयुक्त होने लगे । इस प्रकार समय-समय पर संवादों का रूप परिवर्तित होता रहा है ।

भाषा और संवाद का गहरा सम्बन्ध है । भाषा ही संवाद को रूप देती है । भाषा ही संवाद को अर्थ देती है । अतः भाषा का संवादानुकूल होना अत्यन्त आवश्यक है । भावात्मक-स्थल पर प्रयुक्त संवादों की भाषा में लालित्य और भाव प्रवणता होनी चाहिए तथा बौद्धिक स्थलों की भाषा दार्शनिकता से ओत-प्रोत होनी चाहिए । भाषा के प्रवाह का गुण भी संवाद को सौन्दर्य प्रदान करता है । संवादों को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि भाषा-भाव, स्थिति और पात्र के अनुकूल होनी चाहिए । मुख्यतः पांच स्थितियों में संवादों के पांच भिन्न रूप देखे जा सकते हैं--(१) भावात्मक (क [illegible]), (२) चिन्तन प्रधान(बौद्धिक स्थल),(३) विवरणात्मक(व्याख्यात्मक)

---

१ साहित्य कोश,भाग१,वाराणसी, द्वितीय संस्करण,सं०२०२०वि०,पृ०२०६

२ डा० गिरीश रस्तोगी :' हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचना' कानपुर,१९६७,पृ०५४ ।

(४) व्यंग्य (हास्यास्पद),(५) संघर्ष पूर्ण स्थल । उपर्युक्त स्थितियां नाटक में प्राय: आती रहती हैं । बहुत से सृजक इस भाषा-सत्य को भूल जाते हैं कि भाव के अनुसार भाषा की संरचना होनी चाहिए । नाटककार के अधिकार में कुछ ही क्षणमात्र होते हैं, इस कारण उसको अपने शब्दों के प्रयोग में सचेष्ट रहना पड़ता है । इस धारणा को मानव सत्य के आधार पर स्वीकार करना होगा । हम अपने प्रतिदिन के जीवन में भाषा और भाव के शाश्वत सम्बन्ध को देखते हैं । अत: यह आवश्यक है कि भाषा के प्रयोग से नाटक के भावों को सम्प्रेषणीयता मिलनी चाहिए ।[1] 'यदि संवाद की उपादेयता पर नाटक की अधिकांश सफलता अवलम्बित है ' तो भाषा की उपादेयता पर संवाद का उद्देश्य आधारित है । अत: डा० दशरथ ओझा के अनुसार 'संवाद की भाषा असाधारण होते हुए भी स्पष्ट, सुगम होते हुए भी असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए ।[2] 'कुछ लोगों ने संवाद की भाषा को बोलचाल की भाषा के स्तर पर लाने का आग्रह किया है । परन्तु इस प्रकार की धारणा तब तक कोई अर्थ नहीं रखती जब तक साहित्य और बातचीत में स्पष्ट अन्तर माना जायगा ।

नाटक साहित्य की अभिनेय विधा है । संवाद और भाषा नाटक के इस स्वभाव की रक्षा भी करते हैं । संवादों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे अभिनेय स्थितियों को प्रभावपूर्ण बनाएं । भावात्मक स्थिति में जब मन कतरा-कतरा करके सोचता है तब संवाद भी बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं और व्याख्यात्मक स्थल पर संवादों की स्थिति भी विस्तृत हो जाती है । उचित स्थल पर विराम, अर्द्ध विराम और अन्य प्रयोगों का ध्यान रखना आवश्यक है । जो लेखक अभिनय की प्रक्रिया को भूल कर चलेगा, उसके संवादों में ऐसे दोष

१डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', दिल्ली, १९७०, पृ०
२ ,, ,, ,, ,, पृ० २५७

आ जायेंगे, जो समस्त नाटक को अस्वाभाविक कर डालेंगे । वाचिक अभिनय नाटक का सर्वोपरि अभिनयांग माना जाता है । "मनुष्य के मनोभावों की अभिव्यक्ति सात्विकादि अन्य अभिनयों द्वारा भी होती है, पर उन्हें पूर्णता और सार्थकता प्राप्त होती है, वाचिक अभिनय द्वारा ही ।"[1] वाणी के उतार-चढ़ाव, घोष-अघोष, प्रवाह और स्थैर्य आदि से मानवीय इच्छाओं, मनोवेगों और व्यवहारों की अभिव्यक्ति होती है । अत: संवाद नाट्य के वास्तविक अभिनय का आधार है । नाट्य-सफलता के लिए संवादों में अभिनेयता का औचित्य निहित होना ही चाहिए । पहले हिन्दी नाटकों के प्रारम्भ में मनोवेगों और भावुकस्थलों पर पद्य संवादों का प्रयोग होता था । जैसे राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' नाटक में अर्जुन का यह कारुणिक संवाद दृष्टव्य है --

'बाउलों की तरह मुझको, न पुकारा करना, नाम ले ले के मेरा, चीख न मारा करना
बाट मेरी न रसोई में, निहारा करना, और मेरे लिए रथ को, न संवारा करना ।।
सान्त्वना भाइयों को मेरे, सदा देना तुम, 'चार' ही पाण्डु के सुत हैं यह समझ लेना-तुम ।।'[2]

परन्तु बौद्धिक प्रावल्य के कारण आधुनिक युग में तर्कपूर्ण गद्य संवादों का प्रयोग होने लगा । तर्क के द्वारा ही विचारात्मक भावों को अनुभूति के स्तर पर व्यक्त किया जाने लगा । अत: नाटक में वाचिक अभिनय का रूप भी परिवर्तित हुआ है ।

कथोपकथन का महत्व अभिनय अथवा कथा-विस्तार मात्र के लिए ही नहीं, वरन् चरित्र-विकास के आधार रूप में भी है । नाटक में लेखक पर्दे के पीछे रहता है । अत: चरित्रों की व्याख्या घटनाओं और संवादों के माध्यम से ही की जा सकती है । किसी चरित्र का कथन उसकी अपनी सबसे स्पष्ट और उपयुक्त व्याख्या होती है । मनुष्य के विचार, उद्देश्य, भाव और स्वभाव के प्रति रूप ही

---

१ सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : 'भरत और भारतीय नाट्य-कला', दिल्ली, १९७०, पृ० २६५
२ राधेश्याम [illegible] : 'वीर अभिमन्यु', बरेली (१९५०), पृ० १७७

उसके संवाद होते हैं । कोई महात्मा किसी संसारी की तरह और कोई संसारी किसी महात्मा को तरह नहीं बोल सकता । इसलिए चरित्रों के स्पष्टीकरण का मूल तत्व संवाद ही है । इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर लेखक का यह कर्तव्य हो जाता है कि संवादों का गठन बड़ी सावधानी से करे, क्योंकि चरित्रों की व्याख्या का नाटक में अलग से कोई अवसर नहीं होता, संवादों के माध्यम से ही चरित्रों की स्थिति सामाजिक के सामने आती है । निष्कर्ष रूप में संवादों का चरित्र-चित्रण से गहरा सम्बन्ध है और चरित्र-चित्रण नाट्य का मुख्य ध्येय होता है । अत: नाटक में संवादों का संयोजन एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ है । साहित्य-कोश के अनुसार,--" कथोपकथन से ही विभिन्न पात्रों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध सन्तुलन पैदा होता है, तथा प्रत्येक के चरित्र-चित्रण में प[illegible] आती है"[1]।

सम्वाद के विषय में उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक विशेषताओं(गुणों) का होना आवश्यक है, जैसे लम्बे-लम्बे, विस्तृत व्याख्यात्मक, वर्णनात्मक और उपदेशात्मक संवाद नाटक के प्रवाह और प्रभाव दोनों की हत्या कर देते हैं । किसी-किसी लेखक को खुलकर [illegible] अथवा उपदेशात्मक शैली में बात कहने की आदत होती है । परन्तु प्रेक्षागृह में बैठा सामाजिक बहुत देर तक किसी एक ही चरित्र की वाणी पर केन्द्रित नहीं रह सकता । बंगाल के नाटकों में प्राय: लम्बे-लम्बे संवाद पाए जाते हैं । प्रसाद के [illegible] में भी कहीं-कहीं संवाद बहुत लम्बे, रूखे और उबा देने वाले हो गये हैं जो समस्त नाटकीय व्यापार को रोक कर खड़ा कर देते हैं[2]। कथोपकथन में शास्त्र चर्चा, उपदेश या तथ्य निरूपण नहीं होना चाहिए । उपरोक्त कथन का यह आशय नहीं कि नाटक में यदि उपदेश, व्याख्या, या मीमांसा का नाटकीय संयोग आता है तो वहां भी हम लम्बे संवादों का प्रयोग न करें । लेकिन फिर

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, भाग१, वाराणसी, सं०२०२०, पृ०२०६

२ स्कन्द गुप्त : 'प्रसाद', पृ०६६,६७,१०४ ।

भी नाटक के प्रवाह की रक्षा के लिए जहां तक हो ऐसे संवादों से बचना ही है, क्योंकि डा० जगन्नाथ शर्मा के शब्दों में--"रूपक में संवादों के अधिक बढ़ हो जाने से व्यावहारिक यथार्थता का ह्रास हो जाता है"[1]। निष्कर्ष रूप में नाटक के संवाद स्कान्तिक विचार-धारा से बोझिल, शास्त्रीय विवादयुक्त वर्णनात्मकता से विस्तृत और उपदेशात्मक न होकर घटना को प्रसार देने वाले, तथ्य से सीधे जुड़े हुए, समीप भविष्य के सम्भावित रूप को संकेतित करने वाले और संगुम्फित होने चाहिए। संवाद से पूर्वा पर सम्बन्धित घटना का भावी रूप निर्दिष्ट होना चाहिए। राष्ट्रीय भावुकता के कारण हिन्दी का भारतेन्दु युग नाटकों के लम्बे- लम्बे सम्वादों को प्रस्तुत करता है। परन्तु आज के युग में संवाद सृजन में इस अवगुण का ध्यान रखा जाना आवश्यक माना जाता है।

संवाद के विषय में किसी सर्व निश्चित मान्यता स्वीकार न करते हुए हम यही कह सकते हैं कि नाटक का अपना उद्देश्य होता है, उसकी कलात्मकता, स्वाभाविकता, सौजन्यता ही नाटक केउद्देश्य के साधन हैं, और संवाद इन सभी की सत्ता का आधार हैं। अत: नाटक के "संवाद सुष्ठु, सजीव, स्वाभाविक, जिज्ञासापूर्ण, सार्थक, प्रसंगोचित, संक्षिप्त, पात्रों की आयु, पद, वर्ग व मन:स्थिति के अनुरूप कथा को विकसित करने वाले व पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने वाले हों"[2]।

नाटकों में संवादों का प्रयोग कई रूपों में किया जाता है, इन रूपों को प्रस्तुत करते हुए श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कहा है --

"प्रकाशं श्राव्यम-न्येषां स्वगतं स्वहृदि स्थितम्।

परावृत्य हस्यास्थान्यस्मै तदपवारितम् ॥" १२॥सूत्र १०

अर्थात् जो सब के सामने कहा जाय वह प्रकाश कथन (प्रकट) होता है और अपने हृदय की बात अकेले में, "मंच पर" जब कोई पात्र अपने आपसे ही कहता है या जो व्यक्तिगत चिन्तन वह सब के सामने मंच पर कहता है वह स्वगत कथन कहलाता है

---

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन", वाराणसी १९६६, पृ० १५५।

२ डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : "जयशंकर 'प्रसाद' : वस्तु और कला", दिल्ली, १९६८, पृ० १६५।

बहुतों से छिपाकर एक रहस्योद्घाटन करना अपवारितम् कहलाता है[1] --

त्रिपताकान्तरो न्यन जल्पो यत्तज्जनान्तिकम् ।

आकाशोक्ति: स्वयं-प्रश्न-प्रत्युत्तर मात्रकम् ।। सूत्र ११

अर्थात् जिसमें तीन उंगलियां उठी हुई हों इस प्रकार के हाथ को बीच में लगाकर एक व्यक्ति(पात्र) से छिपाकर अन्यों के साथ जो वार्तालाप है,वह 'जनान्तिक कथन' और बिना पात्र के आप ही प्रश्न तथा उत्तर का कथन 'आकाशोक्ति' कहलाता है[2] ।

संवाद : 'प्रसाद'

भारतेन्दु-कालीन नाट्य-परम्परा की अनेक असंगत मान्यताओं को छोड़कर 'प्रसाद' , नाट्य-साहित्य में जो युगान्तर लेकर आए उसका दर्शन हमें उनके संवादों में भी होता है । 'प्रसाद' ने संस्कृत काव्य-शास्त्र में वर्णित संवादों की संख्या में से प्रकाश कथन को ही अधिक महत्व दिया । यद्यपि उन्होंने स्वगत का भी बहुत अधिक प्रयोग किया है[3] । लेकिन उनसे घटना-प्रवाह में अवरोध उत्पन्न नहीं होता,बल्कि उनके 'स्वगत' में सम्भावित भविष्य का कार्य-व्यापार निहित रहता है । प्राय: देखा जाता है कि 'प्रसाद' का कोई महत्वपूर्ण पात्र एकाकी मंच पर आता है,उसका स्वगत भावी-योजना, गहन-चिन्तन,और महत्वपूर्ण सम्भावना की ओर संकेत करता है,तुरन्त किसी ऐसे पात्र का प्रवेश होता है,जिससे कार्य-व्यापा का प्रारम्भ हो जाता है । प्राचीन नाटकों के 'स्वगत कथन' से 'प्रसाद' के स्वगत कथन से भिन्न हैं,क्योंकि 'प्रसाद' पूर्व के नाटकों में 'स्वगतों' का प्रयोग एकान्तिक चिन्तन के लिए किया जाता था ।

---

१ डा० नगेन्द्र(सम्पा०) : 'हिन्दी नाट्य दर्पण' ,दिल्ली,१९६१,पृ०३२

२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ०३३

३ 'विशाख',पृ०११,७७,७०,५५,४४,४०,३३
'कामना',पृ०७,१८,२४,२८
'जनमेजय का नाग यज्ञ',पृ०१७,३२,५३
'एक घूंट',पृ०५७,५८,५९,७२,७५,८९
'स्कन्दगुप्त',पृ०९,२०,२२,३०,३६,७९,८४,१२७,१३१,१४७

'प्रसाद' के नाटकों में अपवारित, आकाश भाषितम् या जनान्तिक संवादों का प्रयोग नहीं किया गया। इसका कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु नवीन युग में संवादों के इन प्रकारों की अवहेलना ही दीख पड़ती है। 'प्रसाद' के नाटकों में गद्य-संवादों का ही प्रयोग किया गया है। कुछ प्रारम्भिक रचनाओं में गद्य, पद्य का मिश्रित रूप देखने को मिल जाता है[1], परन्तु जहां से 'प्रसाद' का नाट्य-साहित्य वास्तविक रूप में हमारे सामने आता है, वहां से उनके नाटकों में शुद्ध गद्य-संवादों का प्रयोग हुआ है।

संवादों से कथा को प्रवाह मिलना चाहिए। इस तथ्य का निरूपण हम पीछे कर आए हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में संवादों का संयोजन इस तथ्य को दृष्टि-पथ में रख कर किया गया है। उनके संवाद घटना के अजस्र स्रोत में प्रवाह भरने वाले हैं। यहां तक कि उनके स्वगत भी कथा के विकास का आधार बनकर आए हैं। जैसे स्कन्दगुप्त में प्रथम अंक के प्रथम दृश्य का स्वगत है--

स्कन्दगुप्त --(टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है।
...... (ठहरकर) ऊंह। जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।[2]

उपरोक्त स्वगत में निष्क्रिय वाणी का स्वर नहीं, वरन् एक सजीव सैनिक की नियति है, जो उसके कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ने का संकेत करती है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य के स्वगत, एक ओर उसके अन्तर्द्वन्द्व को प्रदर्शित करते हैं, दूसरी ओर उसके सम्भावित भविष्य का संकेत करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि यद्यपि 'प्रसाद' एक चिन्तन-प्रधान और दार्शनिक लेखक हैं, फिर भी उनके

---

१ द्रष्टव्य 'विशाख': (मन में)--ऐसा रूप और वेश ऐसा मलिन!
सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लाता है।
कुसुम-रज से ढंका भी हो कमल फिर भी सुहाता है।।(

द्रष्टव्य :'विशाख', पृ० १४ घन घनबीच..... हेम रेखा सी।

२ 'स्कन्दगुप्त', पृ० ६

कथोपकथन दर्शन या चिन्तन से बोझिल नहीं है । उनका चिन्तन जीवन-सत्य की गहराई को छूकर आगे बढ़ता है, गहराई में डूबकर अलक्षित नहीं होता । कहीं-कहीं अलबत्ता 'प्रसाद' का दर्शन कुछ अपच हो गया है । जैसे 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी का स्वगत —

ध्रुवस्वामिनी (सामने कर्ते-बन पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता..... गूंगे और बहरे ... । (चिढ़ती...)[1]

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ही द्वितीय अंक के प्रारम्भ में कोमा का स्वगत —

कोमा : (धीरे धीरे पाँवों को देखती हुई प्रवेश करके) इन्हें.... अच्छा समझती है ?[2]

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के अनेक बड़े-बड़े कथन[3] भले ही आवश्यक हों, लेकिन रंगमंच की दृष्टि से वे सफल नहीं कहे जा सकते ।

कहीं-कहीं भाव-प्रवणता एवं भावात्मक दबाव के कारण 'प्रसाद' के कथानक लम्बे अवश्य हो गये हैं । इस सत्य को उनके नाटकों के प्राय: समस्त स्वगतों में देखा जा सकता है, फिर भी इस बात को स्वीकार करना ही होगा कि 'प्रसाद' जब यह अनुभव करते हैं कि कथानक ठहर गया है, तुरन्त उसकी गति का ध्यान कर उसमें घटना की आवृत्ति का संकेत भर देते हैं । या ऐसी ही स्थिति पैदा कर देते हैं, जिससे वे संवाद विस्तृत होते हुए भी आवश्यक बन जाता है । इसका कारण यह है कि 'प्रसाद' एक चिन्तनशील भावुक कवि थे, अत: उनके पात्रों पर उनकी चिन्तनशीलता का आरोप स्वाभाविक ही है । लेकिन इस

---

१ 'ध्रुवस्वामिनी', पृ० १४

२ ,, पृ० ३७

३ चाणक्य : 'वह सामने कुसुमपुर है,.... मैं अविश्वास,...... सुवासिनी न- न- न,...... छिपकर देखूं-- ।

'चन्द्रगुप्त', पृ० १४१, १४२ ।

चिन्तन में केवल तत्व-चिन्तन न होकर तथ्य-चिन्तन का सम्मिश्रण भी रहता है, जिससे कथा में स्थैर्य नहीं आ पाता।[1] डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने 'प्रसाद' के संवादों पर आरोप लगाते हुए कहा है कि 'अतिभावुकता के कारण कहीं-कहीं संवाद अत्यन्त प्रवाही व अव्यवहारिक भी हो गए हैं।'[2] उदाहरण के लिए उन्होंने 'अजातशत्रु' नाटक के जो संवाद प्रस्तुत किए न तो उनमें प्रवाहहीनता है और न ही अव्यवहारिकता। क्योंकि भौतिक-प्रेम के ऐसे मिलन-काल में इस प्रकार की स्थिति स्वाभाविक ही है।[3] इसी सन्दर्भ में एक और बात कहद देनी आवश्यक है कि 'प्रसाद' के नाटकों में जहां भी संवाद लम्बे और भाषण की तरह शिथिल हो गए हैं, वहां भी इनमें काव्यात्मकता के कारण रुक्षता नहीं आ पाई है। जैसे 'स्कन्दगुप्त' और 'जनमेजय का नाग यज्ञ' के संवाद।[4]

'प्रसाद' का नाट्य साहित्य चरित्र-प्रधान है। उन्होंने सौ से भी अधिक विभिन्न प्रकार के चरित्रों की अवतारणा की है। इस चरित्र-अंकन में उनके संवाद-तत्व का क्या योगदान है? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो 'प्रसाद' के संवाद - तत्व की शक्ति को स्वीकार कर लेना पड़ता है। किसी पात्र के संस्कार, मर्यादा, चिन्तन, स्वभाव एवं उसकी आस्थाएं तथा विश्वास आदि के अनुरूप ही उसका व्यक्तित्व होता है। इसी धारणा को ध्यान में रखकर 'प्रसाद' के संवादों का सृजन हुआ है। यद्यपि उनकी भाषा सभी पात्रों के लिए एक-सी है, परन्तु इसका कारण यह है कि भाषा भावों को स्पष्ट करने का साधन मात्र है, जब कि संवाद भावों के माध्यम से चरित्र की आन्तरिक और बाह्य आकृति को प्रत्यक्ष करने वाला दर्पण है। यदि हम हिन्दी में एक ऐसा

---

१ द्रष्टव्य : '[illegible]मना', पृ० २८, ५२
'चन्द्रगुप्त', पृ० १४१, १८५, १९९

२ डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : 'जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला', दिल्ली, १९७०, पृ० १६६।

३ द्रष्टव्य — 'अजातशत्रु' (श्यामा और शैलेन्द्र), पृ० ६३

४ ,, — '[illegible]', पृ० १२३, १२५
,, — '[illegible]जय का नाग यज्ञ', पृ० ४, ६, ७९

नाटक लिख रहे हैं,जो अफ्रीका में घटी घटना पर आधारित है तो उसकी भाषा अफ्रीकन हो, यह उचित नहीं । हां वातावरण और घटनाक्रम अफ्रीका के भूगोल और इतिहास पर आधारित होने चाहिए , कहने का तात्पर्य यह कि जो विद्वान् प्रसाद के संवादों की भाषा पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने सभी पात्रों को एक भाषा दी है, इससे उनके संवाद एक ही पात्र के कथन जैसे लगते हैं । तो यह भ्रम-धारण है इसका निराकरण करते हुए डा० दशरथ ओझा ने इस आरोप का विरोध किया है[1] । भाषा की दृष्टि से 'प्रसाद' के लिए इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि यदि उन्होंने अपने सभी पात्रों से एक जैसी ही भाषा का प्रयोग कराया है तो नाट्य-वैचित्र्य पर आघात किया है । फिर अपने पात्रों के बीच अन्तराल कैसे व्यक्त करते हैं ? वास्तव में उनके नाटकों में यह अन्तराल भाषा के शब्दों के अन्तर पर न होकर वाक्यों के संघटन पर आधारित होता है । पात्रों के स्वभाव के अनुकूल उनके (वाक्य) कथन होंगे,जैसे 'चन्द्रगुप्त' में आपका और कल्याणी के वाक्यों को मिलाने से,[2] 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और विजया के वाक्यों को देखने से स्पष्ट अन्तराल दिखाई देता है[3] । इस रूप में 'प्रसाद' के संवाद अपनी गहनता और आन्तरिकता के माध्यम से चरित्र की आकृति को स्पष्ट करते हैं[4] । चरित्रांकन के सन्दर्भ में 'प्रसाद' के संवादों की दूसरी विशेषता यह है कि एक चरित्र का स्पष्टीकरण दूसरे चरित्र के द्वारा हो जाता है । जैसे निम्न संवादों से राज्यश्री का चरित्र स्पष्ट और प्रभावात्मक होता है--

सुरमा -- (दौड़ती हुई आई) मुझे भी महारानी ! स्त्री की मर्यादा ! करुणा की देवी ! राज्यश्री ! मुझे भी दण्ड !

राज्यश्री-- 'अरि तू मालिन !

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास',दिल्ली,१६७०, पृ०२५८ ।

२ द्रष्टव्य --'चन्द्रगुप्त',पृ०७७,१३६,१५८,१६०

३ ,, --'स्कन्दगुप्त',पृ०४५,४६

सुरमा — हाँ भगवति ! मेरा प्रायश्चित ?

राज्यश्री — महाब्राह्मण ! आज सबका प्रायश्चित चित्त शुद्धिपूर्वक काषाय लेने में है । आप इन दोनों को भी काषाय दीजिए ।[1]

इस प्रकार चारित्रिक सन्तुलन का जो मुख्य उत्तरदायित्व नाटक के संवादों पर है[2] । 'प्रसाद' के संवाद उसका पूरी जिम्मेदारी से निर्वाह करते हैं ।

'प्रसाद' के संवादों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर यह एक बहुत बड़ा सत्य सामने आता है कि 'प्रसाद' वास्तव में एक अनुभूतिपरक कवि थे । उन्होंने जीवन की सूक्ष्मता को अपनी काव्य-दृष्टि में उतार लिया था । उनकी दार्शनिकता ने उन्हें स्थूलता से परे कर दियाथा । अतः उनका दृष्टिकोण सूक्ष्मतावादी काव्यात्मक था । जीवन की बड़ी से बड़ी म[illegible] का वर्णन उन्होंने इसी दृष्टिकोण से किया है । इस तथ्य के आधार पर 'प्रसाद' के कथोपकथन भी काव्य और दर्शन प्रधान हो गए हैं[illegible] विद्वान् यही कहते हैं कि 'प्रसाद' के संवाद कहीं-कहीं लम्बे भावात्मक विचार-प्रधान शुष्क एवं कहीं भाषण मात्र हो गये हैं[3] । परन्तु वास्तविकता यह है कि 'प्रसाद' के अन्दर का कवि जब भाव-प्रवाह में बहता है तो रुकना भूल जाता है और उस समय समस्त नाटकीय सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है । 'प्रसाद' के संवादों में उनका यह कवित्व एक अनोखा चमत्कार पैदा कर देता है । अतः काव्य की मार्मिक उक्तियों की तरह उनके संवाद मन की अन्तरंगता को छू जाते हैं । जैसे —

---

१ 'राज्यश्री', पृ०७४

२ 'कथोपकथन के द्वारा ही विभिन्न पात्रों में एक-दूसरे के विरुद्ध सन्तुलन पैदा होता है तथा प्रत्येक के चरित्र-चित्रण में परिपूर्णता आती है ।'
— हिन्दी साहित्य कोश, भाग१, पृ०२०६

३ डा० रामेश्वरलाल [illegible] : 'जयशंकर 'प्रसाद' : वस्तु और कला'
१९६८, दिल्ली, पृ० १९९

आम्भीक — (क्रोध से) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर ,मेरे अन्न से पलकर मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन ?

चाणक्य — राजकुमार,ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है । यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है । ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी,स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है,प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है[1] ।"

इसी प्रकार के हृदयस्पर्शी संवादों से 'प्रसाद' का नाट्य-साहित्य भरा पड़ा है । इसका कारण उनका भावात्मक सन्तुलन ही है ।

एक ओर 'प्रसाद' की भावात्मक दार्शनिकता ने उनके संवादों को हृदयस्पर्शी बना दिया है,दूसरी ओर इससे बहुत बड़ा अनर्थ भी हुआ है । उनके नाटकों में प्रत्येक पात्र कवि और दार्शनिक लगता है । जहां भी अवसर मिलता है 'प्रसाद' का प्रत्येक पात्र ऐसी उक्तियां फाड़ देता है कि उस पात्र के स्तर के प्रतिकूल पड़ती है[2] । इसका प्रभाव यह होता है कि किसी भी पात्र की महानता का अलग से प्रतिमान स्थिर नहीं किया जा सकता । काव्यात्मिक कल्पना की यह उड़ान कभी-कभी सीमा उल्लंघन कर जाती है । जो एक प्रकार का दोष ही है । इसी काव्यात्मक दार्शनिकता के कारण कभी-कभी 'प्रसाद' सम्पूर्ण कथा-वस्तु से अलग हटकर काव्य-पाठ करने लगते हैं । अत: नाटक में क्रियाहीनता का दोष भी आ जाता है[3] ।

अभिनेयता नाटक का साधारण धर्म है और संवाद-योजना अभिनय की आधार शिला है । किसी नाटककार को तब तक सफल नहीं कहा जा

---

1 'चन्द्रगुप्त' ,पृ०४८

2 डा०रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : 'जयशंकर'प्रसाद' : वस्तु और कला ,दिल्ली, १९६८,पृ०१६६ ।

3 "जो संवाद एकान्तिक विचार-धारा से युक्त होंगे,........ उनमें क्रिया की ओर प्रवृत्त करने की शक्ति नहीं रह जायगी ।"
— डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय [illegible]१९६६,वाराणसी,पृ०२२८ ।

सकता, जब तक उसके अन्दर मानसिक व्यापारों और आन्तरिक भावों को मंच पर अवतरित करने की शक्ति संचित नहीं हो जाती। इसी शक्ति के ऊपर यह बात निर्भर करती है कि लेखक 'संवादों' का उचित संयोजन करे। वाक्य का गठन, शब्द-चयन, भाषा-प्रवाह, संवादों का छोटा-बड़ा होना, यह सब अभिनय-कला के ज्ञान से सम्बन्धित होते हैं। अतः नाटककार के लिए अभिनय का ज्ञान उतना ही आवश्यक है, जितना अन्य प्रकार का आवश्यक ज्ञान। 'प्रसाद' यद्यपि मंच से बहुत कम सम्बन्धित थे फिर भी उनके संवादों में अभिनेयता का गुण है। भावों, घटनाओं और परिस्थितियों के अनुकूल वाक्यों का निर्माण करके उन्होंने इस बात का प्रमाण दिया है कि उन्हें मंच की अच्छी जानकारी थी।[1] भावनात्मक स्थिति में उनके संवादों में छोटे-छोटे प्रवाह युक्त हैं तथा एकान्त चिन्तन के समय लम्बे-लम्बे तथा दर्शन प्रधान।[2] यद्यपि प्रसाद के विस्तृत नाट्य-साहित्य में सभी प्रकार के कथोपकथन मिलते हैं। अंक में अवेष दोष भी हैं, फिर भी भावों के अनुसार संवादों का गठन, सरस काव्यात्मक गूढ़ भाषा, संक्षिप्तता, प्रभावात्मकता, क्रियाशीलता आदि का उन्होंने सदैव ध्यान रखा है। अभिनेयता का आवश्यक तत्व भी उनके संवादों में है। इन सब के होते हुए भी कहीं-कहीं अति भावुकता, अति काल्पनिकता और अस्वाभाविकता के दोष आ गए हैं। डा० दशरथ ओझा के कथन के अनुसार 'ज्यों ही दार्शनिक मीमांसा के कारण कथा-प्रवाह में शिथिलता दृष्टिगत होने लगती है, 'प्रसाद' ऐसे वेग के साथ एक नया प्रसंग उपस्थित कर देते हैं कि दर्शक शैथिल्य की नीरसता से सद्यः निकल कर चमत्कृत हो उठता है।'[3]

---

१ 'यह क्या सच है समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ। प्रजा भी ऐसा करने का साहस कर सकती है। चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। 'राजकर मैं न दूंगा' यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई ?.... ।'
—'प्रसाद' : 'अजातशत्रु', पृ० ५६

२ द्रष्टव्य — 'राज्यश्री', पृ०४५

" —'कामना', पृ० ६८

३ डा०दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास', दिल्ली १९७०, पृ० २६१

यद्यपि आधुनिक युग में प्रकाश कथानकों के अतिरिक्त संवाद के समस्त रूप-शैलियों की अवहेलना देखने को मिलती है । फिर भी 'प्रसाद' के नाटकों में स्वगत का अत्यधिक प्रयोग हुआ है[1] । हम देखते हैं कि 'प्रसाद' के नाटकों कालगभग प्रत्येक वह दृश्य स्वगत से प्रारम्भ होता है, जिसमें कोई बड़ी घटना घटती है, अथवा घटने की सम्भावना उत्पन्न होती है । जब कोई बड़ा विश्वास टूटता है, या हृदय की कोई अभिलाषा मर जाती है तो उसके पश्चात् सम्बन्धित पात्र एकान्त में बैठकर सोचता है[2] । यह एकान्त चिन्तन 'प्रसाद' की दार्शनिक प्रवृत्ति का परिणाम है । 'प्रसाद' में स्वगत संसार कोकाव्य-धारा के सुन्दर स्रोत हैं, इनमें चरित्र का अन्तरमन पाठकों (सामाजिकों) के समक्ष स्पष्ट हो जाता है । विषम परिस्थितियों में संघर्ष को झेलता हुआ पात्र कभी-कभी एकान्त में किस ढंग से अपने से जुड़ता है इसको बड़े सुन्दर ढंग से 'प्रसाद' ने अपने स्वगतों में व्यक्त किया है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' ने जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य में एक सर्वथा नवीन नाट्य शैली का शुभारम्भ किया, वहाँ संवादों के क्षेत्र में भी एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया । डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल के शब्दों में, " सामान्य रूप से 'प्रसाद' के संवाद उपर्युक्त प्रायः सभी गुणों से युक्त हैं । सौष्ठव, लघुता, सरलता व प्रवाह की दृष्टि से 'प्रसाद' के संवाद अनेक स्थलों पर पर्याप्त सुन्दर हैं संवादों में जीवन्तता है[3] ।"

'प्रसाद' के संवादों पर सम्यक्रूप से विचार करते हुए डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने उनमें गुण और दोषों का उपर्युक्त संकेत किया है ।

---

1 'विशाख', पृ० ११, ७७, ७०, ५५, ५४, ४७, ३३
'[illegible]', पृ० ७, १८, २४, २८
2 'चन्द्रगुप्त', पृ० ५७, ५८, ५६, ७२, ७५, ८६
'स्कन्दगुप्त', पृ० ६, २०, २२, ३०, ३६, ७६
'जनमेजय का नाग यज्ञ', पृ० १७, ३२, ५३
3 डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : 'जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला', १६७०, दिल्ली, पृ० १६६ ।

उनके विचारानुसार 'प्रसाद' संवाद की दृष्टि से एक सफल कलाकार हैं[1]।

संवाद : राय

नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित प्रकाश, स्वगत, अपवारित, जनान्तिक और आकाशोक्ति संवादों में से राय ने अपने नाटकों में केवल प्रथम दो संवाद शैलियों का ही प्रयोग किया है। प्रकाश कथन का स्वाभाविक रूप से नाटकों में सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। साधारणत: नाटक का अधिकांश भाग इसी संवाद शैली में प्रस्तुत किया जाता है। राय के नाटकों में स्वगत संवादों का भी बहुत प्रयोग हुआ है। जब कोई पात्र अपने जीवन की घटित एवं सम्भावित घटनाओं के विषय में चिन्तन करता है तो प्राय: स्वगत का प्रयोग किया जाता है। इसीलिए इनसे पात्र की आन्तरिकता का परिचय मिलता है। द्विजेन्द्र से पूर्व स्वगत का प्रयोग नाटक की घटना और पात्र की भावी योजना को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता था। लेकिन विकास काल में नाटक चरित्र प्रधान हो गया तो यह समस्या उठी कि चरित्र के अन्तरमन का विश्लेषण कैसे किया जाय ? इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर लेखकों ने स्वगत का प्रयोग पात्र के मनोविश्लेषण के लिए प्रारम्भ कर दिया। राय के नाटकों में प्रयुक्त स्वगत इसी उद्देश्य के साधन हैं। मानव स्वभाव है कि वह एकान्त में अपनी नाप तौल करता है। अपने आप से बातें करता है। अपनी विगत और आगत घटनाओं के बारे में सोचता है। अत: उस एकान्तिक स्थिति में उसके मन में उठने वाले तर्कों, भावनाओं और विचारों को प्रत्यक्ष करने के लिए या फिर किसी अन्तर्विरोध की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अथवा संघर्ष की स्थिति को व्यक्त करने के लिए राय ने अपने नाटकों में जगह-जगह पर स्वगत संवादों का सफल प्रयोग

---

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' १९६६, वाराणसी, पृ०२५४ ।

किया है । किसी नवीन क्रिया के प्रारम्भ में जिस तरह की तार्किक स्थिति रहती है, उसको व्यक्त करने के लिए दृश्य के प्रारम्भ में राय का पात्र जब अकेला होता है तो स्वगत का प्रयोग किया है । उनके अनेक नाटकों में इस प्रकार के स्वगत संवादों को देखा जा सकता है[1]। जब राय का कोई पात्र भावनाओं के प्रवाह में बहने लगता है, जब अन्तर की संकल्पात्मक अनुभूति बाहर आने के लिए बेचैन हो जाती है तो उस समय अभिव्यक्ति में काव्यात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है । यह काव्यात्मकता सौन्दर्य-बोध मात्र नहीं, वरन् इसमें अच्छी-बुरी दोनों प्रकार की अनुभूतियों का गहरा दबाव रहता है । जैसे 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य के कथन से घृणास्पद प्रतीकों के प्रयोग से संसार के पिछलेपन की अभिव्यक्ति होती है,[2] और हेलन के स्वगत में काव्यात्मक कल्पना की । कभी-कभी कोई महत्वपूर्ण पात्र जब कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेता है तो नाटक में रंगमंचीयता भरने के लिए राय उस पात्र को विचारों में डूबा हुआ अकेला छोड़ देते हैं और तब वह कोई महान निर्णय लेता है । उस निर्णय को प्राय: स्वगत संवाद के माध्यम से व्यक्त किया गया है[3]।अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में पड़ा हुआ पात्र भी स्वगत संवादों का प्रयोग करता है । क्योंकि व्यक्ति का सबसे बड़ा अनिर्णीत युद्ध अपने-आपसे चलता है । और ऐसी दशा में पात्र का सात्विक रूप हमारे सामने व्यक्त करने के लिए लेखक ने स्वगत संवादों का सफल प्रयोग किया है । जैसे 'नूरजहां' नाटक में कुछ ऐसी परिस्थितियां आती जाती हैं कि नूरजहां को वही कुछ करना पड़ता है, जिसे करने के लिए उसकी आत्मा स्वीकृति नहीं देती । अत: इस अन्तर संघर्ष की स्थिति को स्वगतों

---

१ द्रष्टव्य : 'चन्द्रगुप्त' : द्विजेन्द्र नाटकावली २,पृ० २२१
'नूरजहां' : ,, पृ० २५६
२ द्रष्टव्य : 'चन्द्रगुप्त : द्विजेन्द्र नाटकावली २,पृ० २३६
३ ,, : 'राणाप्रताप सिंह' : ,, १,पृ० १२

के माध्यम से सफलपूर्वक व्यक्त किया गया है । कुछ ऐसी ही परिस्थितियां 'दुर्गादास' नाटक में गुलनार के साथ भी देखी जा सकती हैं । जो इस नाटक के स्वगत संवादों में निहित हैं । निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि द्विजेन्द्र के नाटकों में प्रयुक्त स्वगत अपने प्रयोगों में पूर्ण सफल है । उनसे चरित्र-विश्लेषण होता है । कथा-प्रवाह में तीव्रता आती है और कथानक में पूर्णता आती है । लेकिन साथ ही राय के स्वगत संवादों की अक्षमता पर भी विचार कर लेना भी वांछनीय होगा । राय मूलत: एक भावुक कवि हैं । अत: आन्तरिक भावनाओं के साथ उसका सहज सम्बन्ध है । जिसके कारण कभी-कभी उनके स्वगत संवादों में विस्तृति का दोष आ जाता है । अनुभूतिपरक वर्णन कभी-कभी अब ऊब पैदा करने लगते हैं और इससे कथानक का प्रवाह रुक जाता है । भावात्मक स्थलों पर उनके स्वगत इसलिए प्राय: लम्बे हो जाते हैं, कि जहां भी वे कुछ कहना चाहते हैं, वहां उनकी भावुकता स्थिर-सी हो जाती है और वे बहुत कुछ कहने के लिए विवश हो जाते हैं । जैसे 'राणा प्रताप' नाटक में मेहरुन्निसा के स्वगत । राय के नाटकों में बाह्य संघर्ष और क्रियाओं की तीव्रता की प्रतिक्रिया में चरित्रों का आन्तरिक तीव्रता स्वाभाविक रूप में आ गई है । जिसको व्यक्त करने के लिए उन्होंने लगभग प्रत्येक दृश्य में स्वगत संवादों का प्रयोग किया है । इसको अतिवाद ही कहा जायेगा । स्वगतों में कहीं-कहीं दार्शनिकता का बोझ आ गया है । प्रेक्षागृह की भीड़ में बैठा हुआ व्यक्ति दार्शनिकता को पकड़ न पाने के कारण रस-हीनता की दशा में पहुंच जाता है, अत: जहां राय के स्वगत दर्शन की भूमिका का निर्वाह करते हैं, वहां प्राय: असफल हो जाते हैं[१] ।

नाटक के समन्वित सन्तुलन में संवादों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है । कथा-प्रवाह और चारित्रिक प्रस्फुटन के साथ-साथ

---

१ द्रष्टव्य -- 'चन्द्रगुप्त' : 'द्विजेन्द्र ग्रन्थावली' २,पृ०२३६,२४२ ।
  द्रष्टव्य -- 'पाषाणी' : ,, १,पृ० २३

नाटकीयता की रक्षा का प्रश्न भी संवादों से जुड़ा हुआ है । राय के नाटकों में संवादों का प्रयोग उपरोक्त सभी धारणाओं को ध्यान में रखकर किया गया है ।

हम इस बात को जानते हैं कि लेखक नाटक की प्रस्तुति के पीछे रहता है,अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए संवाद ही उसके साधन हैं । अत: सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि जिस कथावस्तु को वह प्रस्तुत करना चाहता है,उसके समुचित प्रवाह के लिए ऐसे संवादों का संयोजन करें जिससे उस प्रवाह में कोई बाधा न पड़े । इस सन्दर्भ में राय के संवाद पूर्ण सफल हैं । राय यद्यपि भावुक हैं,पर कथोपकथन इस भावुकता से बंधकर स्थिर नहीं होते और न ही उनमें भावों की अनौचित्य विस्तृति आ पाती । कई स्थानों पर उनके भावों की बाढ़ देखी जा सकती है, पर उसमें तब भी समुचित कथा-प्रवाह रहता है । भावुकता के कारण राय के संवादों में अति दार्शनिकता का दोष आने की सम्भावना हो सकती थी,परन्तु ऐसा नहीं हो पाया है, क्योंकि रंगमंच की मर्यादा में बंधे लेखक ने कभी भी इस बात को नहीं भुलाया कि पर्दे के पीछे अन्य पात्र भी मंच पर आने को आतुर हैं । भावुकता के कारण उनके संवादों में चित्रात्मकता का ऐसा गुण आ गया है जो दर्शकों को नाटक के अन्दर नाटक दिखाता है,जब कोई पात्र अपनी परिस्थितियों में मंच-पर उलझा हुआ मंच पर कुछ कहता है तो प्रेक्षक के नेत्रों में कोई हृदय को छूने वाला दृश्य तैर जाता है[1] । इस भावुकता के कारण कथा में तीव्रता आती है,क्योंकि भावुक सन्दर्भों में पड़कर पात्र घोर -से-घोर संघर्ष के लिए अतार्किक रूप से तैयार हो जाते हैं। लाक्षणिकता-प्रधान भावुक-कथन का सीधा प्रभाव प्रेक्षक पर पड़ता है जिससे नाटक की रंगमंचीय सफलता को बल मिलता है ।

---

१ ताहजहां : द्विजेन्द्र रचनावली १,पृ०२४७
  मेवाड़ पतन: ,, १,पृ०३४१

कथा में बौद्धिक-स्थलों का अपना महत्व होता है । इस स्थल पर आकर पात्रों की बौद्धिक-महत्ता स्थापित या स्खलित होती दीख पड़ती है । कोई विकट परिस्थिति या भारी समस्या के आने पर, या अन्तर्द्वन्द्व संघर्ष के कारण समस्या खड़ी हो जाने पर, पात्रों के संवादों पर भी उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है । राय के नाटकों में अनेक ऐसे स्थल आए हैं, जब पात्र किसी एक रास्ते को साफ -साफ नहीं देख पाता । ऐसी स्थिति में पात्र के संवादों में तार्किकता का समावेश कराया गया है । ये संवाद चुस्त, स्पष्ट, प्रभावकारी एवं सापेक्षत: छोटे होते हैं । राय का अपना एक समाज-दर्शन है जिसमें नवीन विचारों एवं तर्कों का विशेष महत्व है । अत: जब भी कोई पात्र उस दर्शन की अवहेलना करता है तो एक विषम परिस्थिति उठ खड़ी होती है । ऐसे अवसर पर राय के नाटकों में छोटे-छोटे तर्क सम्मत संवादों का संयोजन किया गया है ।

विवरणात्मक स्थलों पर किसी तथ्य के विवरण के कारण संवादों का लम्बा हो जाना स्वाभाविक है । अत: राय ने अपने नाटकों को लम्बे संवादों से बचाने के लिए विवरणात्मकता से बचने का प्रयास व किया है । 'पाषाणी' तथा 'सीता' में आत्म-व्यवस्था करते समय जो संवाद बहुत लम्बे हो गए हैं, उन्हें लेखक ने आकर्षक बनाने का प्रयास किया है । जिससे वे संवाद कथा का अंग बन सकें । कभी-कभी यही आत्म-व्याख्या अनावश्यक लम्बी एवं नीरस बन गई है, जैसे 'सिंहल-विजय' में लीला के आत्म-कथन । इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में भी कुछ कथन ऊब पैदा कर देते हैं । चाणक्य का मां सम्बन्धी कथन अत्यधिक भावना-प्रधान एवं विश्लेषणात्मक हो गया है[1] । लेखक के नाटकों में एक अपरिमित प्रवाह है, इसलिए किसी घटना, चरित्र एवं स्थिति के वर्णन के लिए उसे रुकना नहीं पड़ा । जहां लेखक ठहरा है, वहां संवाद भाव-प्रवणता

---

१ 'चन्द्रगुप्त' : 'द्विजेन्द्र रचनावली', २, पृ० २४१, २४२ ।

के कारण आकर्षक एवं हृदयग्राही हो गए हैं ।

व्यंग्य कठिन जीवन की सरलतम व्याख्या है और जीवन की जटिलता का सरलीकरण करना बड़ी सावधानी का कार्य है । राय एक प्रतिभाशाली लेखक थे, उन्होंने हास्य रस के माध्यम से जीवन-दर्शन जैसी जटिल वस्तु को व्याख्यायित करने का प्रयास किया । चरित्र-चित्रण के सन्दर्भ में हम इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके हैं कि राय के नाटकों में हास्य रस के माध्यम से जीवन-सत्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । 'भीष्म' का माधव, 'शाहजहाँ' का दिलदार, अपने-आप में पूर्ण सुलझे हुए व्यक्तित्व हैं जो जीवन के सरल एवं छलहीन पथ की ओर इंगित करते हैं । इसी प्रकार अनेक पात्रों की अवतारणा राय के नाटकों में की गयी है, जैसे 'पाषाणी' में चिरंजीव 'मेवाड़पतन' में हुसैन, 'शाहजहाँ' में पियारा, 'सिंहल विजय' में उत्पलवर्ण आदि । लेखक ने उपरोक्त सभी पात्रों को अत्यन्त सहज एवं निर्लिप्त कलाकारों के रूप में प्रस्तुत करके यह बताने का प्रयास किया कि जीवन का वास्तविक अर्थ प्राप्ति में नहीं अनुभूति में है । उपरोक्त सभी पात्रों की संवाद शैली व्यंग्य-प्रधान है । हास्य और व्यंग्य की अवतारणा में लेखक यह नहीं भूला है कि कथा का प्रवाह नाटकीय सफलता के लिए अपना विशिष्ट महत्व रखता है ।

चित्रात्मकता राय के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है । उनके नाटकों का रंगमंच से सीधा सम्बन्ध था । अतः उन्होंने अपने नाटकों को रंगमंचीय सफलता के लिए इस प्रकार संयोजित किया, जिससे प्रेक्षक का उनके साथ अधिक-से-अधिक भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सके । लेखक के संवाद केवल कुछ शब्द मात्र नहीं उनमें बांधने वाले अनेक आकर्षक चित्र होते हैं[१] ।

----

१ गोविन्द -- मे यटा मोर हे । मारते दाओ । एक संगे साब डाबो-पुत्री, कान्या, आमि, मेवार-साब बाबो- पुत्रो गिये छे - [illegible], ओई मेवार-आमार साधेर मेवार- से ओ डुबेछे- डुबेछे- ओई डुबलो-अमिओ नाई ।

-- मेवाड़ पतन : 'द्विजेन्द्र रचनावली', १, पृ०३४।

शाहजहाँ -- सच बालेछो कौन्ना ! --पिता सौब, आर निजे ना खेर्जे पुत्रदेर खाई यौ ना, बुकैर पार रे से घुम पौड्यौ ना, तादेर हांसी टीदेखार जान्नो स्नैहेर हांसी टी हंसौ ना । तारा साब कृतघ्न तार आंकूर । तारा साब शिशु- श्यलान[1] ।

नन्द-- तुमि जानो । बालो शे कौथाय ? नाहि लै-नान्द के जानो ?

मूरा-- जानी, नान्द कै जानिना[2] ? आमि ताके काले कारे मानुश कौरे छि, बुके कारे घुम पाड़ि येछि ।

उपरोक्त संवादों में स्पष्टरूप से कुछ ऐसे चित्र देखे जा सकते हैं जिनसे सभी प्रेक्षकों का गहरा सम्बन्ध है । पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर भावुकता जगाकर लेखक प्रेक्षकों को बांध लेना चाहता है । इसी प्रकार पूर्व-घटित घटना से जौड़कर भी लेखक ने अपने संवादों को आकर्षक बनाने का प्रयास किया । 'मेवाड़-पतन' नाटक का एक उदाहरण द्रष्टव्य है--

महाबत खां -- "... शुद्ध मा ने कारो, जे तुमि मानुश,आमि मानुश,तुमि भाग्नि-आमि माई । माने कौई शेई शैशवकाल,जाखान आधाय कोले कारे बेडा ते, आमार गंड देश चुमाय चुमाय भौरे दिते, आमा के काले कोइ जौडिए थाकते । माने कारे-- आमरा शेई दुई मातृहि माई भानि[3]- दिदी !

शाश्वत सम्बन्धों औरमानवीय भावनाओं के भावुक चित्रों को प्रस्तुत करने वाले संवादों का प्रयोग करते राय ने प्रेक्षागृह में बैठे हुए लोगों के मन को बांधे रखने का सफल प्रयोग किया है । 'शाहजहाँ' में पिता-पुत्र के गहरे और भावुक सम्बन्ध की अवहेलना करने वाले औरंगजेब के प्रति भावुक

---

१ शाहजहां : द्विजेन्द्र रचनावली १,पृ० ३४६ २४७
२ मेवाड़-पतन : द्विजेन्द्र रचनावली १,पृ०३४६२२६
३ चन्द्रगुप्त : ,, २,पृ०२२४ ३४६

शाहजहाँ के संवाद बड़े आकर्षक हैं । इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में भामई भाई को लेकर , 'राणा प्रताप' में भी भाई भाई के सम्बन्ध को लेकर 'सीता' में पति-पत्नी और सिंहल-विजय' में माँ-पुत्र तथा पिता-पुत्रि के सम्बन्धों को आधार बनाकर जिन संवादों का संयोजन किया गया उन सब में इसीलिए आकर्षण है कि उनका सीधा सम्बन्ध जन-जीवन से है । इसीलिए राय के संवाद अत्यधिक प्रभावोत्पादक हो गए हैं । संवादों को प्रभावशाली बनाने के लिए लेखक ने इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि वे कोरे व उपदेश, वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक और प्रवाहहीन न हो जायें । पात्रों के प्रत्येक संवाद की रचना इस तरह की गई कि उसे कथा में से हटाया नहीं जा सकता । वह अपने स्थान पर पूरी तरह से संदर्भित और आवश्यक है । उसमें कोई -न-कोई ऐसी बात अवश्य रहती है, जिसके बिना नाटक का वह स्थल अधूरा ही रह जाता ।

चरित्रों को नाटकीय रूप में प्रस्तुत करना नाटककार का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है । इसके लिए संवाद बहुत कुछ जिम्मेदार होते हैं । क्योंकि संवाद ही नाटक का ऐसा तत्व है जो चरित्रों की आन्तरिक और बाह्य प्रकृति को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । द्विजेन्द्रलाल के नाटकों में संवाद और चरित्र के सम्बन्ध का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है हमें स्वीकार करना पड़ता है कि लेखक ने अपने नाटकों में संवादों का संयोजन करते समय चारित्रिक सन्दर्भ को सदैव ध्यान में रखा है । संवाद, चरित्र के स्वभावानुकूल होने चाहिए। इन सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर राय के संवादों का संयोजन हुआ है।

अन्य प्रकार की रचनाओं में लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रहने के कारण संवादों के अतिरिक्त अन्य दूसरे उपाय भी रहते हैं, जिनके द्वारा वह पात्रों के कुलशील और वस्तु स्थिति का परिचय दे सकता है और आवश्यकतानुसार उसकी [illegible] भी करता है । परन्तु नाटक में एकमात्र संवाद ही उसका साधन रहता है । अतः संवादों का उत्तरदायित्व होता है कि उनके द्वारा नाटकीय पात्रों के सम्पूर्ण स्पष्ट चित्र प्रेक्षकों के प्राप्त होने चाहिए । इसके लिए राय ने सदैव प्रयत्न किया है कि जैसे पात्र हों, उनके संवाद भी वैसे ही हों

चाहिए । कला का एक बहुत बड़ा गुण सहजता है ,जहां कलाकार इस गुण की रक्षा नहीं कर सकता वहां कला की हत्या हो जाती है । इसी विचार को दृष्टि में रखकर रायने अपने चरित्रों के अनुसार संवादों का संयोजन करके ~~उन्होंने~~ अपने नाटकों में कलात्मक सहजता की रक्षा की है । उनका राणा प्रताप सिंह चरित्र अपने कार्यों और वाणी में सदैव राणा प्रताप सिंह ही है, वह शक्तिसिंह की वाणी कभी नहीं बोलता । इसी प्रकार 'शाहजहां' की जहां आरा और पियारा में स्पष्ट अन्तर है उस अन्तर को उनके कथोपकथनों में सपष्ट देखा जा सकता है । मेवाड़-पतन के दो चरित्र अपनी अपनी विचारणाओं में जीते हैं,इसलिए उनके संवाद भी अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं । जोधपुर का मर्यादाहीन और चाटुकार राजा गज सिंह जिस ढंग से बोलता है, वैसे स्वाभिमानी देशभक्त वीर सैनिक गोविन्द सिंह नहीं बोलता है ।

गजसिंह -- .... शुने छेन खाँ साहेब,एबार मेवारेर नारीगन औस्त्र धारे छेन ।

महाबत० -- नारीगन आस्त्र धारे छेन ! --नारीगन !

गज० -- हां,देखा जाक, तारा जुध्य कि रकम का रेन । एबार ए जुध्येर माध्ये एकटू को माल भाव आशबेई । एबार जुध्य आमि जावो[1] ।

इसी के साथ गोविन्द का प्रत्येक कथन उसकी अन्तरात्मा का प्रतिबिम्ब है ।

गोविन्द सिंह -- वेशो जानि आजय ! काल्लानी ! जे आन्तरे देशेर शात्रु,आमार गृहे तार स्थान नाई । तो मार धर्म जौदि पाति आमारावो धर्म 'देश' । जावो (पश्चात् फिरिलेन)[2]

राय के नाटकों में वीर,कायर,विदूषक,प्रेमी,कामी, सभी तरह के अनेक चरित्रों का समावेश है । अतः उनमें अलगाव प्रदर्शित करने के लिए लेखक ने नाटक के भिन्न-भिन्न पात्रों को उनके संवादों की शैली एवं भाषा के माध्यम से अलग-अलग किया है । एक दार्शनिक का कथन गहन एवं सारगर्भित है तो एक सैनिक का स्वाभिमान एवं वीरतापूर्ण सीधा सादा । एक भावुक

---

१ मेवाड़-पतन : 'द्विजेन्द्र रचनावली', १,पृ०३४२

नारी का कथन कोमल एवं काव्यात्मक है, तो एक वीर नारी का ओजपूर्ण । पात्रों की भाषा में स्पष्ट अन्तर है । इस प्रकार की स्वाभाविकता के कारण राय के संवाद चारित्रिक संयोजन में पूर्ण सफल हैं ।

दो पात्रों के कथोपकथनों से भी किसी तीसरे पात्र की चारित्रिक व्याख्या की गई है[1]। इसप्रकार की व्याख्या अधिक प्रभावशाली होती है, क्योंकि किन्हीं दो व्यक्तियों के द्वारा तीसरे की महानता की स्थापना अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है ।

राय के नाटकों में संवाद की अपवारित, जनान्तिक और आकाशभाषित, शैलियों का प्रयोग नहीं मिलता । इसका कारण यह है कि उनके नाटकों की रचना संस्कृत नाट्य शास्त्र के आधार पर न होकर अंग्रेज़ी के आधुनिक रंगमंच के आधार पर हुई है । अत: उन्होंने अपनी रचनाओं को सहज स्वाभाविक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए संवादों का उपरोक्त शैलियों का प्रयोग नहीं किया । इस प्रकार के प्रयोगों का निषेध करते हुए उन्होंने अपने नाटक 'नूरजहां' की भूमिका में कहा है कि मंच पर उपस्थित अनेक पात्रों में से एक पात्र इस ढंग से बात कहे कि प्रेक्षागृह में बैठे लोग तो उसे सुन लें और मंच पर उपस्थित पात्र न सुन पाए । या कुछ पात्र सुन लें और कुछ न सुन पाए -- यह बड़ा अस्वाभाविक लगता है । इसीलिए लेखक ने नाटक की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए अपवारित और जनान्तिक संवादों का प्रयोग नहीं किया । आकाश भाषित संवादों की आवश्यकता एक विशेष प्रकार के रूपक भाण में पड़ती है[2]। राय के नाटक इस कोटि में नहीं आते अत: उनमें आकाश-भाषित संवादों के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता ।

---

१ द्रष्टव्य --'राणा प्रताप सिंह' : महाबत खां और सलीम द्विजेन्द्र नाटकावली पृ०(२८-२९) जोशी पृथ्वी १, पृ०९६, १०६ ।

२ 'भाण में एक अंक और एक ही पात्र होता है । ... रंगमंच पर ... कर नायक आकाश की ओर देखता हुआ सुनने का नाट्य करके ... पुरुष की उक्तियों को स्वयं ... राता है और उनका उत्तर देता है । इस प्रकार की उक्ति-प्रत्युक्ति को आकाश-भाषित कहते हैं ।'
डा० श्यामसुन्दर दास : : रूपक -रहस्य. प्रयाग. १९५७. पृ० १३२

निष्कर्ष

नाटक में संवादों का संयोजन लेखक के अन्तर्गत का परिणाम होता है । राय और 'प्रसाद' के संवादों का पर्यवेक्षण के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि ये दोनों कलाकार लगभग एक ही परिस्थितियों में पले एक ही विचार-धारा के कलाकार हैं । वही भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण, वही पात्रों में भावुकता, वही घटनाओं के पीछे किसी अज्ञात महाशक्ति का सबल निर्देश, वही राष्ट्रीयता के आग्रह दोनों की रचनाओं में हैं, अत: स्वाभाविक रूप से इनके संवादों का गठन भी समान ही है ।

राय और 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में क्रमश: मुगल-काल तथा प्राचीन काल हैं । परन्तु दोनों के नाटकों की रचना एक ही तरह की भाव-भूमि पर हुई है । अत: दोनों के संवादों का रूप भी मिलता-जुलता है । दार्शनिकता, भावुकता, और संवेगात्मकता के कारण दोनों कलाकारों के नाटकीय तत्वों का सृजन लगभग एक ही प्रकार का है ।

बहुत ध्यान से दोनों लेखकों के संवादों का विश्लेषण करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण, सम्प्रेषणीयता, भावान्विति के लिए जिस प्रकार के संवादों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार के संवाद दोनों के नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं । जहां तक दोनों में अन्तर का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में इतना ही कहना होगा कि राय रंगमंच की व्यावहारिकता के कारण अधिक स्थूल संवादों का सृजन करते हैं तो 'प्रसाद' रंगमंच के अभाव में कुछ दार्शनिक और सूक्ष्म हो गए हैं । 'प्रसाद' के नाटकों में हास्य रस का सर्वथा अभाव है, उनका प्रत्येक पात्र चिन्तनशील और गम्भीर है । अत: उनके संवाद भी गम्भीर हैं जब कि राय के गम्भीर पात्र भी कभी हास्य की भूमि पर उतर कर इसके संवादों का प्रयोग करते हैं । इस प्रकार का एकाध अन्तर ढूंढा जा सकता है, परन्तु उल्लेखनीय विशेषता यह है कि दोनों की संवाद-योजना में अभूतपूर्व साम्य है । जिसमें इस तरह के अन्तर का कोई अर्थ नहीं होता

'प्रसाद' से पूर्व राय के अनेक नाटकों के हिन्दी अनुवाद (हिन्दी प्रदेश में) प्रस्तुत हो चुके थे। अत: उनका बहुत कुछ प्रभाव 'प्रसाद' की नाटकीय अनुभूति पर पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि राय के नाटकों की संरचना की पृष्ठभूमि में एक नवीन युग था और 'प्रसाद' भी उस युग को अपने अन्तर में अनुभव कर रहे थे। अत: राय के संवादों का भी प्रभाव 'प्रसाद' पर देखा जा सकता है। विशेषकर स्वगतों की शैली का विशेष प्रभाव 'प्रसाद' पर देखा जा सकता है। आत्म-चिन्तन, आत्म-दर्शन, और आत्म-विश्लेषण की चेष्टा में निर्मित राय के स्वगत कथन 'प्रसाद' के नाटकों में भी लगभग इसी रूप में निर्मित हुए हैं।

-0-

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य 'प्रसाद' और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन है । उक्त दोनों ही आधुनिक युग के सशक्त एवं बहुचर्चित नाटककार हैं । अंग्रेजों का प्रशासन भारत के इतिहास की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है । इससे भारत का पारम्परिक जीवन एक सर्वथा नवीन संस्कृति के सम्पर्क में आया और यहां के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी सन्दर्भों में परिवर्तन आया है । इस शोधप्रबन्ध में सर्वप्रथम इस नवीन परिवर्तन का ही उल्लेख किया गया है । अंग्रेजों के प्रभाव और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत में किस प्रकार की नवीन चेतना उभरी, इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि भारतेन्दु-काल में ही साहित्य ने उन सभी परिवर्तनों को अभिव्यक्ति देना प्रारम्भ कर दिया था । वास्तव में भारतेन्दु काल हिन्दी साहित्य का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारत के नवजागरण का युग है । १८५७ की क्रान्ति भारत की नवचेतना की एक सशक्त अभिव्यक्ति थी, जो एक साथ सारे भारत के कण-कण से व्यक्त हुई ।

बंगाल में नवचेतना की लहर हिन्दी प्रदेश से पहले ही आ चुकी थी, क्योंकि अंग्रेजी प्रशासन सर्वप्रथम बंगाल में लागू हुआ, इसके पश्चात् हिन्दी प्रदेश में । लेकिन इसमें समय का बहुत अन्तराल नहीं है, क्योंकि प्लासी और बक्सर के युद्धों के पश्चात् अंग्रेज तुरन्त दिल्ली पहुंचे और वहां पर आसानी से विजय प्राप्त कर ली । बंगाल की चेतना को सर्वप्रथम और सर्वाधिक शक्तिशाली रूप में वहां के रंगमंच ने [illegible]व्यक्त की थी । राय के नाटकों का सम्बन्ध इसी बंगला रंगमंच से है । इसी प्रकार हिन्दी प्रदेश के नवजागरण को 'प्रसाद' ने [illegible] स्वर दिया । इन दोनों लेखकों के नाटकों का कालक्रमानुसार परिचय

किया गया है ।

नाटक-साहित्य एक महत्वपूर्ण विधा है । आधुनिक युग की जटिलता को अभिव्यक्ति देने का एकमात्र साहित्यिक माध्यम नाटक ही हो सकता है, इसप्रकार की मान्यता से भी नाटक की महत्ता स्पष्ट होती है । ऐसी विधा के जन्म के विषय में उत्सुकता नितान्त स्वाभाविक है । मैंने भी नाटक के उद्भव के प्रश्न को उठाया है । विश्व के अनेक विद्वानों ने अपने-अपने तर्कों के आधार पर धर्म,मानव-स्वभाव, लौकिक जीवन आदि से नाटकों के उद्भव को जोड़ने का प्रयास किया है,लेकिन सच तो यह है कि इस तथ्य को आज तक कोई भी निर्विवाद रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका । इसका कारण यह है कि नाट्य-साहित्य की जड़ें कहीं मानवीय स्वभाव में अदृश्य हैं उनकी खोज करना सम्भव नहीं है । भारतीय मत के अनुसार नाटक का जन्म ब्रह्मा के द्वारा हुआ है,इसका अर्थ भी यही है कि सृष्टि के साथ ही नाटक का जन्म हुआ ।

यद्यपि नाटक एक अत्यन्त प्राचीन विधा है, लेकिन आज जो नाटक का रूप हमारे सामने है,उसका जन्म आधुनिक काल में हुआ है । बंगाल के आधुनिक नाटक का जन्म अंग्रेजी रंगमंच के सम्पर्क से हुआ । इसी प्रकार हिन्दी-नाटकों का प्रणयन भी आधुनिक नवचेतना का ही परिणाम है । लोक-नाटक,पारसी रंगमंच, आदि का प्रभाव ग्रहण करके बंगला रंगमंच अपना एक स्वतन्त्र रूप निर्धारित कर सका है । हिन्दी रंगमंच जैसी कोई वस्तु नहीं है,फिर भी हिन्दीमें अनेक उत्तम नाटकों का सृजन हुआ है तथा हो रहा है ।

'प्रसाद' का नाटक -साहित्य हिन्दी की अमर निधि है । वास्तव में हिन्दी के पास रंगमंच का सदैव अभाव रहा है,जिससे विपुल नाटक-साहित्य की सृष्टि भी हिन्दी में नहीं हो सकी । 'प्रसाद' ने इस दिशा में जो कुछ किया,उससे इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति हुई है । हिन्दी के रंगमंच की परम्परा को रेखांकित करते समय यही कहा जा सकता है कि संस्कृत की

परम्परा को उसने किसी भी रूप में अंगीकार नहीं किया । हाँ लोक-नाटक और पारसी रंगमंच के प्रभाव को इसमें देखा जा सकता है । हिन्दी रंगमंच की परम्परा बहुत ही कमजोर एवं धुंधली है,इसके अनेक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है । इस परम्परा में प्रसाद का स्थान विवाद का विषय नहीं है,क्योंकि वे हिन्दी नाट्य-साहित्य के प्रकाश स्तम्भ हैं,जिससे एक नवीन दिशा काबोध होता है । उन्होंने पूर्व और पश्चिम की मान्यताओं का सन्तुलित समन्वय करके प्रभावशाली नाटकों की रचना की है ।

गिरीश घोष तक बंगला रंगमंच प्राचीन तत्वों के प्रभाव में रहा है । उनके नाटकों में यात्रा का प्रभाव स्पष्टरूप में देखा जा सकता है । विषय एवं शैली की दृष्टि से राय बंगला रंगमंच की परम्परा में एक युगान्तर लेकर आए । यद्यपि उन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की विशेषरूप से रचना की है, लेकिन उनमें सम-सामयिकता के समस्त सन्दर्भ स्पष्ट देखे जा सकते हैं । रंगमंच पर अवतरित होने वाले पात्रों को नितान्त स्वाभाविक रूप देकर राय ने एक नया कदम उठाया । नाटक एक ऐसी विधा है,जिसमें अनेक तत्वों का उचित सामंजस्य होना आवश्यक है,जिससे वह प्रभावशाली हो सके । उसकी घटनाओं और पात्रों में सामाजिक को विश्वास होना चाहिए, अन्यथा नाट्य-अवतारणा अर्थहीन हो जायगी । राय ने अपने नाटकों में इस बात का सदैव ध्यान रखा कि उनके नाटक रंगमंच पर एक प्रभावशाली प्रस्तुति बन सके । राय का महत्व बंगला रंगमंच की परम्परा में इसी बात से समझा जा सकता है कि उसके नाम से एक युग ही जाना जाता है । पात्र,वस्तु और रस की दृष्टि से राय ने अपने नाटकों का संयोजन पाश्चात्य रंगमंच के आधार पर किया है,जिससे उनके नाटकों को अधिक रंगमंचीय(वैज्ञानिक)कहा जा सकता है । इस क्षेत्र में 'प्रसाद' बहुत सफल नहीं हो सके,क्योंकि वे रंगमंच की किसी परम्परा से सम्बन्धित नहीं थे, जिससे उनके नाटक रंगमंच के अभाव से ग्रसित हैं ।

'प्रसाद' और राय के नाटकों में भारतीय संस्कृति, देश-प्रेम, राष्ट्र-उत्थान, समाज-सुधार, इतिहास आदि का समुचित समावेश हुआ है । अतः इन सभी तत्वों के सम्बन्ध में इन लेखकों के विचारों से अवगत हो जाना भी आवश्यक है । अतः इस तथ्य को दृष्टि-पथ में रखकर इनके संस्कृति, रा[illegible], इतिहास सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

'प्रसाद' को भारतीय संस्कृति से गहरा लगाव था । अतः उनके नाटकों का सृजन इस ढंग से हुआ कि वे भारतीय संस्कृति के सभी प्रमुख तत्वों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हैं । उनका 'चन्द्रगुप्त' नाटक इस बात को स्पष्ट करता है कि भारत में सभी कार्य, संघर्ष, युद्ध और निर्णय आध्यात्मिकता को केन्द्र में रख कर किए जाते हैं, इसीलिए 'चन्द्रगुप्त' नाटक के समस्त कार्य-व्यापार में दाण्ड्यायन का महात्याग निहित है । उसी से सब कुछ निर्देशित होकर चलता है । इस प्रकार की नाट्य-संयोजना का अर्थ स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के मूल में निहित अध्यात्म भावना को 'प्रसाद' ने सर्वोपरि माना है, इसलिए उनके नाटकों के सभी आध्यात्मिक पात्र अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं । 'प्रसाद' के नाटकों में मानवतावाद, प्रेम, सेवा, सहयोग, नारी-पूजा, समन्वयवाद आदि सांस्कृतिक तत्वों का यथास्थान प्रयोग हुआ है, जिसके द्वारा उन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि भारतीय संस्कृति किसी एक देश की सीमाओं में निबद्ध वैचारिक संहिता नहीं है, वरन् वह एक शाश्वत जीवन-प्रवाह है, जो अनेकयुगों के अनुभवों के आधार पर जीवन की सुन्दरतम परिभाषा प्रस्तुत करती है । अतः हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' ने जो भारतीय संस्कृति का स्वरूप अपने नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत किया, वह देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं से परे सम्पूर्ण सृष्टि को अपने दायरे में समेट लेता है ।

राय के विषय में यही बात कही जा सकती है । उन्होंने गहराई से यह अनुभव किया था कि भारतीय संस्कृति का अर्थ उनके युग में विकृत हो चुका है । अतः उन्हें इसकी नवीन [illegible] करने की आवश्यकता अनुभव

हुई । राय के नाटकों में यही व्याख्या गौतम,व्यास,मानसी और देवेन्द्र के रूप में हुई है । राय ने भारतीय समाज में व्याप्त संकुचित भावनाओं की ओर संकेत करके भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया,उसमें जाति,वर्ण,धर्म आदि कुछ भी नहीं है,उसमें प्यार,सेवा,सहयोग और व्यक्ति है ।

राष्ट्रीयता के विषय में 'प्रसाद' और राय के विचारों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राष्ट्र उनकी दृष्टि में एक ऐसी इकाई है,जिसका अन्य इकाइयों से कोई विरोध नहीं । इसलिए 'प्रसाद' और राय ने अपने नाटकों में जिस राष्ट्रीयता की अवतारणा की है,उसमें किसी भी प्रकार का संकुचन नहीं । राष्ट्रीयता की आवश्यकता इसलिए नहीं कि अन्य राष्ट्रों को नष्ट किया जाय,वरन् इसलिए कि अन्य राष्ट्रों के शोषण से एक इकाई में रहने वाले व्यक्तियों का जीवन बच सके । इसलिए 'प्रसाद' का 'चाणक्य','चन्द्रगुप्त', 'हर्ष' तथा राय का 'राणाप्रताप','दुर्गादास' एक सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण का प्रयास करते हैं । 'प्रसाद' और राय की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि उसमें मानवतावाद का विपुल भाव निहित है वह किसी एक देश की सीमाओं में बंधी हुई संकुचित भावना नहीं।

ऐतिहासिक रचनाओं में इतिहास और कल्पना के समन्वय की समस्या पर विचार करते हुए हमने 'प्रसाद' और राय के सन्दर्भ को व्याख्यायित किया है । 'प्रसाद' और राय दोनों ने इतिहास के सत्य को स्वीकार किया है, दोनों ने इस बात को माना है कि किसी भी ऐतिहासिक नाटक की सफल रचना के लिए उसमें इतिहास के घटित सत्य की रक्षा आवश्यक होती है । लेकिन इसी के साथ यह भी स्वीकार किया है कि नाटक में इतिहास का प्रयोग केवल आधार रूप में ही होना चाहिए,जिससे वह कोरा इतिहास न बन जाय । कल्पना इतिहास के कोरे सत्य की खोज करने के लिए तथा नाटक को भावप्रवण बनाने के लिए की जानी चाहिए । जहाँ तक इतिहास और कल्पना

की सीमाओं का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि नाटक में इतिहास का प्रयोग इस सीमा तक सम्भव है जहाँ तक वह नाटक एक दस्तावेज न बन जाय तथा कल्पना का प्रयोग उस सीमा तक होना चाहिए कि ऐतिहासिक नाटक एक मज़ाक न बन जाय । इसी तथ्य के आधार पर 'प्रसाद' और राय के सम्बन्ध में निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना एक-दूसरे के विरोधी तत्व न होकर पूरक हैं । पात्रों और घटनाओं में कल्पना वहीं की गयी हैं, जहाँ इतिहास मौन है या विवादास्पद है अथवा कलात्मक सौन्दर्य के लिए उसकी आवश्यकता पड़ी है ।

-0-

सहायक ग्रन्थ-सूची

राय की मूल रचनाएं (नाटक)

१ द्विजेन्द्रलाल द्विजेन्द्र रचनावली खण्ड-१ } साहित्य संसद, कलकत्ता-६
२ ,, ,, खण्ड-२ }

'प्रसाद' की मूल रचनाएं (नाटक)

रचनाएं	प्रकाशन स्थान एवं समय		
१- 'राज्यश्री'	भारती भण्डार,	लीडरप्रेस, इलाहाबाद,	२०२४ संवत्
२- 'विशाख'	,,	,,	२०२२ ,,
३- 'अजातशत्रु'	,,	,,	२०२२ ,,
४- 'कामना'	,,	,,	२०१६ ,,
५- 'जनमेजय का नाग यज्ञ'	,,	,,	२०१७ ,,
६- 'स्कन्दगुप्त'	,,	,,	२०२४ ,,
७- 'एक घूंट'	,,	,,	२०२४ ,,
८- 'चन्द्रगुप्त'	,,	,,	२०१६ ,,
९- 'ध्रुवस्वामिनी'	,,	,,	२०२४ ,,
१०- 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'	,,	,,	२०२६ ,,

विविध-ग्रन्थ

१- डी०पी० गुप्त	'हमारे युग का इतिहास'	गयाप्रसाद एण्ड संस आगरा, १९५८
२- डा० सोमनाथ गुप्त	हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	हिन्दी भवन, जालंधर, १९५१

३- गुलाबराय	हिन्दी नाट्य विमर्श	मेहरचन्द,लछ्मणदास,लाहौर सं० १९९७ ।
४- डा० विश्वनाथ मिश्र	'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव'	लोकभारती,इला १९६६
५- रामगोपाल सिंह चौहान	'हिन्दी नाट्य-सिद्धांत और समीक्षा'	प्रभात प्रका० दिल्ली, १९५६
६- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१७५७-१८५७)	हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद वि०वि० १९५२
७- सद्गुरुशरण अवस्थी	'हिन्दी-गद्य-गाथा'	सरस्वती पब्लिकेशन हाउस इलाहाबाद, १९३५ ।
८- डा० श्यामसुन्दरदास	'हिन्दी साहित्य'	इंडियन प्रेस,इलाहाबाद १९४९ ।
९- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	'हिन्दी साहित्य की भूमिका'	ग्रन्थ रत्नाकर,बम्बई, १९४८
१०-डा० दशरथ ओझा	'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास'	राजपाल एण्ड संस दिल्ली, १९७० .
११- नन्ददुलारे वाजपेयी	'जयशंकरप्रसाद'	भारती भण्डार, इलाहाबाद,सं० १९९९
१२- रामेश्वरलाल खंडेलवाल	'जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला'	नै०प०हाउस,दिल्ली १९६८
१३- डा० श्यामसुन्दरदास	'रूपक-रहस्य'	इण्डियन प्रेस,इलाहाबाद सं० २०२४
१४- रामधारीसिंह 'दिनकर'	'संस्कृति के चार अध्याय'	राजपाल एंड संस,दिल्ली १९५६
१५- मन्मथनाथ गुप्त	'राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास'	शिवलाल अग्रवाल एंड कं० आगरा ।

१६- ब्रैंडर मैथ्यूज	'नाटक साहित्य का अध्ययन' (अनु०इन्दुजा अवस्थी)	आत्माराम एंड संस दिल्ली
१७- भरत मुनि	'नाट्यशास्त्र' निर्ण	निर्णय सागर प्रेस,लखनऊ १६५६
१८- शान्तिप्रिय द्विवेदी	'युग और साहित्य'	इंडियन प्रेस प्रा०लि०,इलाहाबाद १६५०ई०
१६- डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	'आधुनिक हिन्दी साहित्य'	हिन्दी परिषद् ,इलाहाबाद विश्वविद्यालय,१६५४
२०- ,,	'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका'	,, ,, १६५२
२१- डा० नगेन्द्र	'आधुनिक हिन्दी नाटक'	साहित्यरत्न भण्डार,आगरा, १६६४ ।
२२- अवधविहारी पाण्डेय	'उत्तरमध्यकालीन भारत'	सैण्ट्रल बुक डिपो,इलाहाबाद १६६५ ।
२३- गोविन्द चातक	'प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प'	आत्माराम एण्ड संस,दिल्ली १६७०
२४- डा० जगदीशचन्द्र जोशी	'प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन'	,, ,, १६७०
२५- राजनारायण गुप्त	'पाश्चात्य राज दर्शन का इतिहास'	'किताब महल',इलाहाबाद १६५६ई०
२६- परमेश्वरीलाल गुप्त	'प्रसाद' के नाटक'	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी,१६५६ ।
२७- [illegible]नन्द जैन	'प्रसाद का नाट्य-चिन्तन'	नगेन्द्र साहित्य कुटीर , इन्दौर,१६४१ ।
२८- डा०जगन्नाथप्रसाद शर्मा	'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय	सरस्वती मंदिर,वाराणसी,१६६

२९-लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	'२०वीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य: नए सन्दर्भ'	साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९६-
३०- पी०डी० राबर्ट्स	ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास	एस०चन्द एण्ड कं० दिल्ली, १९५५।
३१- डा०सुकुमारसेन	'बैंगला साहित्येरकथा (अनु०-भोलानाथ शर्मा')	हिन्दी साहित्य सम्मेल प्रयाग, १९६५
३२- डा० सत्येन्द्र	'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'	उ०प्र० १९६१
३३- सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	'भरत और भारतीय नाट्य कला'	राजकमल प्र०, दिल्ली, १९
३४- डा०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	'मुगलकालीन भारत' (१५२६-१८०३)	शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं०, आगरा, १९६८
३५- डा०भोलाशंकर व्यास	'दशरूपक'	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६७
३६- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	ना०प्र०सभा, काशी, सं० २०१८।
३७-डा०बच्चन सिंह	'हिन्दी नाटक'	लोकभारती, इलाहाबाद १९६७।
३८- श्रीपति शर्मा	'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव'	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। १९६१
३९- लक्ष्मीनारायण लाल	'रंगमंच और नाटक की भूमिका'	नेशनल पब्लि० हा० दिल्ली, १९६५।
४०- सर यदुनाथ सरकार	'मुगल साम्राज्य का पतन' भाग४	शिवलाल अग्रवाल एण्ड, आगरा, १९६४
४१- नन्द दुलारे वाजपेयी	'नया साहित्य:नए प्रश्न'	[illegible], बनारस, १९५५
४२- डा०नगेन्द्र (सम्पा०)	'हिन्दी अभिनव भारती'	हिन्दी विभाग, दिल्ली वि०वि०, दिल्ली, १९६०
४३- ,, ,,	'हिन्दी नाट्य दर्पण'	

४४- नन्द दुलारे वाजपेयी — 'आधुनिक साहित्य' — भारती भण्डार,इलाहाबाद प्रथम संस्करण ।

४५- वाचस्पति गैरोला — 'भारतीय नाट्य-परम्परा और अभिनय दर्पण' — संवर्तिका प्रकाशन,इलाहाबाद १९६७ ।

४६- गणेश त्र्यम्बकदेश पाण्डेय — भारतीय साहित्य शास्त्र — पॉपुलर बुक डिपो,बम्बई,१९६०

४७-डा० नगेन्द्र — 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' — भारती भण्डार ,प्रयाग,१९६६

४८- डा०रामअवध द्विवेदी — साहित्य रूप — ,, ,, ,,

४९- डा० वीरेन्द्र कुमार — 'भारतेन्दु का नाट्य साहित्य' — रामनारायण लाल प्रकाशन, प्रयाग,१९५५ ।

५०- कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह — 'हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा' — भारतीय ग्रन्थ भण्डार,दिल्ली, १९६४ ।

५१- श्रीकृष्णलाल — आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास । — हिन्दी परिषद्,प्रयाग वि०वि० १९४२ ।

कोश

सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी साहित्य कोश — ज्ञानमण्डल लि०वाराणसी, सं० २०२० ।

हिन्दी विश्वकोश — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

पत्र-पत्रिकाएं

१- धर्मयुग
२- हिन्दुस्तान
३- दिनमान
४- माध्यम
५- [illegible]
६- कल्पना
७- क, ख , ग

Author	Title	Publisher
A. Nicall	World drama	George G. Harrap & Co., Ltd. London 1949
"	Theory of drama	" 1951
Arbindo Ghosh	The renaissance in India	Calcutta 1946
A.C. Bradly	Shakespearian tragedy	Macmillan & Co., Ltd., London 1957
Vincent A. Smith	Early history of India	Oxford University Press - 1957
R. Palme Dutt	India today	Bombay People's Publishing House 1947
B.G. Gokhale	The making of Indian nation	Asia Publishing House, Bombay 1960
Dr. Tara Chand	History of freedom movement in India, Vol. I & II	Govt. Publication 1961
Barret H. Clark	European theories of drama	Crown Publishers, N.Y. 1947
Banarsi Prasad Saksena	History of Shah Jahan of Delhi	Central Book Depot. Allahabad 1958
Dr. Iswari Prasad	History of Medieval India	The Indian Press, Ltd., Alld. 1952
G. Anderson	British administration in India	Macmillan & Co., Ltd., London 1920
Eric Bentley.	What is theatre	Beacon Press Boston 1956
Dr. Edward C. Sachan	Alberuni's India	S. Chand & Co., Delhi 1964
Gohn Grassner	The form and idea in modern drama	The Drydon Press, N.Y. 1956
H.W. Wells	The classic drama of India	Asia Publishing House 1963
Jadu Nath Sarkar	Anecdotes of Aurangzib	Calcutta 1925
J.L. Slyan	The dramatic experience	Cambridge University Press, 1965
J.S. Nagi	Ground work of Ancient Indian History	Narayan Publishing House, Allahabad 1958

Maurice L. Ettinghausen	Harsa Vardhan	Paris earnest Leroux Rue Banaparte-28 1906
P. Saran	Islamic Polity	Student's Friends, Allahabad.
Sir P. Griffiths, C.I.E.	Nations of the modern world	London Earnest
M.M. Kunte, B.A.	The vicissitudes of Arayan civilisation in India	Oriental Printing Press, Bombay 1880
R.K. Mookerji	Chandra Gupta Maurya and his times	Moti Lal Banarsi Dass, Delhi 1966
S.R. Goel	A history of imperial Gupta's	Central Book Depot. Alld. 1967
R.C. Majumdar	Ancient India	Moti Lal Banarsi Dass, Delhi 1964
J. Allan	The Cambridge shorter history of India	University Press of Cambridge 1954
Majumdar, Raychanduri Dutta	An advanced history of India	Macmillan & Co., London 1950
R.C. Majumdar	The classical age	Bhartiya Bhavan, Bombay 1954
Majumdar & Altekar	Vakataka Gupta age	Moti Lal Banarsi Dass, Lahore 1946
R.N. Salitore	Life in the Gupta age	The Popular Book Depot., Bombay-7 1943